भारत की प्राचीन संस्कृति

डा० रामजी उपाध्याय, एम० ए०, डी० फ़िल० (प्रयाग)
सागर विश्वविद्यालय, सागर

प्रकाशक
किताब महल - इलाहाबाद

समर्पण

मानीय पं० रविशङ्कर शुक्ल !

आपके कर-कमलों में प्रतिष्ठित
भारतीय संस्कृति का
सौरभ दिग्दिगन्त में
व्याप्त हो ।

भूमिका

संस्कृतिकी दृष्टिसे भारतका अतीत इतना गौरवपूर्ण रहा है, कि उससे आज भी हमें प्रगतिशील होनेका प्रोत्साहन मिलता है। संस्कृतिके अभ्युत्थानके लिये देशकी स्वतन्त्रता आवश्यक है। परतन्त्रताके दिनोंमें भारतीय संस्कृति उपेक्षित रही है। भारत पुनः स्वतन्त्र हो गया है। प्राचीन भारतके स्वतन्त्र निवासियोंने, जो योजनायें सामाजिक संगठन और अभ्युदयके लिये बनाई थीं, और इस दिशामें जो अनुभव प्राप्त किये थे, उनका समुचित उपयोग, आधुनिक स्वतन्त्रताके अरुणोदयमें, राष्ट्र-निर्माण करते समय हो सकेगा।

प्राचीन कालमें भारतीय संस्कृतिका यश समस्त एशियामें ही नही, वरं योरप और अफ्रीकाके कई देशोंमें भी पहुँचा था। आध्यात्मिक और आधिभौतिक क्षेत्रमें भारत एशियाके सभी देशोंका नेता था। ईसवी शतीके सहस्रों वर्ष पहलेसे ही भारतका यूनान और मिश्र आदि देशोंसे राजनीतिक तथा व्यापारिक संबंध था, जिसके उल्लेख उन देशोंके साहित्यमें मिलते हैं। अपनी अवनतिके दिनोंमें भारतके समक्ष प्राचीन संस्कृतिका प्रकाश धुँधला-सा था। परतन्त्रताके आवरणमें भारतवासी प्राचीन संस्कृतिका स्वप्नकी भाँति विस्मरण कर बैठे थे। आज हमें विश्वास नहीं पड़ता कि प्राचीन भारतकी समता संसारका तत्कालीन कोई भी राष्ट्र नही कर सकता था, किन्तु विस्मृत सत्य तो यही है।

इस पुस्तकमें मैंने प्राचीन भारतकी संस्कृतिका सूक्ष्म परिचय देनेका प्रयास किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिन्दी भाषामें भारतीय संस्कृतिपर कुछ पुस्तकें लिखी गई हैं, किन्तु साथ ही यह भी सच है कि उनकी संख्या इस विषयपर अंगरेजीकी पुस्तकोंकी तुलनामें बहुत कम है। हिन्दी और अंगरेजीकी जो पुस्तकें इस विषयपर मिलती हैं, उनमें संस्कृतिका सर्वाङ्गीण चित्रण नहीं किया गया है। इस पुस्तकके द्वारा मैंने संस्कृतिके अधिकसे अधिक क्षेत्रोंका परिचय देनेकी चेष्टा की है।

प्रस्तुत पुस्तक सिन्धु-सभ्यता (३२५० ई० पू०—२७५० ई० पू०)से लेकर सातवीं शती ईसवीकी भारतीय संस्कृतिकी सतत धाराका क्रमबद्ध इतिहास है। संस्कृतिके इस महानदमें अगणित सहायक नदियाँ आकर मिली हैं,

इसमेंसे अनेक सोते निकले है। उन सबका पूर्ण परिचय पा लेना अभी तक संभव नहीं हो सका है, किन्तु जहांतक हो सका है मैंने संस्कृतिकी बहुमुखी प्रवृत्तियों-का निदर्शन किया है।

भारतीय संस्कृतिका विषय अत्यन्त विशाल है। अतीतके अन्धकारमें, अपने स्वल्पज्ञानके टिमटिमाते दीपमे जो कुछ मैं पा सका हूँ, वह पाठकोंके सामने है।

इस पुस्तकको लिखनेमें मैंने संस्कृत और प्राकृतके ग्रंथोंके अतिरिक्त संस्कृति-विषयक हिन्दी और अंगरेजीमें लिखे हुए जिन ग्रंथोंकी सहायता ली है, उनमेंसे प्रमुख ग्रंथोंका नाम सहायक ग्रंथोंकी सूचीमें दे रहा हूँ। उन ग्रंथोंके लेखक मेरे पथ-प्रदर्शक है। मैं हृदयसे उनका आभारी हूँ।

सागर,
२. ४. १६४८

रामजी उपाध्याय

विषय-सूची

विषय		पृष्ठ
१.	विषय-प्रवेश	१-१५
२.	संस्कार	१६-३०
३.	आश्रम	३१-५५
४.	वर्ण और जाति	५६-६८
५.	रहन-सहन	६९-८६
६.	उद्योग-धन्धे	८७-१०८
७.	मनोविनोद	१०९-१२५
८.	राजनीतिक जीवन	१२६-१५५
९.	दर्शन	१५६-१७२
१०.	धर्म	१७३-१८५
११.	शिल्प	१८६-२०९
१२.	विज्ञान	२१०-२२०
१३.	भाषा और साहित्य (१)	२२१-२४१
१४.	भाषा और साहित्य (२)	२४२-२७२
१५.	अन्य देशोंसे संबंध	२७३-२८१
१६.	उपसंहार	२८२-२८३

प्रथम अध्याय

विषय-प्रवेश

संस्कृतिकी परिभाषा

संस्कृतिका इतिहास मानवताकी प्रगतिका परिचायक है। मानव अपना विकास करनेके लिये संसारके अन्य जीवधारियोंसे अधिक प्रयत्नशील रहा है। मनुष्येतर प्राणियोंको प्रकृति जैसा रखना चाहती है, प्रायः वैसे ही वे रहते आये हैं। यही कारण है कि उनकी बोल-चाल और रहन-सहन आदि आजसे हजारों वर्ष पहिले जैसी थी, प्रायः उसी रूपमें आज भी मिलती है। इन दिशाओंमें उनका विकास नहीं हुआ है। संभव है, आदिम कालमें कुछ समय तक मनुष्य पशु-पक्षियोंकी भाँति ही रहा हो, किन्तु वह प्रकृति-प्रदत्त सुविधाओंसे सदाके लिये सन्तुष्ट न रहकर शीघ्र ही अधिकसे अधिक वस्तुओंको अपने लिये उपयोगी बनानेका प्रयत्न करने लगा। यही मानवताका प्रगतिशील विकास है। यह विकास जगत्के नित्य नूतन रूपमें प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है। प्रारंभमें मनुष्य पैदल चलता था, फिर घोड़े, हाथी, रथ, मोटर आदिकी सवारी करते-करते आज वायुयानसे यात्रा करने लगा है। जीवनके सभी क्षेत्रोंमें मनुष्य चिरकालसे ही अधिकतम सुविधाओं और सुखोंके लिये प्रयत्न करता आ रहा है। मनुष्यके विकासके मूलमें उसके मस्तिष्ककी वह असाधारण शक्ति है जो अन्य प्राणियोंको बहुत कम मिली है। इस शक्तिको एक शब्दमें हम बुद्धि कह सकते हैं। मनुष्य स्वभावतः बुद्धिमान् है।

मानवके विकास-पथमें बुद्धिका साथ उसकी सौन्दर्यकी अभिरुचिने दिया है। सत्यमें ही सौन्दर्यकी प्रतिष्ठा होती है। बुद्धिके द्वारा मनुष्य अपनी शारीरिक आवश्यकताओंको पूरा करके सुखी रह सकता है, किन्तु वह इतनेसे ही सन्तुष्ट न रहकर अपने हृदयको उल्लसित करनेके लिये अथवा आनन्दके लिये सौन्दर्यकी खोज करता आ रहा है। इस दिशामें उसने दर्शन, काव्य, कला और शिल्प आदिकी सृष्टि की है।

मानवने जो प्रगति की है उसके मूलमें बुद्धि और सौन्दर्यकी अभिरुचि है। इनका अवलम्ब लेकर वह संसारकी यथेष्ट रूप-रेखा बनाता आ रहा है। वह स्वभावतः किसी रचनाको पूर्ण मानकर सन्तोष नहीं कर लेता, बल्कि नित्य ही कलकी वस्तुओंको यथाशक्ति पूर्ण या सुन्दर बनानेका प्रयत्न करता है। सुन्दर बनाने, सुधारने, या पूर्ण बनानेका प्रयत्न मनुष्यकी बुद्धि और सौन्दर्य-भावनाके विकासका परिचय देता है। मानवका यही विकास संस्कृति है। संस्कृतिका मौलिक अर्थ सुधारना, सुन्दर या पूर्ण बनाना है।

भारतकी प्राचीन संस्कृति इस देशके प्राचीन निवासियोंकी कृतियोंमें निहित है। उनकी कृतियोंका अध्ययन करके हम कल्पना कर सकते हैं कि वे अपनी बुद्धि और सौन्दर्य-भावनाका विकास करनेमें कितने सफल थे।

संस्कृतिके विकासकी जो रूप-रेखा हमने ऊपर निश्चित की है उससे प्रतीत होता है कि विकास-पथमें प्रकृति मानवकी सहचरी है। वह मानवकी आवश्यकताओंकी सृष्टि करती है और स्वयं उनकी पूर्तिके साधन प्रस्तुत करती है। प्रकृति ही मानवको विभिन्न कार्य-क्षेत्रोंमें नियुक्त करती है। ऐसी परिस्थितिमें मानव प्रकृतिके अध्ययन करनेका अवसर पाता है। यहींसे दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओंका विकास आरंभ होता है। दर्शन और धर्मका व्यापक महत्त्व है। काव्य और कलाओंके क्षेत्रमें प्रकृतिके साथ-साथ दार्शनिक और धार्मिक मनोवृत्तियोंकी अभिव्यक्ति प्रधान रूपसे होती है। संस्कृतिकी धारा बहुत कुछ इस देशकी प्राकृतिक योजना एवं दर्शन और धर्मके अनुकूल प्रवाहित हुई है। भारतीय जीवनके साथ प्रकृति, दर्शन और धर्मका जो सामंजस्य है उसका संक्षिप्त निरूपण नीचे किया गया है।

प्राकृतिक योजना

भारतवर्षको प्रकृतिने विविध रंगोंमें रंगा है। हिमालयकी गगनचुम्बी श्रृंखलायें और उसका पार्श्ववर्ती रम्य काश्मीर, पाँच नदियोंसे अभिषिक्त पंजाब, राजपुतानेकी शुष्क मरुभूमि, मध्य भारतकी पर्वत-मालायें और वन, दक्षिणके पठार, तंजोरके मनोहर उपवन और रावणका श्रीलंक—इन सबकी अपनी-अपनी निराली विभूतियाँ हैं। इस विविधताके बीच भारतकी एकताकी योजना भी प्रकृतिने स्वयं प्रस्तुत की है। हिम-प्रदेशसे निकलकर गंगा संयुक्त प्रान्त, विहार और बंगालको संयुक्त करती है। सिंधुनदी पंजाब और सिंध दोनोंको

आप्लावित करती है। हिमालय भारतके सभी उत्तरी प्रदेशोंका शिरस्त्राण है। विन्ध्याचल उत्तर और दक्षिण भारतको सम रूपसे सौन्दर्य प्रदान करता है। प्राकृतिक एकताकी भाँति सारे भारतकी सांस्कृतिक एकता चिरकालसे चली आती है; सारा भारत एक संस्कृतिके सूत्रमें गुँथा रहा है। राम, कृष्ण और गौतमकी शिक्षाओंसे सारा भारत आलोकित हुआ है। शंकराचार्यने भारतीय संस्कृतिकी पताका फहरानेके लिये समूचे भारतको अपना क्षेत्र चुना। इस देशके किसी कोनेमें यदि कभी कोई सितारा चमका तो वह इतना ऊँचा उठा कि उससे सारा भारत प्रकाशित होकर रहा। कोई भी कला, धर्म, दर्शन या विज्ञान एकदेशीय न रहकर सारे भारतका होकर रहा। यह सांस्कृतिक एकता भारतीय प्रकृतिके सर्वथा अनुकूल ही है।

जलवायु

भारतवर्षके प्रायः सभी प्रान्तोंकी जलवायु सुहावनी है। इस देशके अधिकांश भागमें न तो शीतकी अधिकता है और न गर्मीकी। पानी सर्वत्र पर्याप्त मात्रामें बरसता है। ऐसी जलवायुमें निवासियोंकी रहन-सहनका सरल होना स्वाभाविक है। साधारण जीवनकी आवश्यकतायें स्वल्प है और इनकी पूर्त्तिके लिये होड़ करनेकी आवश्यकता नही पड़ती। जलवायुके अनुरूप भारतीय चरित्रका गठन हुआ है। इस देशके लोग प्रायः सच्चे, साधु, क्षमाशील और विनयी होते आये हैं; इनके स्वभावमें माधुर्यकी प्रचुरता रही है। भारतवर्षमें कोई भी महापुरुष अपने व्यक्तिगत तेज, बल, चरित्र और विद्वत्तासे समाजका नेता बन सका है। ऐसे समाजमें राजनीतिज्ञोंकी आवश्यकता बहुत कम पड़ती है। जहां लोगोंको स्वयं अपने कर्तव्यका ज्ञान हो, वहां शासकोंकी क्या आवश्यकता? यही कारण है कि इस देशमें राजनीतिक विचारोंपर विशेष माथापच्ची नहीं हुई और न तो शासनतंत्र ही कभी पाश्चात्य शासनतंत्रकी भाँति जटिल रूप धारण कर सका। भारतमें शासनकी कठोरता और राजनीतिक कुटिल नीतिकी सदा उपेक्षा होती आई है।

जलवायुका प्रभाव इस देशके वेश-विन्यास और गृहनिर्माणकी कलापर भी पड़ा है। लोगोंके ढीलेढाले वस्त्र और चारों ओरसे खुले घर जलवायुके अनुकूल पड़ते हैं। लोगोंको बहुत कम वस्त्र धारण करनेकी आवश्यकता पड़ती है। जलवायुकी अच्छाईके ही कारण कुछ धार्मिक सम्प्रदायोंमें दिगम्बर रहनेकी

अथवा वल्कल धारण करनेकी व्यवस्था दी गई। इस देशमें रहनेके लिये बहुत सुरक्षित और दृढ़ घरकी भी आवश्यकता नहीं पड़ती है। बहुत प्राचीन कालसे लेकर आजतक पत्ते और फूसके झोपडे बनते आये हैं। यदि किसीने चाहा तो अपनी रात्रि खुले आकाशके नीचे ही बिता ली।

उपज

जलवायुकी भाँति उपजका प्रभाव भारतीय जीवन पर पड़ा है। जलवायु तो लोगोंको सरल जीवनके लिये अवसर प्रदान करती है, किन्तु उपज भोगविलासके सारे साधन अनायास ही प्रस्तुत कर देती है। ऐसी परिस्थितिमें एक ओर तो विना घर-द्वारका दिगम्बर जैन संन्यासी विश्वकी सारी विभूतियोंको छोड़कर प्रसन्न रह सकता है और दूसरी ओर अभ्रंकष प्रासादके भोगविलासमें लिप्त किसी सम्राट्का ऐश्वर्य दिखाई पड़ता है। जलवायु और उपजकी सुविधाओंके कारण जीवनकी विविध व्यवस्थायें प्रचलित हो सकी है।

उपजके वाहुल्यके कारण लोगोंका आर्थिक जीवन प्राचीन कालमें प्राय: सुखी रहा। खेतीसे विविध प्रकारके अन्न, मूल और फल, भूगर्भसे वहुमूल्य धातु और रत्न तथा समुद्रसे मोतियोंकी प्राप्ति होती आई है। इस प्रकार प्राकृतिक सुविधाओंके बीच लोगोंको अभीष्ट व्यवसाय करनेका अवसर मिला है। उत्पादनकी अधिकता होनेपर भारतवासियोंने जल और स्थल मार्गसे विदेशोके साथ व्यापारिक संबंध स्थापित किया।

समृद्धि

भारतवर्षको धनी वनानेमें प्रकृतिने पूरा सहयोग दिया है। हिमालय और समुद्रके बीचका विशाल भारत प्राय: सर्वत्र हरा-भरा है। तनिक भी श्रम करनेपर निवासियोंके लिये पर्याप्त मात्रामें भोजन और वस्त्रकी प्राप्ति हो जाती थी। भारत सुख और समृद्धिसे सदैव परिपूर्ण रहा है। प्राचीन कालमें इस देशके कोने-कोनेमें शान्ति विराजती थी। यहांके घने वनों, नदियों, निर्झरों, जलाशयों और पर्वतशृंगोंके बीच प्राकृतिक सुषमा और शान्तिका साम्राज्य रहा है। प्रकृतिकी अध्यक्षतामें इसीके अनुरूप आध्यात्मिक और दार्शनिक ज्ञान प्रस्फुटित हुआ, कलाकारोंकी कलायें विकसित हुई और महापुरुषोंके उदार विचार और शिष्टाचारकी प्रगति हुई।

प्राकृतिक समृद्धिके बीच ब्रह्मचर्याश्रममें २५ वर्ष तक अध्ययन करनेकी छुट्टी मिल सकती थी। घरका बन्धन केवल गृहस्थाश्रमके २५ वर्षोंतक रहता था, उसके पहले और पीछे तीनों आश्रम—ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास प्रकृतिकी शरणमें आनन्द पूर्वक बिताये जा सकते थे और शान्ति पूर्वक अध्ययन अथवा आध्यात्मिक चिन्तन किया जा सकता था। प्राकृतिक समृद्धिके बीच भारतीय हृदय उदार हो सका है। यहां के निवासी सदासे दानशील रहे हैं क्योकि उनको धनके लिये बहुत परिश्रम नहीं करना पड़ता है। प्रकृति स्वयं उदार रही है और उसकी उदारतासे भारतीय जनता सदैव प्रभावित होती रही है। प्राचीन भारतमें केवल सीमित जन-संख्या उत्पादनके कार्यमें व्यस्त रहती थी। उसके श्रमसे इतनी उपज होती थी कि सारे समाजका सुख पूर्वक भरण-पोषण हो जाता था। ऐसी परिस्थितिमें आतिथ्यकी ऊँची भावना स्वाभाविक रूपमें जाग्रत् रही है। गृहस्थके घर जो कोई भी आ जाता उसका उचित सम्मान किया जाता था। विद्यार्थी और संन्यासी सारे समाजके अतिथि समझे जाते थे। सब लोगोंकी दृष्टिमें आतिथ्यकी महिमा बहुत ऊँची रही है, यहां तक कि वानप्रस्थ आश्रमके साधु भी दूसरोंका आतिथ्य करके अपनेको धन्य मानते थे। आतिथ्यकी भावना जाग्रत् करनेके लिये भारतीय प्रकृति स्वयं शिक्षिका रही है।

भारतवासियोंने सदासे उच्च संकल्पों और आदर्शोंको जीवन और विभिन्न कलाओंके विकासमें प्रमुख स्थान दिया है। लोगोंका ध्यान जीवनकी संकीर्णता और तुच्छ वस्तुओंकी ओर बहुत कम गया है। भारतीय विचारक प्रायः इसी निश्चयपर पहुँचे हैं कि मानव स्वभावतः महान् है और उसका जीवन महान् कर्म करनेके लिये है।

जीवनका उद्देश्य

बहुत प्राचीन कालसे इस देशके लोग दीर्घ जीवनकी कामना करते आये हैं। जीवन भर निरंतर कर्म करनेमें ही जीवनकी सफलता समझी गई है। ईश उपनिषद्में लिखा है कि मनुष्यको कर्म करते हुए ही सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करनी चाहिये। कर्म करनेके लिये शरीर साधन है और सारा विश्व कर्मका क्षेत्र है। भारतीय दृष्टिकोणसे मनुष्य अपने कर्मोंके द्वारा विश्वका उपभोग करता है। अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों और मनको साधन बना कर ज्ञान, कर्म और अनु-भूतिकी प्राप्ति करना ही विश्वका उपभोग है। ज्ञान, कर्म और अनुभूति इन्हीं

तीनोंके रूपमें मानव जीवनके सारे कर्म-व्यापारकी अभिव्यक्ति होती है। ज्ञानके द्वारा सत्य और सौन्दर्यकी अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य सत्य और सौन्दर्यके प्रकाशमें कर्म करते हुए अनुभव प्राप्त करना है, यही अनुभूति आनन्द है। जितना अधिक अनुभव प्राप्त किया जा सके, जीवन उतना ही अधिक सफल होता है। अनुभवकी मात्रा ज्ञान और कर्मकी मात्रापर निर्भर है। इसीलिये भारत सदासे ज्ञानका पिपासु रहा और निरलस होकर कर्ममार्गपर चलता रहा।

दर्शन

भारतीय दर्शन मनुष्यको अहंभाव और एकान्तताकी संकीर्णतासे ऊपर उठा देता है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें मनुष्य यह समझता है कि मैं अकेला और अवच्छिन्न नही हूँ, बल्कि मेरा संबंध परमात्मासे है और परमात्मा सबके लिये एक समान है। इस विचारसे मनुष्यको शक्ति मिली है। आत्मा और परमात्माके संबंधकी भाँति ब्रह्मकी सर्वमयताका भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव भारतीय जीवनपर दिखाई देता है। इसीके आधारपर सहिष्णुता, सद्व्यवहार और शिष्टाचारकी नींव पड़ी है, सबके प्रति प्रेम-भावनाका उदय हुआ है और एकताका दृढसूत्र स्थापित हुआ है।

भारतीय दर्शनके अनुसार मनुष्य-जीवनका अन्तिम लक्ष्य मुक्ति प्राप्त करना है। जब तक मुक्ति नहीं हो जाती, मनुष्य बारंबार जन्म लेता है और प्रत्येक जीवनमें प्रयत्न करते हुए मुक्तिकी ओर बढ़ता है। अतः भारतवासी केवल लौकिक अभ्युदयकी ओर प्रवृत्त न होकर ज्ञान और कर्मके द्वारा मुक्ति पानेके लिये सचेष्ट हुए हैं। इस प्रयत्नमें आत्माकी अमरताके सिद्धान्तसे मनुष्यका उत्साह बढ़ा है। वह वृद्धावस्था और मृत्युसे व्याकुल नहीं होता वरं समझता है कि जीवनका अन्त वास्तवमें नवजीवनका प्रारंभ है। इस दृष्टिसे देखनेपर भारतीय जीवनका सारा उपक्रम दृढ़ और ठोस प्रतीत होता है।

धर्म

भारतवासियोंने कल्पना-शक्तिके द्वारा विश्वकी प्रत्येक वस्तुसे संबंध स्थापित किया है और इस ब्रह्माण्डमें जो कुछ चराचर दिखाई पड़ता है, उसे अपने लिये उपयोगी समझा है। उन्हें प्रकृतिकी प्रायः सभी वस्तुयें उदार और कल्याणकर प्रतीत हुई है। उनकी उदारता और कल्याणमयी शक्तिसे प्रभावित होकर

भारतवासियोंने विविध प्रकारसे उनके प्रति कृतज्ञताके भाव प्रकट किये हैं, और प्रकृतिकी अनेकों शक्तियोंको मानवीकरणके सिद्धान्तके आधार पर देवता बना डाला है; उनको प्रसन्न करनेके लिये स्तुतियाँ की हैं; और उनकी सन्तुष्टिके लिये यज्ञ और हवनके विधान रचे हैं। वैदिक कालमें सूर्य, वरुण, विष्णु, रात्रि, उषा, चन्द्र, इन्द्र, रुद्र, मरुत, अग्नि, बृहस्पति, सोम, नदियाँ, पृथ्वी, समुद्र, गन्धर्व, अप्सरायें, वन, वृक्ष, पर्वत और दिव्य पशु आदिकी देवताओंके रूपमें प्रतिष्ठा हो चुकी थी।

पौराणिक कालमें देवताओंकी संख्या धीरे-धीरे बढ़ती गई। ये देवता जिन वस्तुओंके प्रतिनिधि-स्वरूप हैं उनके प्रति लोगोंकी श्रद्धा और आदरके भाव जाग्रत् हुए। ये ही भाव आगे चल कर भारतीय काव्य, साहित्य, चित्र, मूर्ति, वास्तु-निर्माण संगीत और नृत्यके क्षेत्र में प्रस्फुटित हुए। इन देवताओंकी विशद चरित-गाथासे भारतीय संस्कृति रँग सी गई।

देवताओंकी भाँति महापुरुषोंके व्यक्तित्वकी छाप भारतीय संस्कृति पर पड़ी है। भारतवासियोंका विश्वास है कि आवश्यकता पड़ने पर देवताओंका महापुरुषोंके रूपमें अवतार होता है। राम, कृष्ण और बुद्ध, विष्णुके अवतार माने गये। रामायण और महाभारतके अनेकों पात्र विभिन्न देवताओंके अवतार थे। देवताओं और महापुरुषोंके आदर्श चरित्रका प्रभाव भारतवासियोंकी रहन-सहनपर पड़ा है। सदा इनकी पूजा होती आई है, लोगोंने अपनी व्यावहारिक समस्याओंका समाधान इनकी चरित-गाथाओंमें खोजा है। इस प्रकार भारतवासी अपनी प्राचीनताको सुव्यवस्थित रखते आये हैं।

महापुरुषोंकी भाँति महर्षि, आचार्य, माता-पिता, गुरुजन, पूर्वज, वृद्ध और राजा सम्मान और आदरके पात्र रहे हैं। उनके बनाये हुए सिद्धान्त प्रायः प्रमाण समझे गये हैं। उनको सदासे भारतवासी अपने आचार-व्यवहार और शिष्टतासे प्रसन्न करते आये हैं। लोगोंकी धारणा रही है कि उनकी लौकिक मृत्यु हो जानेपर भी किसी न किसी रूपमें उनका अस्तित्व रह जाता है। यही कारण है कि मरनेके पश्चात् भी उनका नाम चलता रहता है और उनकी उपेक्षा नहीं होती है।

पशु-पक्षी तथा अन्य जीवोंको भारतवासियोंने कभी तुच्छ नहीं समझा है। वैदिक कालसे ही अनेकों पशु-पक्षियोंमें मानवोचित गुणोंको आरोपित किया गया है। पुराणोंके अनुसार विष्णुके अवतार वराह मत्स्य और नरसिंहके रूपमें हुए हैं। कई पशु-पक्षी देवताओंके वाहन माने गये हैं। बैल, सिंह और हंससे

लेकर उल्लू और चूहे तक देवताओंके वाहन हैं। देवी और देवताओंकी पूजाके साथ उनके वाहनोंकी पूजा होती आई है। लोगोंका विश्वास है कि देवता पशु-पक्षियोंके रूपमें मानवलोकमें आया करते हैं। रामायण कालसे वानर, रीछ और गृध्र प्रतिष्ठाके पात्र हो गये, क्योंकि इन्होंने रामकी सहायता की थी। पशुओंमें गौकी महिमा सबसे अधिक समझी गई है। इसे माताका पद दिया गया है। पुनर्जन्म-वादके सिद्धान्तसे पशु-पक्षी मनुष्योंके और निकट आ जाते हैं। मनुष्य अपने कर्मोंके प्रभावसे पशु-पक्षी कोटिमें जन्म ले सकता है। दार्शनिक आधार पर पशु-पक्षियोंमें भी मनुष्यके समान ही आत्मा मानी गई है। इस दृष्टिकोणसे पशु-पक्षियों और अन्य जीवोंके प्रति लोगोंका दया और आदरका भाव स्वाभाविक ही है। उपर्युक्त विचारोंके उदयके साथ-साथ भारतवर्षमें मांसाहारका निषेध किया जाने लगा। पशु-पक्षी तथा अन्य जीव सदा मानव-जीवनके निकट संपर्कमें रहे हैं, अतएव इनको काव्य, चित्र और वास्तु कला में प्रायः स्थान मिला है।

भारतवासी वृक्षों और लताओंके सौन्दर्यसे सदा प्रभावित रहे हैं। पशु-पक्षियोंकी भाँति वृक्ष, लता और पौधे भी मानवजीवनके निकट संपर्कमें आये हैं। कलाकारोंने इनमें भी मानवोचित अनुभूतिको आरोपित किया है और इनकी परोपकार वृत्तिका निदर्शन किया है। अतः वृक्षोंको अंग-विहीन करना अथवा कच्चे फलोंको तोड़ना पाप समझा गया है। प्रायः लताओं और वृक्षोंके चित्रणसे काव्य और चित्र-कलामें सौन्दर्य और शान्त वातावरणकी अभिव्यक्ति की गई है।

प्राचीनताके प्रति प्रेम

भारतवर्षमें प्राचीनताके प्रति सदा श्रद्धा और प्रेम-भाव रहा है। आज भी प्राचीनकालके जीवनके आदर्श, वेश-विन्यास, धर्म, रहन-सहन और आचार-व्यवहारकी परम्परा ठीक उसी रूपमें पाई जा सकती है जो सहस्रों वर्ष पहले साधारण रूपसे प्रचलित थी। इस प्रकार प्राचीन संस्कृति प्रधानतः अपने मौलिक रूपमें और साथ ही नवीनताके सम्मिश्रणसे प्रभावित होकर आज भी जीवित है। प्राचीनताके प्रेमके कारण ही इस देशकी प्रत्येक युगकी संस्कृति विविध रूपोंमें प्रकट होती आई है। संस्कृतिकी कोई भी धारा कदाचित् ही पूर्ण रूपसे लुप्त हो सकी है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सुदूर अतीतकी बात है जब भारतवर्षके लोगोंने संस्कृतिके पथपर चलना प्रारंभ किया था। इसके पहले उनके बीच किसी कला और विज्ञानकी प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, वे न तो किसी धातुका उपयोग ही कर सकते थे और न वस्त्र ही बना सकते थे। वे भोजनकी आवश्यकताको वनके फलोंको तोड़कर अथवा पशु-पक्षियों या मछलियों को पकड़कर पूरा कर लेते थे। कुछ समय पश्चात् उन्होंने साधन-रूपमें पत्थरके टुकड़ोंको अपनाया जिनसे वे फलोंको मार कर गिरा सकते थे या शिकार कर सकते थे। संस्कृतिका यहींसे सूत्रपात हुआ। पत्थरसे उनके अस्त्र-शस्त्र बनने लगे। उस समय अस्त्र-शस्त्र बहुत साधारण होते थे। उनसे काम लेनेमें शक्तिकी विशेष आवश्यकता पड़ती थी। सभ्यताके विकासके इस कालको प्राचीन प्रस्तर-युग कहते हैं।

प्राचीन प्रस्तर-युगके पश्चात् नवीन प्रस्तर-युगका आरंभ हुआ। इस युगमें अस्त्र-शस्त्र पत्थरके ही बनते थे किन्तु वे पहलेके अस्त्र-शस्त्रोंसे सुघड़, सुन्दर और अधिक उपयोगी होते थे। इनको बनानेमें लोगोंने अधिक बुद्धि लगाई थी और किञ्चिन्मात्र कलाका भी परिचय दिया था। लोग मिट्टीकी वस्तुयें—प्रायः बर्त्तन बनाकर आगमें पका लेते थे। इस युगकी संस्कृतिका प्रमाण तत्कालीन समाधियोंमें मिलता है जिनमें वे शवको रखकर पत्थरसे ढक देते थे। इससे सिद्ध होता है कि उनमें पूर्वजोंके प्रति श्रद्धाके भाव अंकुरित हो चुके थे। प्रस्तर-युगके पश्चात् क्रमशः ताँबे और लोहेका युग आया।[1]

आजकल लोहेका युग है। भारतमें इस युगका आरंभ आर्योंकी वैदिक सभ्यताके समय लगभग २५०० ई० पू०में हुआ। इसके पहले ३२५० ई० पू०से २७५० ई० पू० तक सिन्धु-सभ्यता उन्नतिके शिखरपर थी, किन्तु उस समय लोग लोहेका प्रयोग नहीं जानते थे।

प्राचीन कालमें आर्योंकी वैदिक सभ्यताके अतिरिक्त अन्य जातियोंकी सभ्यताओंका विकास हुआ था। इन जातियोंमें नेग्रिटो या निग्रोबटु, आस्ट्रिक और

---

[1] संसारके प्रायः सभी देशोंमें सभ्यताका विकास इसी क्रमसे हुआ है, किन्तु अन्य देशोंमें ताँबेके युगके पश्चात् काँसेका युग आता है। यह युग भारतके बहुत थोड़े ही भागमें मिला है। प्रायः सर्वत्र ताँबेके पश्चात् लोहेका युग ही मिलता है।

द्राविड़ मुख्य हैं। नेग्रिटो नाटे थे, इनका रंग बहुत काला था, नाक और होठ भोंडे थे, बाल घुँघराले थे। इन सब बातोंमें वे अफ्रीकाकी नीग्रो जातिके लोगोंसे मिलते-जुलते थे। नेग्रिटो प्रायः समुद्रके तटपर रहते थे। इनकी सभ्यता निम्न कोटिकी थी। अपनी जीविका चलानेके लिये वे मछली मारते थे या शिकार करते थे। इस जातिका प्रायः अन्य जातियोंमें सम्मिश्रण हो गया है। इनका शुद्ध रूप अब भी दक्षिण भारत, आसाम और अंडमान द्वीपमें मिलता है, किन्तु इनकी संख्या अल्प रह गई है। संभवतः नेग्रिटो ही भारतके आदिवासी थे।

आस्ट्रिक जातिके लोगोंका मूल निवास संभवतः आस्ट्रेलिया[1] महाद्वीप है, जहांसे ये भारत, हिन्द चीन, मालयदेश और पूर्वी द्वीप समूहमें फैल गये। नेग्रिटोकी भाँति आस्ट्रिक भी काले और नाटे थे। इनकी बोलीसे मध्य भारतकी कोल बोलियाँ और आसामकी खासी या खसिया बोली उत्पन्न हुई हैं। भारतमें ये गंगाके मैदान, मध्य भारत और दक्षिण भारतमें अधिक फैले। भारतीय संस्कृतिमें धानकी खेती, केला, नारियल आदि फलोंका उत्पादन और पान-सुपारीका व्यवहार संभवतः इन्हींकी देन है। इनके धार्मिक विश्वास—पुनर्जन्म-वाद और पूजाकी रीतियाँ और श्राद्धकी विधियाँ आदि आर्योंके संपर्कमें आनेपर उनके द्वारा अपना लिये गये और शास्त्रोंमें संगृहीत होकर आज तक जीवित हैं।

द्राविड़ जातिके लोग लम्बे थे, उनकी नाक सीधी थी और कपाल बड़ा था। द्राविड़ जातिका मूल निवास संभवतः मेसोपोटामिया, लघु एशिया और पूर्वी भूमध्यसागरके बीच विस्तृत था। आर्योंके भारतमें आनेके कई हजार वर्ष पहले पश्चिमकी घाटियों या उत्तर-पश्चिमके दर्रोंसे होकर उन्होंने इस देशमें प्रवेश किया। धीरे-धीरे वे सारे भारतमें फैल गये, किन्तु प्रधान रूपसे दक्षिण भारतमें उनकी घनी वसति बनी। द्राविड़ों और आस्ट्रिकोंका एक दूसरेके संपर्कमें आनेपर सम्मिश्रण प्रारंभ हुआ। द्राविड़ जातिकी सभ्यता ऊँची थी। वे बड़े-बड़े नगरोंका निर्माण करके विभिन्न प्रकारकी कलाओं और व्यवसायोंकी उन्नति कर सके थे। धर्म और दर्शनके क्षेत्रमें भी उनकी प्रगति उल्लेखनीय है। संभवतः द्राविड़ोंने ही शिव, उमा, विष्णु, श्री आदि देवताओंकी कल्पनायें की थीं

---

[1] 'हिन्दू सिविलिजेशन' नामक ग्रंथमें डा० राधाकुमुद मुकर्जीने इनका मूल निवास फिलिस्तीन बताया है।

जिनका आर्योंके संपर्कमें आनेपर वैदिक धर्ममें समावेश हुआ। सिन्धु-सभ्यताके निर्माणमें द्राविड़ोंका प्रधान हाथ था।

आर्य लगभग ३००० ई० पू०में भारतमें आये।[1] इसी समयसे आर्य सभ्यताका वैदिक काल प्रारंभ होता है, जिसमें आर्योंने वेदकी संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और वेदांगोंकी रचना की। इन ग्रंथोंसे वैदिक कालकी ई० पू० ३०००से ई० पू० ७००की संस्कृतिका परिचय मिलता है। वैदिक कालके पश्चात् महाभारत और रामायण कालका आरंभ होता है। इन ग्रंथोंसे लगभग १००० ई० पू०से ईसवी शतीके आरंभ तककी संस्कृतिका ज्ञान होता है। इन ग्रंथोंके अतिरिक्त इस कालके रचे हुए बौद्ध धर्मके त्रिपिटक ग्रंथ, पाणिनिका अष्टाध्यायी (सातवीं शती ई० पू०), पतंजलिका महाभाष्य (दूसरी शती ई० पू०) और मनुस्मृति (दूसरी शती ई० पू०) आदि मिलते हैं, जिनसे तत्कालीन परिस्थितियोंपर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

महाभारत और रामायण कालसे ऐतिहासिक राजाओंकी परम्परा मिलती है। सर्व प्रथम ऐतिहासिक राजा परीक्षितका वर्णन महाभारतमें मिलता है। परीक्षितका राज्य कुरुप्रदेशमें था। परीक्षितके पश्चात् उसका पुत्र जनमेजय राजा हुआ। जनमेजयके पश्चात् कमसे कम चार राजा इस वंशमें और हुए, किन्तु उनका वैभव शनैःशनैः क्षीण होता गया। इस वंशके अन्तिम राजा निचक्षु-का समकालीन विदेह (आधुनिक विहारमें तिरहुत)का राजा जनक हुआ।

छठी शती ईसा पूर्वमें महावीर और गौतम बुद्ध—क्रमशः जैन और बुद्ध धर्मके उन्नायक हुए। आगे चलकर जैन और बौद्ध साहित्य, दर्शन और कला-कौशलकी भारतीय संस्कृतिमें प्रतिष्ठा हुई। मगधमें बुद्धका समकालीन राजा बिम्बिसार (ई० पू० ५४३से ४९१) था। बिम्बिसारका पुत्र अजातशत्रु (ई० पू० ४९१से ४५९) बहुत युद्ध-प्रिय राजा हुआ। उसने आस-पासके कई राज्योंको जीतकर अपने राज्यमें मिला लिया। बिम्बिसारके वंशके अन्तिम राजा शक्ति-

---

[1]आर्योंके मूल निवासकी समस्या टेढ़ी है। कुछ विद्वान् भारतको ही आर्यों का आदि देश मानते हैं। किन्तु अधिकांश विद्वानोंका मत है कि आर्य बाहरसे आये। समय-समयपर विद्वानोंने पामीरका पठार, योरपका उत्तरी प्रदेश, रूसका घासका मैदान, एशियाई आर्कटिक प्रदेश या मध्य और पूर्वी योरपको आर्यों का आदि देश बताया है। बहुमतसे मध्य और पूर्वी योरप आर्यों का देश माना गया है।

हीन और अयोग्य हुए। ऐसी परिस्थितिमें शिशुनाग (ई० पू० ४११-३६३) नामक मंत्री राजा बन बैठा। इसके वंशका अन्तिम राजा महानन्दी था जिसका पुत्र महापद्मनन्द बहुत शक्तिशाली राजा हुआ। उसने पंजाब और काश्मीरको छोड़कर सारे उत्तर भारतपर अधिकार कर लिया था।

ई० पू० ३२७में यूनानी राजा सिकन्दरने पंजाबपर आक्रमण किया और एक छोटे राजा पुरुको जीतकर तथा उसके राज्यको लूट-खसोटकर चलता बना। कहा जाता है कि मगध राज्यकी शक्तिकी ख्याति सुनकर उसकी सेनाने आगे बढ़नेमें अनिच्छा प्रकट की। उस समय मगधमें नन्दवंशका राजा महापद्मनन्द था, जिसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। महापद्मनन्दके कुलमें कोई योग्य राजकुमार नहीं था। ऐसी परिस्थितिमें चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पू० ३२५-३००) ब्राह्मण मंत्री चाणक्यकी सहायतासे मगधका राजा बन बैठा।

मौर्यवंश भारतीय ऐतिहासिक कालका प्रथम महान् राजकुल है। चन्द्रगुप्तने सीरियाके यूनानी राजा सेल्यूकसको पराजित किया और इस प्रकार विदेशियोंको भारतीय वीरताका परिचय दिया। सेल्यूकस और चन्द्रगुप्तका युद्धके पश्चात् मित्रताका संबंध दृढ हुआ। उसने अपनी कन्याका विवाह चन्द्रगुप्तसे कर दिया और उसे हिरात, कन्धार, मकरान और काबुलका राज्य दे दिया। चन्द्रगुप्तने एशियाके अन्य देशोंको जीतनेके लिये उत्सुक सेल्यूकसको ५०० हाथी भेंट किये। उस समय हाथी आधुनिक 'टैंक'की भाँति उपयोगी थे। सेल्यूकसका दूत मेगस्थनीज चन्द्रगुप्तकी सभामें रहने लगा। उसने तत्कालीन भारतके विषयमें जो कुछ देखा-सुना, उसका विशद वर्णन किया है। उसके मौलिक लेख अब अप्राप्य हैं, किन्तु परवर्ती यूनानी लेखक स्ट्राबो, एरियन, डायोडोरस आदिने उसके लेखोंसे अनेक उद्धरण अपनी रचनाओंमें लिये हैं, जो इस समय प्राप्त हैं।

मौर्य वंशका सबसे प्रतापशाली राजा अशोक (ई० पू० २७४-२३२) हुआ। वह भारतका सबसे बड़ा सम्राट् हुआ है। उसकी कर्तव्यनिष्ठा, धर्मपरायणता और प्रजा-पालनकी तत्परता अनुपम हैं। उसने धर्म और शासन संबंधी लेख शिलाओं और स्तंभोंपर भारतके कोने-कोनेमें उत्कीर्ण कराये, जिनमेंसे कुछ अब भी उस महान् युगकी स्मृति-रूपमें विद्यमान हैं। मौर्यकालीन संस्कृतिका विस्तृत परिचय कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे मिलता है। यह ग्रंथ ई० पू० ३००से १०० ई०के बीच कभी लिखा गया।

मौर्यवंशके पश्चात् भारतमें क्रमशः शुंग (लगभग १८५ ई० पू०-७२ ई० पू०), काण्व (ई० पू० ७२-ई० पू० २७) और सातवाहन (ई० पू० १००-२२५ ई०) वंशके राजाओंने मगधमें राज्य किया। देशभरमें कई छोटे-मोटे राज्य बिखरे हुए थे। अशोककी मृत्युके पश्चात् बैक्ट्रियाके यूनानी राजाओंने भारतपर पुनः आक्रमण करना आरंभ किया और उत्तर-पश्चिम भारतमें राज्य स्थापित किये। इन राजाओंमें मेनेन्ड्रास (मिलिन्द)का नाम उल्लेखनीय है। उसने साकल (स्यालकोट)में राजधानी बनाई। भारतमें आनेपर वह संभवतः बौद्ध धर्मका अनुयायी हो गया।

यूनानियोंके पश्चात् भारतपर शक और कुषाण जातियोंके आक्रमण हुए। ये जातियाँ प्रारंभमें मध्य एशियासे चली थीं। भारतमें आकर शीघ्र ही वे भारतीय संस्कृतिमें रंग गईं। शकोंके कई राज्य—तक्षशिला, मथुरा, उज्जैन, सौराष्ट्र और दक्षिण भारतमें स्थापित हुए।

कुषाण जातिके नेता कडफ़िसीज प्रथमने लगभग २५ ई०में पंजाबके कुछ भागको जीतकर भारतमें अपना राज्य स्थापित किया। इस वंशमें प्रथम शतीमें कनिष्क बड़ा सम्राट् हुआ। उसका राज्य—भारतमें काबुलसे लेकर पूर्वमें बनारस और दक्षिणमें विन्ध्याचल तक फैला हुआ था। भारतके बाहर काशगर, यारकंद और खोतान उसके साम्राज्यमें सम्मिलित थे। उसने अपनी राजधानी भारतमें बनानेके लिये पुरुषपुर (पेशावर) नगर बसाया। कनिष्कने अशोककी भाँति बौद्ध धर्म स्वीकार करके उसके प्रचारके लिये प्रयत्न किया। उसकी राजसभामें अनेक कवि और विद्वान् रहते थे। उनमेंसे प्रसिद्ध कवि अश्वघोषके लिखे हुए महाकाव्य और नाटक मिलते हैं।

लगभग १५० ई०में उत्तरी भारतमें भारशिव राजाओंका प्रभुत्व बढ़ा। उनकी राजधानी कान्तिपुरी (मिरजापुर)के पास आधुनिक कंतितमें थी। भारशिवोंने शक राजाओंका विरोध किया और उनको शक्तिहीन बनाकर अपने राज्यकी नींव दृढ की थी। तीसरी शतीके मध्य भागमें वाकाटक वंशका अभ्युदय हुआ। वाकाटकोंका राज्य प्रारंभमें बरारमें था, किन्तु धीरे-धीरे उनका राज्य उत्तर और दक्षिण भारतमें भी फैला। भारशिव वंशके अन्तिम राजा भवनागने अपनी कन्याका विवाह वाकाटक वंशके पहले स्वतंत्र सम्राट् प्रवरसेनके बेटे गौतमीपुत्रसे करके अपने दौहित्र रुद्रसेनको उत्तराधिकारी बनाया। वाकाटक वंश गुप्तकालके समकालीन लगभग छठीं शतीके मध्य तक चलता रहा। इस वंशका

राजा प्रवरसेन द्वितीय बहुत बड़ा कवि था। उसका रचा हुआ 'सेतुबन्ध' प्राकृत भाषाका सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य है।

चौथी शतीके आरंभमें मगधमें गुप्तवंशका प्रादुर्भाव हुआ। इस वंशका पहला प्रतापी राजा चन्द्रगुप्त प्रथम (३१९-३३५ ई०) हुआ। उसने प्रयाग तकके राज्योंको जीतकर महाराजाधिराजकी उपाधि धारण की। इस वंशमें समुद्रगुप्त (३३५-३७५ ई०) और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५-४१३ ई०) बहुत प्रभावशाली राजा हुए। समुद्रगुप्तने सारे भारतपर दिग्विजय करके पाटलिपुत्रमें अश्वमेध किया। वह स्वयं महान् कवि और कलाकार था। उसने बड़ी तत्परतासे प्रजा-पालन किया। समुद्रगुप्तका एक स्तंभलेख प्रयागमें है, जो किलेमें बन्द है। इस लेखमें उसके पराक्रमका वर्णन किया गया है।

समुद्रगुप्तके पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य सम्राट् हुआ। उसने शक राजाओंपर विजय प्राप्त करके मथुरा, मालवा, गुजरात आदि राज्योंपर अधिकार कर लिया। उसने वाकाटक वंशके राजा रुद्रसेन द्वितीयके साथ अपनी कन्याका विवाह किया।

गुप्त राजाओंने केवल सुव्यवस्थित शासनके द्वारा देशको धन-धान्य-सम्पन्न ही नहीं बनाया, अपितु उन्होंने काव्य और कला-कौशलकी उन्नतिके लिये बहुत प्रयत्न किया। इसी समय महाकवि कालिदासने अपनी रचनाओंसे भारतीय काव्यका अक्षय भांडार भरा, अजन्ताके कलाकारोंने गुफाओंका मनोरम चित्रण किया और मूर्तिकारों तथा वास्तुके आचार्योंने शिल्पकी आदर्श योजना राष्ट्रके सामने रखी। भारतीय संस्कृतिके विकासका प्रवाह, जो मौर्य-कालसे अवरुद्ध-सा था, एक बार पुनः गुप्त राजाओंके भगीरथ प्रयत्नसे वेगके साथ प्रगतिशील हुआ। यही कारण है कि गुप्तकाल भारतीय इतिहासमें स्वर्ण युग कहा गया है। इस स्वर्णयुगका कुछ परिचय चीनी यात्री फाह्यानके भारतीय यात्राके वर्णनमें मिलता है। वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके समयमें ४०५से ४११ ईसवी तक भारतमें रहा।

गुप्त राजाओंने लगभग १२५ वर्षोंतक शान्तिपूर्वक शासन किया। लगभग ४५० ई०में, कुमारगुप्त (४१४-४५५ ई०)के समयमें उत्तरी भारतमें हूणोंके आक्रमण होने लगे। हूण मध्य एशियाकी एक अर्ध-सभ्य जाति थी। उनका सामना करनेमें गुप्त राजाओंकी शक्तिका ह्रास हुआ। महाराज स्कन्दगुप्त (४५५-४६७ ई०)ने जीवनभर हूणोंसे युद्ध करते हुए देशकी रक्षा की और कई

बार उनको पराजित किया। स्कन्दगुप्तके पश्चात् इस वंशमें कोई ऐसा वीर राजकुमार न हुआ जो हूणोंका सफलतापूर्वक सामना करता। उसकी मृत्युके पश्चात् ४८४ ई०में हूणोंने पंजाब, राजपुताना तथा मध्य-प्रदेशके कुछ भागको जीत लिया। उस समय उनका नेता तोरमाण था। ५१० ई०में तोरमाणने मालवापर आक्रमण करके भानुगुप्तको पराजित किया। इसके पश्चात् गुप्त साम्राज्य सदाके लिये शक्तिहीन हो गया।

गुप्त राजाओंकी अवनति होनेपर हूणोंका सामना करनेवाला मध्यभारतका एक शक्तिशाली राजा यशोधर्मा हुआ। उसने हूणोंसे युद्ध करनेके लिये राजाओं-का एक संघ बनाया और ५३० ई०के लगभग हूणोंके अत्याचारी राजा मिहिर-कुलको परास्त करके उसे काश्मीरकी ओर भगा दिया। यशोधर्माने अपने परा-क्रमसे छठीं शतीके पूर्वार्धमें एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया जैसा कि उसके मन्दसोरके स्तंभलेखोंसे ज्ञात होता है।

छठीं शतीमें उत्तरी भारतके शासकोंमें सम्राट् हर्षवर्धन (६०६-६४७ ई०) का नाम उल्लेखनीय है। उसने लगभग सारे उत्तर भारतमें प्रजाके सुख और शान्ति-की व्यवस्था की। वह केवल युद्धवीर ही नहीं था, अपितु भारतके कई अन्य विद्वान् राजाओंकी भाँति उच्च कोटिका कवि और कलाकार था। उसकी राजसभाके प्रसिद्ध पंडित बाणके लिखे हुए हर्षचरित और कादम्बरी नामक ग्रंथ मिलते हैं। हर्षके शासन कालमें नालन्दाका विश्वविद्यालय बहुत उन्नतिपर था। चीनी यात्री ह्वेनसांगने इस विद्यालयमें शिक्षा पाई थी। अन्य चीनी यात्रियोंकी भाँति उसने भी भारतकी यात्रा करनेके पश्चात् तत्कालीन परिस्थितियोंका वर्णन चीनी भाषामें लिखा है।

जिस समय हर्ष उत्तर भारतमें राज्य करता था, दक्षिण भारतमें पुलकेसी द्वितीय (६०८-६४२ ई०) प्रसिद्ध राजा हुआ। पुलकेसीका संबंध विदेशके राजाओंसे भी था। फारसके राजा खुसरु द्वितीय और पुलकेसीके राजदूत एक दूसरेकी सभामें आते-जाते थे।

प्राचीन भारतकी सांस्कृतिक सीमा सातवीं शतीके अन्ततक मानी जाती है। आठवीं शतीके आरंभ कालसे ही अरबी मुसलमानोंका भारतपर आक्रमण होने लगा। अरबी मुसलमानोंके पहले जो विदेशी भारतमें आये थे उन्होंने भारतीय संस्कृतिकी धारामें अवगाहन करके अपनी मौलिक संस्कृतिका भारतीय संस्कृतिसे सम्मिश्रण करा दिया था।

द्वितीय अध्याय

संस्कार

भारतवासियोंने मानव जीवनके विकासके लिय मानसिक संकल्पों और विचारोंको महत्त्वपूर्ण ठहराया है। इस देशमें जीवनके विकासक्रममें मनोविचारोंकी विकासमयी परम्पराका ध्यान रखा गया है। लोग ऐसा समझते आये हैं कि विचारोंके द्वारा ही हमारी परिस्थितियोंकी रूप-रेखा बनती है और इन्हींके अनुरूप हमारी शक्तियोंका विकास या संकोच होता है। हम, जो विचार अपने मनमें लाते हैं, उनका प्रभाव हमारे भावी कार्य-क्रम और तत्संबंधी सफलताओंपर पड़ता है। प्राचीन कालमें मनोविचारोंकी विकासमयी योजना संस्कारोंके रूपमें प्रचलित थी। जीवनके विकासकी प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अवस्थामें संस्कारोंके द्वारा किसी व्यक्तिकी उन्नति और मंगलकी कामना की जाती थी और उसे अपने कुल, अवस्था और राष्ट्रके योग्य कर्तव्योंका ज्ञान कराया जाता था। प्रायः सभी संस्कार उत्सवके रूपमें संपन्न किये जाते थे और उनके द्वारा कुटुम्ब और समाजमें आनन्द और पवित्रताके वातावरणकी सृष्टि होती थी।

गर्भाधान

बच्चोंके विकासका उत्तरदायित्व उनके माता-पितापर होता है। बच्चोंका जीवन उनके गर्भमें आनेके समयसे प्रारंभ होता है। प्राचीन भारतमें ऐसे अवसरपर पति और पत्नी अपनी विचार-शुद्धिके लिये वैदिक मंत्रोंके द्वारा हवन करके देवताओंका आह्वान करते और उन्हें स्तुति और हविसे संतुष्ट करते थे। गुरुजनोंकी वन्दना करके वे उनका आशीर्वाद ग्रहण करते थे। इस प्रकार अपने विचारोंको शुद्ध कर लेनेके पश्चात् वे सन्तानोत्पत्तिकी कामना करते थे। ऊपर लिखी हुई विधिका नाम गर्भाधान संस्कार है। इस संस्कारमें प्रत्यक्ष रूपसे तो माता-पिताकी शुद्धि होती है, किन्तु लोगोंकी धारणा है कि माता-पिताके संस्कारके द्वारा गर्भमें आनेवाले शिशुका संस्कार हो जाता है और गौण रूपसे इसका प्रभाव शिशुके मानसिक और शारीरिक विकासपर पड़ता है।

पुंसवन

गर्भाधानके दो या तीन महीनेके पश्चात् शिशुके शरीरकी रचना आरंभ होती है। माता-पिताकी स्वाभाविक इच्छा होती है कि हमें पुत्र उत्पन्न हो। इसके लिये प्राचीन कालमें पुंसवन संस्कारके द्वारा पुत्रोत्पत्तिकी कामना की जाती थी। इस समय अथर्ववेदके पुत्रेष्टि-मंत्रोंके द्वारा हवन किया जाता था और अग्निदेवकी प्रदक्षिणा की जाती थी। पति पत्नीके शरीरपर नाना प्रकारके फलोंकी वर्षा करता था और उसे पुष्प-मालाओंसे सजाकर प्रमुदित करता था। फल-वर्षासे पति और पत्नीका अपने मनोरथकी सफलतामें विश्वास बढ़ता था। पति पत्नीकी सभी इच्छायें पूरी करके उसका उत्साह बढ़ाता था। वैज्ञानिक दृष्टिसे शिशुके शारीरिक और मानसिक विकासके लिये इस संस्कारकी महती उपयोगिता है।

सीमन्तोन्नयन

पुंसवनके दो या चार महीने बीतनेपर सीमन्तोन्नयन संस्कारका उत्सव मनाया जाता था। इस संस्कारके द्वारा पत्नीको पौत्रिक विभूतिके लिये उत्साहित किया जाता था। सीमन्तोन्नयनके अवसरपर पति स्वच्छ जलमें पत्नीकी छाया देखकर उससे पूछता था कि तुम क्या देख रही हो? पत्नी उत्तर देती थी कि मैं पुत्र, पशु और पतिका दीर्घजीवन देख रही हूँ। ऐसे विचारसे शिशुके स्वास्थ्यपर बर्द्धनशील प्रभाव पड़ता था। सीमन्तोन्नयनकी क्रिया पति स्वयं अपने ही हाथोंसे सम्पन्न करता था। वह पत्नीका केश सुधारता और उसका गुच्छा बनाकर सँवार देता था। सीमन्तोन्नयन संस्कार सामूहिक रूपसे आनन्द मनानेके लिये था। इस अवसरपर वीणाकी मधुर संगीत-लहरीसे चारों ओर प्रसन्नता छा जाती थी। अन्तमें वयोवृद्ध गुरुजन पत्नीको वीर प्रसविनी होनेका आशीर्वाद देते थे। इस मनोरम संस्कारका सुखावह प्रभाव पत्नीके स्वास्थ्य और मनोवृत्तिपर पड़ता था।

जातकर्म

शिशुके उत्पन्न होनेके अवसरपर जातकर्म संस्कार किया जाता था। पिता शिशुको गोदमें लेकर हवन करता था और कामना प्रकट करता था कि मैं सहस्त्र पुरुषोंका भरण-पोषण कर सकूँ, सदा उन्नति करूँ, मेरी सन्तान कभी नष्ट न हो, मेरे पशु बढ़ते रहें। इसके पश्चात् वह अपना मुँह लड़केके दाहिने कानके समीप

ले जाकर तीन बार 'वाक्' कहता था। इस प्रकार संभवतः वह कामना प्रकट करता था कि शिशु यथासमय तीन वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर ले। माताका दूध पीनेके पहले शिशुको मधु और घीका घोल सोनेकी शलाकासे चटाया जाता था। इस घोलमें सोना रगड़कर मिला दिया जाता था।[1] पिता शिशुको सौ वर्ष जीनेका आशीर्वाद देता था और मेधाजननका नीचे लिखा मंत्र शिशुके कानमें सुनाता था—

मेधां त्वे देवः सविता मेधां देवी सरस्वती।
मेधां त्वे अश्विनौ देवावाधत्तां पुष्करस्रजौ॥

(तुमको सविता, सरस्वती और कमलकी माला धारण करनेवाले अश्विद्वय मेधा [बुद्धि] प्रदान करें)। इसके पश्चात् शिशुका गुप्त नाम रखा जाता था जो केवल माता-पिताको ही ज्ञात रहता था। संभवतः यह नाम आजकलके राशिनामकी भाँति होता था।

नामकरण

शिशुके जन्मके दसवें या बारहवें दिन उसका नामकरण संस्कार किया जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रके नामसे क्रमशः लोकके कल्याण, रक्षा, पोषण और सेवाकी अभिव्यक्ति होती थी। शर्मा, वर्मा, गुप्त और दास क्रमशः चारों जातियोंके नामके अन्तमें इसी अभिव्यक्तिके लिये जोड़े जाते थे। इस बातका ध्यान रखा जाता था कि नाम सुन्दर हो, उसकी अभिव्यक्ति मनोरम हो और उसका उच्चारण सरलतासे हो सके। अभीष्ट देवताओं, महापुरुषों अथवा ऋषियोंके नामके आधारपर शिशुके नाम रखकर प्रायः माता-पिता उनके आदर्शको समाजके समक्ष रखनेका प्रयत्न करते आये हैं। उपनिषद् युगमें प्रायः नाम माता-पिताके नामपर ही रखे गये। कभी-कभी गुणवाचक नाम भी रखे गये हैं। इन नामोंके द्वारा तत्संबंधी सद्वृत्तियोंकी प्रतिष्ठा स्थापित करनेकी चेष्टा की गई है। यों तो नाम-करणके समय प्रायः एक ही नाम रखनेकी प्रथा बहुत प्राचीन कालसे रही है, किन्तु एक ही पुरुषके अनेकों नाम आगे चलकर उसके पहले नामके पर्यायके आधारपर अथवा उसके गुणों और पराक्रमोंके द्योतक होकर चल पड़े हैं।

---

[1] आयुर्वेदके अनुसार मधु और घीसे क्रमशः कफ और पित्तके विकारोंका शमन होता है। घी और सोना दोनों ही मेधा-शक्तिको उत्तेजित करते हैं।

नाम-करण संस्कारके समयतक शिशुकी समझनेकी शक्ति कुछ-कुछ विकसित हो जाती थी। इस संस्कारके द्वारा शिशुको अपने व्यक्तित्वकी गरिमा समझनेका अवसर मिलता था। नाम-करण संस्कारका उत्सव सामूहिक रूपसे मनाया जाता था। पहले देवताओंकी तृप्तिके लिये होम-क्रिया सम्पन्न की जाती थी। इसके पश्चात् शिशुका नाम रखा जाता था और उसकी कलाईमें सोनेका एक छोटा टुकड़ा बाँध दिया जाता था। अन्तमें पिता शिशुको सूँघता था और उसके प्रति स्नेह प्रकट करता था।

निष्क्रमण

जब शिशु लगभग चार मासका हो जाता था तो उसे घरसे बाहर लाते थे। यही निष्क्रमण संस्कार था। इसके पहले वह इतना असमर्थ होता था कि घरके बाहरकी धूप और वायुकी प्रखरताको नहीं सह सकता था, अतः वह घरके भीतर प्रकाश और शुद्ध वायुमें रखा जाता था। निष्क्रमणके समय शिशु सूर्यका दर्शन करता था और उसे प्रकृतिकी सुषमाका ज्ञान कराया जाता था। शिशु मनोहर पुष्पों, लताओं और कुंजोंको देखता और आकाशके सौन्दर्यका निरीक्षण करता था। वह जीवनमें प्रथम बार शीतल, मंद और सुगंध वायुका सेवन करता था, नाचते हुए मोरको देखता था और सोतेके मधुर संगीतका आनन्द लेता था।

सूर्य दिखलानेके पश्चात् शिशु यज्ञ-शालामें लाया जाता था। वहां सभी लोग उसे सौ वर्ष जीनेका आशीर्वाद देते थे। रात्रिके समय माता शिशुको चन्द्र-ज्योत्स्नामें लेकर खड़ी होती थी और उसे प्राकृतिक सौन्दर्यका निरीक्षण कराती थी। इस संस्कारमें होमके द्वारा पवित्र वातावरणकी सृष्टि की जाती थी और सूर्य और चन्द्रकी प्रधान रूपसे स्तुति की जाती थी।

अन्न-प्राशन

अन्न-प्राशन संस्कारके पहले शिशुको अन्नका भोजन नहीं दिया जाता था, क्योंकि उसमें अन्न पचानेकी शक्ति नहीं रहती थी। जब शिशु पाँच महीनेसे आठ महीनेके हो जाते और उनके दाँत निकल आते थे, उस समय उनमें अन्न पचानेकी किंचिन्मात्र शक्ति आ जाती, और इसी बीच शिशुका अन्न-प्राशन संस्कार किया जाता था। भारतवर्षके लोग अन्नको देवता समझते हैं और इस संस्कारके द्वारा शिशुको अन्न-देवताकी शरणमें दे देते हैं। इस समय शिशुको जीवनके लिये सबसे अधिक अपेक्षित वस्तु अन्नका उपयोग करनेके लिये प्रथम अवसर

मिलता था। वैज्ञानिक दृष्टिसे सबसे अधिक पौष्टिक और शारीरिक विकारोंको शमन करनेवाला भोजन अन्न-प्राशनके समय शिशुको दिया जाता था। यह भोजन घी, शहद, दही और भातको मिलाकर बनाया जाता था, जो सरलतासे पचने योग्य होता था। भोजनका यही क्रम कई दिनोंतक चलता था। प्रतिदिन भोजनकी मात्रा बढ़ाई जाती थी। शिशुकी पाचनशक्ति धीरे-धीरे बढ़ती रहती थी। कुछ ही दिनोंमें वह सभी प्रकारके अन्न पचानेके योग्य हो जाता था। अन्न-प्राशनके अवसरपर सभी गुरुजन शिशुको अन्नका स्वामी और भोक्ता होकर नित्य बढ़नेका आशीर्वाद नीचे लिखे शब्दोंमें देते थे—त्वमन्नपतिरन्नादो वर्धमानो भूयाः। (तुम अन्नके स्वामी हो, तुममें अन्न ग्रहण करनेकी योग्यता है, तुम बढ़ो।)

चूडाकर्म

चूडाकर्म संस्कारके समय पहली बार शिशुके केशको काटा जाता था। प्रारंभिक अवस्थामें उसका सिर बहुत कोमल होता था और जन्मजात केशसे उसकी रक्षा होती थी। जब शिशुकी अवस्था लगभग एक वर्ष या उससे अधिक हो जाती थी, उसके केश बढ़े हुए होते थे। इस समय चूडाकर्मका उत्सव मनाया जाता था। शिशुके केशको काटकर सिरपर एकसे लेकर पाँचतक सुन्दर चूड या गुच्छे छोड़ दिये जाते थे। चूडोंकी संख्यासे शिशुके कुलका परिचय मिलता था। केशको काटनेके पहले उसे शीतोष्ण जल और मक्खनसे मलकर मुलायम कर लेते थे ताकि काटते समय शिशुको किसी प्रकारका कष्ट न हो। इसके पश्चात् कंघीसे सुधारकर उसमें कुश लगाकर सँवारते थे। चूडाकर्मके प्रारंभमें हवन-विधिसे देवताओंका आवाहन किया जाता था और उनकी उपस्थितिमें इस संस्कारके द्वारा शिशुको पवित्र किया जाता था।

उपनयन

शिशु अपने जीवनके प्रारंभिक वर्षोंमें जबतक असहाय रहता था, उसकी रक्षाका भार माता-पिताके ऊपर रहता था। वे उसे अपने निरीक्षणमें रखकर स्नेहपूर्वक पालन-पोषण करते थे और उसके शारीरिक और मानसिक विकासका ध्यान रखते थे। ज्योंही बालक शक्तिशाली हो जाता था और उसमें कुछ सीखने-की योग्यता आ जाती थी, उसको गृहस्थाश्रमके वातावरणसे दूर हटाकर गुरुके संरक्षणमें छोड़ दिया जाता था। बालकको गुरुके समीप ले जाकर उसे विद्यार्थी बना देनेकी क्रिया उपनयन संस्कार है। उपनयनका शाब्दिक अर्थ है "गुरुके

समीप ले जाना"। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालकोंका अध्ययन-काल क्रमशः आठवें, ग्यारहवें और बारहवें वर्षमें प्रारंभ होता था। तेजस्वी बालकोंका उपनयन विशेष परिस्थितियोंमें इस अवस्थाके पहले भी कर दिया जाता था। यों तो उपनयन किसी भी मासमें हो सकता था किन्तु ब्राह्मणोंके लिये वसन्त, क्षत्रियके लिये ग्रीष्म और वैश्यके लिये शरद् ऋतु अधिक उपयुक्त मानी जाती थी; क्योंकि वसन्त ब्राह्मणोचित शान्ति और बाहुल्यका समय है, ग्रीष्म क्षत्रियोंके योग्य तेज और प्रखरताका समय है और शरद्में वैश्योंके सभी व्यवसायोंका आरंभ होता है। इस प्रकार ये ऋतु क्रमशः तीनों वर्णोंके लिये स्वभावतः अनुकूल पड़ती हैं।

जब बालकमें विद्याध्ययनकी योग्यता आ जाती थी, उस समय पिता अपने घरपर उपनयनका उत्सव करता था। इस उत्सवमें बालकके सभी संबंधी भाग लेते थे और हवन करनेके पश्चात् गुरुजन उस बालकके विद्यार्थी-जीवनकी सफलताके लिये अशीर्वाद देते थे। इसके पश्चात् पिता स्वयं उस बालकको किसी योग्य गुरुके आश्रममें ले जाता था और गुरुसे उसकी शिक्षाके लिये निवेदन करता था। कभी-कभी तेजस्वी बालक स्वयं गुरुकी खोजमें निकल पड़ता था। विद्यार्थी आचार्यके समीप जाकर कहता था, 'मैं आपके समीप रहकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन करना चाहता हूँ'। आचार्य उस विद्यार्थीका नाम और गोत्र पूछता था और उसकी मनोवृत्तियोंका अध्ययन करके यह ज्ञात करनेका प्रयत्न करता था कि यह शिष्य होनेके योग्य है अथवा नहीं। यदि वह विद्यार्थीकी योग्यतासे सन्तुष्ट हो जाता, तो उसका हाथ पकड़ कर प्रसन्नता पूर्वक स्वीकृति दे देता था और कहता था कि मैं तुम्हारा उपनयन करूँगा। उस समय उपनयनकी तैयारी होने लगती थी। विद्यार्थी स्वयं समिधा लाता था और हवनके द्वारा सारा वातावरण पवित्र किया जाता था। इसके पश्चात् आचार्य वैदिक मंत्रोंके पाठसे देवताओंका आवाहन करके उनके समक्ष विद्यार्थीके बायें कंधेके ऊपरसे होते हुए दाहिने हाथके नीचे कटि तक यज्ञोपवीत पहना देता था और उसे पहननेके लिये मेखला और पलाशका दंड देता था। हवनकी अग्निकी प्रदक्षिणा करते समय विद्यार्थी आचार्यका अनुसरण करता था। इस प्रकार वह आचार्यका अनुगामी बनता था। इसके पश्चात् विद्यार्थी नीचे लिखे व्रत पालन करनेकी प्रतिज्ञा करता था :—

(१) मैं केवल रात्रि कालमें शयन करूँगा, गुरुकी आज्ञाओंका पालन करूँगा और नित्य वेदोंका अध्ययन करूँगा,

(२) मैं नित्य समिधा लाकर हवन करूँगा,
और (३) भिक्षा मांग कर अपनी जीविका चलाऊँगा।
इस प्रतिज्ञाको लेनेके पश्चात् विद्यार्थी वेदोंका अध्ययन करनेका अधिकारी समझा जाता था। आचार्य उस विद्यार्थीको ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अग्नि और सूर्यके आश्रयमें छोड़ देता था।

वेदारंभ

उपनयनके पश्चात् शीघ्र ही वेदारंभ संस्कार किया जाता था। इस संस्कारके द्वारा विद्यार्थीकी वेदाध्ययनके प्रति अभिरुचि उत्पन्न की जाती थी। वह सांगोपांग चारों वेदोंका अध्ययन करनेका व्रत लेता था। यह अध्ययन गायत्री मंत्रकी शिक्षासे प्रारंभ होता था। आचार्य गायत्री मंत्रके तीन भाग करके तीन बारमें उसका सस्वर पाठ करता था और विद्यार्थी इस मंत्रका पाठ करते हुए गा उठता था 'ओ३म् भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्'। [ओ३म् भूः (पृथ्वी), भुवः (वायुमंडल), स्वः (स्वर्गलोक)। हम लोग सविता (सूर्य या ब्रह्म) देवके तेजका ध्यान करते हैं। वह हमारी धी (बुद्धि) को विकसित करे।] आचार्य गायत्रीकी महिमा और उसके तात्पर्यको विद्यार्थीके ज्ञानके लिये अच्छी तरह समझा देता था।

गायत्री मंत्रसे विद्यार्थी अनन्तकी कल्पना करने लगता था। उसका ध्यान अखिल ब्रह्माण्डके प्रति आकृष्ट हो जाता था। और उसे ज्ञानके विस्तृत क्षेत्रका आभास होता था। इस मंत्रसे विद्यार्थीके मानस-पटलपर पृथ्वी-लोक, आकाश-मंडल और स्वर्ग-लोकके विपुल विस्तारका चित्र खिंच जाता था। वह समझ जाता था कि मेरे जीवनका संबंध पृथिवीके किसी एक नियत स्थानसे नहीं है, अपितु अनन्त विश्वसे है। वह इस प्रकार विश्वके रचयिताकी आराध्य शक्तिके सामने नत मस्तक होकर विचार-मग्न हो जाता था। इस विचारका प्रभाव उस विद्यार्थीके सारे भावी जीवन और कार्य-प्रणाली पर पड़ता था।

समावर्त्तन

प्राचीन भारतमें विद्यार्थी आचार्यके आश्रममें रहकर लगभग बारह वर्ष तक अध्ययन करते थे। अध्ययन समाप्त कर लेने पर वे आचार्यकी आज्ञासे घर लौट जाते थे। कभी-कभी विद्यार्थी विद्याध्ययनके पश्चात् गुरुको दक्षिणा देकर सन्तुष्ट करनेका प्रयत्न करते थे। मनुस्मृतिके अनुसार विद्यार्थी आचार्यको

उत्तम आसनपर बैठा कर उसे माला पहनाता था और दक्षिणाके रूपमें एक श्रेष्ठ गौ देता था। प्रायः गुरु दक्षिणाकी उपेक्षा करते थे। वे विद्यार्थियोंकी सेवा और भक्तिको ही समुचित दक्षिणा मानते थे। किन्तु स्वभावतः आग्रही शिष्य आचार्यसे अनुरोध करते थे कि आप दक्षिणा मांगें। ऐसे अवसरपर कभी-कभी आचार्य लोग करोड़ों स्वर्ण मुद्राओंकी माँग कर बैठते थे। ब्रह्मचारी ऐसी बड़ी दक्षिणाओंके लिये उदार राजाओंके यहाँ जाकर अभीष्ट धन दानके रूपमें प्राप्त करते थे और इस प्रकार अपने पूज्य आचार्य को प्रसन्न करते थे।

अध्ययन-कालमें विद्यार्थीका जीवन अत्यन्त सरल होता था। वह अपने शरीरको किसी प्रकार अलंकृत नहीं करता था। उसकी जटायें और नख बढ़ जाते थे। अध्ययन पूरा कर लेनेपर विद्यार्थीका ब्रह्मचर्य-व्रत समाप्त होता था। समावर्त्तनके समय वैदिक विधिसे हवन करनेके पश्चात् यज्ञ-वेदिकाके पास रखे हुए सुगन्धित पवित्र जलसे वह स्नान करता था। स्नान करते समय वह वैदिक मंत्रोंके द्वारा श्री, यश, ब्रह्मज्ञान और तेजकी कामना करता था। स्नान करनेके पश्चात् उसे स्नातककी उपाधि मिलती थी। ऐसे ही स्नातकके विषयमें अथर्ववेदमें इस प्रकार लिखा है, 'स स्नातो बभ्रुः पिंगलः पृथिव्यां बहु रोचते'। [स्नान करके वह भूरा (कुछ-कुछ लाल और पीला भी) पृथ्वीपर अत्यन्त शोभायमान होता है।] स्नातक ब्रह्मचर्यके चिह्न—मेखला और दण्डका परित्याग करता था और जटा और नखको कटा डालता था। फिर शुद्ध जलसे स्नान करके पीत परिधान, माला और पगड़ी पहन कर अपने शरीरको चन्दन इत्यादि सुगन्धित द्रव्योंके लेपनसे सजाता था। पहली बार आचार्य ही उसे आवश्यक परिधान और अलंकार देता था।

समावर्त्तनके अवसर पर आचार्य शिष्यको गृहस्थाश्रमके योग्य शिष्टाचार बतलाता था और उसे उदार, निस्पृह, दयावान्, विनयी, क्षमाशील, प्रसन्न-चित्त, शुद्धात्मा और महापुरुषोंका अनुगामी होनेकी सीख देता था। तेजस्वी स्नातकका चरित्र उदात्त होता था। आश्वलायनने लिखा है कि 'स्नातक समाजमें सबसे अधिक आदरणीय गिना जाता है। राजा भी स्नातकसे मिलनेपर अपनेको धन्य समझता है और उसका आदर करता है। राजा स्नातकके पीछे-पीछे चलता है। गृहस्थ लोग घरपर मधुपर्कसे स्नातकोंका स्वागत करते हैं।' कोई भी गृहस्थ ऐसे स्नातकके विवाहके लिये अपनी कन्या दे कर कृतकृत्य होता था। कालिदासने लिखा है कि रघुवंशके महाराज रघुने अर्घ्य लेकर महर्षि वरतन्तुके

शिष्य कौत्सका स्वागत करनेके लिये अगवानी की थी। कौत्स स्नातक होने-पर गुरुके लिये चौदह करोड़ स्वर्ण-मुद्रायें माँगनेके लिये राजाके पास आया था।

विवाह

आचार्यके आश्रमसे लौटनेपर स्नातक गृहस्थाश्रममें प्रवेश पानेका अधिकारी समझा जाता था। गृहस्थाश्रममें प्रवेश होनेके पहले उसका विवाह-संस्कार आवश्यक था। जो लोग आश्रमोंमें जाकर शिक्षा नहीं प्राप्त करते थे वे भी उचित अवस्था होनेपर विवाह संस्कारके द्वारा गृहस्थाश्रममें प्रवेश करते थे। विवाहके पहले वर और कन्याका युवावस्था प्राप्त कर लेना आवश्यक था। इस समय वर और कन्या दोनोंके पिता अपनी सन्तानके विवाहके लिये समान रूपसे चिन्तित होते थे। प्राचीन कालमें विवाह-सम्बन्ध प्रायः सुविधा-पूर्वक निश्चित किये जा सकते थे।

भारतवर्षमें बहुत प्राचीन कालसे विवाहकी प्रथा संस्कारके रूपमें चलती आई है। इस देशमें विवाह प्रायः वर-वधूकी इच्छापर नहीं छोड़े जाते थे। लोगोंका विश्वास है कि विवाहकी उचित प्रणालीसे ही व्यक्तिगत और सामाजिक उन्नति, चरित्रका विकास और सुख शान्तिकी व्यवस्था हो सकती है। यही कारण है कि सारा समाज विवाह-संबंधी बंधनोंको मानता आया है। इसका आधुनिक रूप भी बहुत कुछ वैसा ही है, जैसा प्राचीन कालमें था। प्रायः विवाह संस्कारमें पिता अपनी कन्याको सुयोग्य वरके हाथमें दानके रूपमें सौंप देता था।

विवाह संस्कारके अवसर पर अन्य संस्कारोंसे अधिक आनन्द और उत्सव मनाया जाता था। कुछ दिन पहलेसे ही तैयारियाँ होने लगती थीं। प्रायः कन्याके घरपर यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। उसका घर अच्छी तरहसे सजा कर मांगलिक चिह्नोंसे सुशोभित किया जाता था। सभी गुरुजन और संबंधी कन्याको गोदमें लेकर आशीर्वाद देते थे। स्त्रियाँ शुभ मुहूर्त्तोंमें वधूके शरीरको अलंकृत करती थीं। विवाहके दिन कन्याकी माता हरिताल और मनःशिलासे मस्तकपर विवाह-दीक्षाका तिलक लगा देती थी। वधूके हाथमें ऊनका बना हुआ मंगल सूत्र बाँध दिया जाता था। माता कन्यासे पतिव्रता स्त्रियोंका पादाभिवन्दन और कुल देवताओंको प्रणाम करवाती थी। सभी स्त्रियाँ वधूको अखंडित प्रेमकी प्राप्तिके लिये आशीर्वाद देती थीं।

वरकी माता उसे दुकूल, अंगराग और शिरोभूषणसे सजाती और मस्तक

पर हरितालका तिलक लगा देती थी। वर वधूके घरकी ओर ऐश्वर्य-पूर्वक प्रयाण करता था। कोई सेवक मार्गमें वरके सिरपर छत्र धारण करता, दूसरा चामर डुलाता और कोई पुरावृत्तका पंडित उसके उच्चकुलका इतिहास सुनाता था। वरके साथ-साथ उसके पुरोहित, बंधु-बांधव, और मांगलिक संगीत और वाद्यमें प्रवीण लोग वधूके घर आते थे। राजाओंके विवाहके अवसरपर उनके मंत्री, उपाध्याय और ऋषि लोग भी वधूके घर आते थे। जब वर वधूके घर पहुँचता था, उसका धूम-धामसे स्वागत होता था। मंगल-गान और वाद्यसे दिशायें व्याप्त हो जाती थीं। कन्याका पिता अपने बन्धु-बान्धवोंके साथ वरकी अगवानी करता था। वरकी पूजा करनेके लिये वह अर्घ्य-जल, रत्न, मधुपर्क और दो दुकूल लेकर आता था। उस समय मांगलिक मंत्रोच्चारके बीच वर प्रसन्नता पूर्वक उन्हें ग्रहण करता था।

विवाह क्रियाके लिये एक मनोरम वेदिका बनाई जाती थी। इसके ऊपर हरा-हरा कुश फैला दिया जाता था। यह वेदि चारों ओर रखे हुए सुगन्धित पुष्प, सुवर्ण शलाका, छिद्रवाले घड़े, अंकुरसे शोभायमान शराव, धूप, अर्घ्य और लावासे भरे हुए पात्रों और रंग-विरंगके अक्षतोंसे अलंकृत की जाती थी। वेदिका-पर अग्नि प्रज्वलित की जाती और उसमें कोई ऋषि हवि, शमी पल्लव और खील-से हवन करने लगता था। उसी समय वर और वधू वहांपर आते और वधू अग्निके समक्ष खड़ी हो जाती थी। कन्याका पिता हाथमें मंत्रपूत जल लेकर वरका इस प्रकार संबोधन करता था, 'यह मेरी कन्या है, तुम्हारी धर्म-सहचरी है। इसका पाणिग्रहण करो। यह पतिव्रता और यशस्विनी है और छायाकी भाँति तुम्हारा अनुसरण करेगी।' यह कह कर वह जल डाल देता था। वर और वधू प्रज्वलित अग्निकी तीन वार प्रदक्षिणा करते थे और अंतमें उसमें खील छोड़ते थे। इसके पश्चात् पुरोहित वधूसे कहता था, 'हे वत्से! यहां अग्निदेव तुम्हारे विवाहके साक्षी हैं। तुम्हें अपने पतिके साथ गृहस्थाश्रमके धार्मिक कृत्यों-को पूरा करना है।' इस समय वर वधूसे ध्रुवतारा देखनेके लिये कहता था और वधू ध्रुवतारा देख कर कहती थी, 'मैंने ध्रुवतारा देख लिया।' इस तारेके दर्शनसे वैवाहिक संबंधकी स्थिरताकी प्रतीति वधूके मनमें हो जाती थी, क्योंकि यह तारा आकाशमें स्थिर रहता है। अंतमें वर और वधू गुरुजनोंको प्रणाम करते थे और वे वधूको वीर-प्रसवा होनेका आशीर्वाद देते थे। विवाहके पश्चात् स्नातक, बन्धु-बान्धव और पुरकी स्त्रियाँ अक्षतसे वर और वधूको वधाई देती थीं। विवाह

हो जानेपर कन्या और वरके पिता यथाशक्ति अनेक प्रकारके दान योग्य व्यक्तियों-को देते थे। साधारणतया लोग गोदान करते थे।

विवाह सार्वजनिक उत्सवका समय है। इस संस्कारको भारतीय जीवनमें सदा गौरवपूर्ण पद प्राप्त हुआ है। इस देशमें विवाह केवल शारीरिक सुख और लौकिक अभ्युदयके लिये नहीं रहा है, वरं इसका प्रधान उद्देश्य आध्यात्मिक उन्नति और सामाजिक कल्याण रहा है। भारतीय दृष्टिकोणसे वैवाहिक संबंध केवल एक ही जीवन भर नहीं रहता। वह मृत्युके पश्चात् भी दृढ रहता है। विवाह संस्कारसे ही वर और वधूका जीवन सर्वथा पूर्ण माना जाता था, जैसा कि शिव और पार्वतीके अर्धनारीश्वर-मूर्त्तिमें मिलता है। पत्नी वास्तवमें पतिकी अर्द्धाङ्गिनी बनती है। इस प्रकार देखने पर भारतीय विवाह-पद्धति सामाजिक उपयोगिताकी दृष्टिसे सार्थक है।

योग्य वरको खोज निकालनेकी समस्या पिताके सामने कभी नहीं उठती थी। वर अथवा उसका पिता कन्याकी योग्यताकी परीक्षा करके विवाहके लिये अपनी स्वीकृति दे देते थे। कभी-कभी सुयोग्य वर स्वयं कन्याके पितासे उसकी गुणवती कन्याके लिये प्रार्थना करते थे। कन्याका पिता वरके विषयमें उसकी इच्छाका ध्यान रखता था और अभीष्ट वरको प्राप्त कर लेनेमें सब प्रकारकी सुविधा देता था। ब्राह्मणोंके विवाह प्रायः ब्राह्मरीतिसे होते थे। इसके अनु-सार कन्याका पिता किसी सुशील और चरित्रवान् स्नातकको बुला कर उसको अपनी कन्या दानके रूपमें दे देता था। ऐसे विवाहके लिये कन्याके पिताका वरके पांडित्य और आचार-व्यवहारसे प्रभावित होना आवश्यक ही था। दैव विवाहके लिये वर कन्याके पिताके घर सुचारु रूपसे यज्ञ सम्पादन करता था और दक्षिणाके रूपमें कन्या उसे दे दी जाती थी। कभी-कभी कन्याका पिता धार्मिक-कृत्य सम्पादन करनेके लिये वरसे एक या दो जोड़े गाय और बैल लेकर उससे अपनी कन्याका विवाह कर देता था। यह विवाह प्रायः वनवासी ऋषियोंकी सुविधाके लिये था। वर, जो गृहस्थाश्रममें प्रवेश करना चाहता था, प्रायः समृद्धिशाली होता था और गाय और बैल देकर ऋषिका यज्ञ करनेमें सहायक होकर पुण्यका भागी बनता था। कन्याके लिये शुल्कके रूपमें कुछ भी लेना मनुस्मृतिके अनुसार महान् पाप माना गया है। आर्ष विवाहमें गाय और बैल लेना शुल्कके रूपमें नहीं होता था। प्राजापत्य विवाहकी रीति साधारण लोगोंमें बहुत प्रचलित थी। इस प्रकारके विवाहमें कन्याका पिता वर और वधूको

गृहस्थाश्रमकी सीख देता था और वरकी पूजा करके उसे अपनी कन्या धार्मिक विधिसे दे देता था। कभी-कभी विदुषी ब्राह्मण-कन्यायें वरके साथ शास्त्रीय विवाद करके उसकी योग्यताका परिचय प्राप्त करती थीं। ऐसी दशामें वरके विजयी होनेपर विदुषी कन्या स्वयं उस वरके साथ विवाह करने की स्वीकृति दे देती थी। इन रीतियोंसे प्रायः ब्राह्मणोंके विवाह होते थे।

क्षत्रिय कुमारोंके विवाह प्रायः उनके क्षात्र-बलकी उत्कृष्टतासे निश्चित होते थे। कन्याका पिता चाहता था कि मेरी कन्याका विवाह किसी वीर, उच्च कुलमें उत्पन्न और युद्धमें प्रवीण क्षत्रिय-कुमारसे हो। योग्य वर पानेका सबसे सरल उपाय था—स्वयंवरमें क्षत्रिय कुमारोंको निमन्त्रित कर देना। स्वयंवरके समय प्रायः उनके तेज, अस्त्र-शस्त्र-कौशल और बलकी परीक्षा भी ली जाती थी। कभी-कभी स्वयंवरमें कुमारोंके प्रताप और सौन्दर्यमात्रके वर्णनसे कुमारी वर चुन लेती थी। महाभारतमें दमयन्तीका स्वयंवर इसी प्रकारका रचा गया था। द्रौपदीके विवाहके लिये जो स्वयंवर हुआ था, उसमें घूमते हुए यन्त्रके छिद्रोंमेंसे अधिकसे अधिक पाँच वाणोंके द्वारा लक्ष्य-वेध करना आवश्यक था। सीताके स्वयंवरमें रामको शिवका धनुष उठाना पड़ा था। कभी-कभी क्षत्रिय-पिता युद्धमें सहायता करनेवाले कुमारके बलसे प्रसन्न होकर उसे अपनी कन्या देनेका निश्चय कर लेता था। प्राचीनकालमें क्षत्रियोंका विवाह प्रायः स्वयंवरकी रीतिसे होता था। जिन विवाहोंमें यथाशक्ति धन देना आवश्यक होता था, अथवा बल-प्रयोगसे वधूकी प्राप्ति संभव होती थी, उसे आसुर विवाह कहते थे। कभी-कभी वीर क्षत्रिय-कुमार कन्याओंका बल पूर्वक अपहरण करते थे। ऐसी कन्याओं-का विवाह राक्षस-विधिके अनुसार कर दिया जाता था। अर्जुनने विवाहके लिये सुभद्राका हरण किया था और द्वारकामें विधिपूर्वक उनका विवाह संस्कार संपन्न हुआ। कभी-कभी स्वच्छन्द वर और वधूमें एक दूसरेके प्रति सौन्दर्यके आकर्षण और कामवृत्तिके कारण अभिरुचि उत्पन्न होनेपर वे एक दूसरेसे मिलनेकी युक्ति निकाल कर वैवाहिक संबंध स्थापित कर लेते थे। ऐसे वर-वधूके विवाह गन्धर्व-विधिसे संपन्न समझे जाते थे। अभिज्ञान-शाकुन्तलमें दुष्यन्त और शकुन्तलाका विवाह गन्धर्व-रीतिसे हुआ है। पैशाच विवाह सबसे अधिक निम्न कोटिका माना गया है। इस विधिसे केवल पैशाचवृत्तिके लोग ही विवाह करते थे। किसी सोई हुई, प्रमत्त अथवा असहाय कन्यासे, उसकी इच्छा न होनेपर बल पूर्वक जो विवाह किया जाता था, उसे पैशाच विवाह कहते थे।

ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य विधिके विवाह ब्राह्मणोचित प्रतीत होते हैं। क्षत्रिय-कुमारोंके विवाहके लिये स्वयंवरकी प्रथा उनके क्षात्र धर्मके सर्वथा अनुकूल थी। बल-प्रयोगसे विवाह कर लेनेकी मनोवृत्ति अत्यन्त निन्दनीय है और आर्यसभ्यताके प्रतिकूल पड़ती है। गान्धर्व विधिके विवाहोंका प्रचलन प्राचीन कालमें भी अपवाद स्वरूप रहा है। इस विधिके विवाहोंसे सांस्कृतिक पवित्रता और सामाजिक दृढता नहीं रह जाती है। आसुर, गांधर्व, राक्षस और पैशाच विवाहोंका प्रचलन सामाजिक उच्छृंखलताका द्योतक है। विवाहकी ये निम्न प्रणालियाँ उस समय प्रारंभ हुई थीं, जब भारतवासी अर्धसभ्य थे। प्रायः समान वर्णके वर-वधूका विवाह उत्तम माना जाता था, किन्तु असवर्ण विवाहोंका भी उल्लेख कहीं-कहीं मिलता है। ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य अपनेसे नीचेके अन्य वर्णोंकी कन्याओंसे विवाह कर सकते थे। अपनेसे ऊँचे वर्णकी कन्याओंसे विवाह केवल अपवाद रूपमें होते थे। ऐसे विवाह समाजमें निन्दनीय गिने जाते थे। विवाहके लिये माता और पिताके समान पिंड और गोत्रमें उत्पन्न कन्यायें नहीं चुनी जाती थीं। विवाहके लिये सौन्दर्यशालिनी, मधुर नाम और उदार-चरित वाली एवं उत्तम कुलकी मंजुभाषिणी कन्यायें वरेण्य थीं।

विवाहका महत्त्व

भारतीय जीवनमें विवाह-संस्कार महत्त्वपूर्ण है। इसके द्वारा पुरुषको अपने जीवन भरके लिये सच्चे मित्र, कुशल गृह-प्रबन्धक और गृहस्थाश्रमके लिये सहचरके रूपमें पत्नी मिलती थी। ऋग्वेदके अनुसार विवाहके समय वर वधूसे कहता था, 'मैं सौभाग्यशाली होनेके लिये तुम्हारा पाणि-ग्रहण करता हूँ। मैं जीवन भर तुम्हारा पति बन कर रहूँगा।' विवाहके अवसरपर वह समझता था कि भग, अर्यमा, सविता इत्यादि देवताओंने गृहस्थाश्रम धर्मका पालन करनेके लिये मुझे वधू दी है। वह विवाह-संबंधको सांसारिक नहीं समझता था, वरं इसको दैवी विधान मानता था। इस प्रकार पतिका दृढ विश्वास होता था कि इस दैवी विधानका उल्लंघन नहीं हो सकता है और विवाहका संबंध किसी प्रकार तोड़ा नहीं जा सकता है। पतिकी मृत्यु हो जानेपर स्त्री सती नहीं होती थी। वैदिक कालमें विधवा स्त्रियोंका पुनर्विवाह हो सकता था। याज्ञवल्क्य और पराशरने भी स्त्रियोंके दूसरे विवाहका उल्लेख किया है। पुराणोंमें पतिके

मरनेपर स्त्रियोंके सती होनेके सर्वप्रथम उल्लेख मिलते हैं। इनमें विधवा-विवाहका निषेध किया गया है।

विवाहके समय वरवधूको विश्वास दिलाता था कि तुम मेरे साथ सात पद चल कर मेरी सहचरी बन गई हो। वह पत्नीसे कहता था, 'मेरी कामना है कि मैं सदैव तुम्हारी मित्रताका पात्र बना रहूँ और कभी मेरे और तुम्हारे बीच भेद-भाव उत्पन्न न हो। हम लोग सम्मिलित जीवन व्यतीत करें। आओ, हम तुम मिल कर निश्चय कर लें कि जीवन भर प्रेम-भावके द्वारा एक दूसरे की संगतिमें प्रकाशमान होकर एक दूसरेके लिये कल्याण-भावना रखेंगे—और जीवनके सभी भोग-विलासोंका आनंद एक साथ उठायेंगे। हम लोगोंके विचार, कर्तव्य और आदर्श एक होंगे।' ऋग्वेदके अनुसार पत्नी गृह है। इसीसे पत्नीका गृहिणी नाम सार्थक होता है। मनुस्मृतिमें कहा गया है कि गृहस्थके लिये घर वास्तवमें घर नहीं है, अपितु गृहिणी ही वास्तविक घर है। भारतीय जीवनमें स्त्रियोंका स्थान सदा गौरवपूर्ण रहा है। वे घरका सारा प्रबंध करतीं, पतिको उचित सम्मति देतीं और पतिके निरीक्षणमें ललित कलाओंका अभ्यास भी करती थीं। पतिके प्रत्येक कार्य-क्षेत्रमें उनका साहचर्य आवश्यक था। ऐसी ही पत्नीके विषयमें कालिदासने लिखा है :—

गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।

धार्मिक कृत्योंमें स्त्रियाँ सदैव पति के साथ ही रहती थीं। विवाहकी अग्नि पत्नीके साथ पतिके घरपर लाई जाती थी और वह पति और पत्नीके विवाह-संबंधका सूचक रख कर नित्य हवन द्वारा प्रज्वलित की जाती थी।[1] यही गृहस्थाश्रमकी गृह्यअग्नि होती थी और वानप्रस्थाश्रममें पति-पत्नीके वनमें जानेपर भी यत्नपूर्वक सुरक्षित रखी जाती थी। इसी अग्निसे पत्नी प्रतिदिन भोजन भी पकाती थी। गृह्यअग्निमें पति-पत्नी साथ ही नित्य प्रातःकाल और संध्याके समय हवन करके अभीष्ट देवताओंको तृप्त करते थे। प्रत्येक अवसरपर जब कभी पति देवताओंकी संतुष्टिके लिये हवि देता था, तो स्त्री भी साथ ही साथ हवि देती थी। ऋग्वेदके अनुसार पति-पत्नी एक रथमें जुटे हुए दो घोड़ोंकी

---

[1] अग्निका उपयोग मानवताकी विशेषता है। मनुष्येतर प्राणी इसका उपयोग नहीं करते। भारतीय जीवनमें अग्निका महत्त्व संस्कृतिके आदिमकालकी स्मृति कराता है।

भाँति हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मणके अनुसार पत्नी-रहित व्यक्तिके लिये किसी यज्ञका विधान ही नहीं है। पाणिनिने पत्नी शब्दकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि स्त्रीको पत्नी इसीलिये कहते हैं कि वह यज्ञके समय सदैव पतिके साथ रहती है।

इन संस्कारोंके द्वारा मनुष्यकी आन्तरिक और बाह्य शुद्धि होती थी। वह ऋषियोंकी भाँति हो जाता था। गौतमने लिखा है कि इन संस्कारोंमें गुण तो बहुतसे भरे हैं, किन्तु जिस मनुष्यमें आत्म-गुण न हों उसके लिये संस्कारोंका महत्त्व कुछ नहीं है। ब्रह्मसे एकता नहीं हो सकती है। गौतमके अनुसार मनुष्यको उच्च बनाने वाले आठ आत्मगुण—दया, चित्तकी शुद्धि, उदारता, लोक-कल्याण-की भावना, अस्पृहा (लालचका न होना), अनायास (थकावटका न होना), क्षमा और घृणाका अभाव हैं। मनुष्यको इन्हीं गुणोंसे सुशोभित होना चाहिये। इन गुणोंसे मनुष्य ब्रह्मकी प्राप्ति कर सकता है और शाश्वत सुख भोग सकता है।

तृतीय अध्याय

आश्रम

प्राचीन कालमें भारतवासी प्राय: दीर्घजीवी होते थे। ईशोपनिषद्‌में लिखा है कि मनुष्यको सौ वर्ष जीनेकी कामना करनी चाहिये। उस समय प्राय: लोगोंकी यही कल्पना थी कि हम सौ वर्ष जीवित रहेंगे। सौ वर्षका यह कल्पित जीवन चार आश्रमोंमें विभक्त किया गया था। जीवनका प्रथम आश्रम ब्रह्मचर्य है। इस आश्रममें विद्यार्थी आचार्य-कुलमें अपने शेष तीनों आश्रमोंके योग्य होनेके लिये शिक्षा प्राप्त करता था। विद्यार्थी अपने भरण-पोषणके लिये प्रकृति और समाजकी उदारता पर निर्भर रहता था। वह ब्रह्मचर्याश्रममें इस उदारताके परिचयसे कृतज्ञ होकर विद्यार्थी जीवनके पश्चात् गृहस्थाश्रममें प्रकृति और समाज का ऋण चुकाता था और केवल अपना न रह कर सारे समाज और प्रकृतिका होता था। वह अपनी योग्यतासे यथाशक्ति समाजकी सेवा करता और प्रकृति-की रक्षा करता था। विद्यार्थी-जीवनमें अर्जित ज्ञानकी सहायतासे वह गृहस्था-श्रममें विश्वकी विभूतियोंका यथासंभव उपभोग करता था। यह उपभोग प्राय: शारीरिक होता था। शारीरिक सुखकी सरसताका अनुभव युवावस्था तक ही सीमित रह जाता है। प्राचीन कालमें युवावस्थाके पश्चात् बुद्धिमान् मनुष्य विषय-भोगकी सारहीनताका अनुभव कर लेता था और गृहस्थाश्रमको त्याग कर जीवनके वास्तविक उद्देश्यकी खोजमें वनकी ओर चल देता था। यहां एक वार और वह प्रकृतिकी शरणमें पूर्णरूपसे आ जाता और ऋषियों तथा तपस्वियों से तत्त्वज्ञान सीखता था। यही वानप्रस्थ आश्रम था। वानप्रस्थके पश्चात् जीवनका अन्तिम भाग संन्यास या कर्म-योग प्रारंभ होता था। इस आश्रममें मनुष्य पूर्णतया नि:स्पृह हो जाता था। उसके लिये सुख-दु:ख, जय-पराजय, लाभ-हानि और शीत-उष्ण सभी समान होते थे। या तो वह लौकिक कल्याणके लिये पुन: संसार-क्षेत्रमें अवतीर्ण होकर समाजका नेता बन जाता था अथवा सब कुछ त्याग कर संसारमें पूर्ण रूपसे निर्लिप्त होकर मुक्त हो जाता था। इन आश्रमोंमें लोग उचित कर्तव्योंका पालन करते हुए नित्य आध्यात्मिक उन्नति

करते थे। श्रमके द्वारा ही जीवनका पूर्ण विकास संभव हो सकता है, इसी लिये जीवनके उपर्युक्त चार विभागोंका नाम आश्रम (आ+श्रम) पड़ा है।[1]

ब्रह्मचर्याश्रम

(विद्यार्थी-जीवन)

ब्रह्मचर्याश्रमका समय प्राचीन भारतमें प्रायः वेदोंके अध्ययनमें बीतता था। ब्रह्म शब्दका एक अर्थ वेद भी है। ब्रह्मचर्यका तात्पर्य है वेदाध्ययन। ब्रह्मचर्याश्रममें संभवतः पहले केवल वेदोंका ही अध्ययन प्रधान रूपसे किया जाता था, किन्तु धीरे-धीरे अध्ययनका क्षेत्र बढ़ता गया और इस आश्रममें लोग विविध विषयोंका अध्ययन करने लगे। फिर भी वैदिक साहित्यका अध्ययन भारतीय जीवनमें महत्त्वपूर्ण रहा है।

अध्ययनका क्षेत्र सबके लिये निर्बाध रूपसे खुला था। यों तो प्रायः बालक ही शिक्षण संस्थाओंमें अधिकसे अधिक संख्यामें मिलते थे, किन्तु बालिकायें भी अध्ययन करके विदुषी बनती आई हैं।[2] ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र सभी ज्ञानकी प्यास होनेपर यथेच्छ अध्ययन करते थे। विश्वावरा, घोषा, अपाला आदि कन्याओंने पूर्ण रूपसे अध्ययन करके वैदिक मंत्रोंकी रचना की है। वे वैदिक वाद-विवादमें भाग लेती थीं और सामाजिक उत्सवोंमें पुरुषोंके साथ जाती थीं। कन्याओंको दर्शनकी उच्च शिक्षाके साथ ही नृत्य और संगीत आदि ललित कलाओंकी भी शिक्षा दी जाती थी। अनार्य जातिकी कन्यायें प्रायः युद्ध-कलाकी शिक्षा प्राप्त करती थीं और वे युद्ध-भूमिमें भी जाती थीं। वैदिक आर्य-ललनाओं-को प्रायः गृह-लक्ष्मी बननेकी शिक्षा दी जाती थी। शूद्रोंकी शिक्षाका उल्लेख छान्दोग्योपनिषद् और महाभारतमें मिलता है। इस उपनिषद्के अनुसार केकय राजाके राज्यमें कोई भी अशिक्षित नहीं था। मनुने शूद्र शिष्यों और गुरुओंका उल्लेख किया है। महाभारतमें व्यासने गुरुओंको निर्देश किया है कि कक्षामें ब्राह्मणोंको आगे रखकर चारों वर्णोंको शिक्षा दें। भारतीय विद्यालयोंमें विदेशोंसे

---

[1] धर्म-सूत्रके अनुसार जो व्यक्ति यथासमय इन चारों आश्रमोंको अपनाता नहीं था, समाज उसका बहिष्कार कर देता था।

[2] पाणिनिने वैदिक पाठशालाओंमें कन्याओंके पढ़नेका उल्लेख किया है। उनके लिये जो छात्रालय बनते थे उनका नाम छात्रीशाला था। ६.२.८६

आये हुए विद्यार्थियोंका भी प्रवेश हो जाता था और उनको बहुतसी विशेष सुविधायें मिल जाती थीं।

शिक्षाकी रूप-रेखा

बच्चोंकी शिक्षा घरपर प्रारंभ हो जाती थी। आरंभमें बालक मांसे शिक्षा पाता था। माता बालकमें धार्मिक अभिरुचि उत्पन्न कर देती थी और उसे वीर बननेके लिये उत्साहित करती थी। बच्चोंको बतलाया जाता था कि पशु-पक्षी भी उनके स्नेहके पात्र हैं और पौधोंके प्रति भी सहानुभूति रखनी चाहिये। बचपनमें ही सारे विश्वमंडलके निरीक्षक ईश्वरके प्रति विश्वास उत्पन्न कराया जाता था। पिताकी शिक्षामें सहकारिताका पाठ प्रधान था। कुटुम्बमें रहकर बालक पितासे सहानुभूति, स्नेह, सेवा और त्यागकी शिक्षा पाता था। पिता वृक्षों और लताओंके बीच बैठकर बच्चोंके हृदयमें प्रकृतिके प्रति प्रेम जाग्रत् करता था और पुराणों और इतिहासोंके आदर्श महापुरुषोंके चरित कहानीके रूपमें सुनाकर उनके चरित्र और व्यक्तित्वका विकास कराता था, एवं उनमें सरस भावनाओंका अंकुर उपजाता था। दस वर्षकी अवस्था होनेके पहले ही बच्चे उपनयन संस्कारके लिये आचार्य कुलमें भेज दिये जाते थे और यहाँपर वे लौकिक, वैदिक और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करते थे। शिक्षाका क्रम जीवनभर चलता रहता था। ब्रह्मचर्याश्रमके पश्चात् जब स्नातक गृहस्थ बन जाते थे उस समय वानप्रस्थ और संन्यासाश्रमके महर्षि अतिथि बनकर आते थे और उनको शील और आचार-व्यवहारकी शिक्षायें देते थे तथा जीवनकी समस्याओंका उचित समाधान निकालकर उनको कर्तव्य-पथका ज्ञान करा देते थे। वानप्रस्थ आश्रममें लोग प्रायः आरण्यकों और उपनिषदोंका अध्ययन करते थे। संन्यास लेनेपर भी लोग जीवन्मुक्त दार्शनिकोंकी शरणमें जाकर इहलौकिक और पारलौकिक अस्तित्वके विषयमें अपनी शंकाओंका समाधान करते थे।

शिक्षण-संस्थायें

वैदिक कालमें ब्रह्मचारी प्रायः आचार्यके घरपर रहकर अध्ययन करते थे। आचार्य लोग अध्ययन-शालाके लिये गाँवोंसे दूर वनकी निर्जन और शान्तिपूर्ण भूमि चुन लेते थे। इन्हीं वनोंकी शस्य-श्यामला प्रकृतिके बीच प्रायः गुरुकी गौवें चराते हुए ब्रह्मचारी अपना विद्यार्थी-जीवन प्रारंभ करता था। ऋषियोंके आश्रममें हजारों विद्यार्थी विभिन्न देशोंसे आकर कुटुम्बियोंकी भाँति रहते थे।

प्रयागमें भरद्वाजके विद्यापीठमें सहस्रों विद्यार्थी शिक्षा पाते थे। प्राचीन कालसे ही तक्षशिला शिक्षाका प्रधान केन्द्र रहा है। यहींपर आचार्य धौम्यके विद्यार्थी उपमन्यु, अरुणि और वेदने शिक्षा पाई थी। नैमिष आश्रमके कुलपति शौनक थे। कण्वके आश्रममें उच्च कोटिकी वैदिक शिक्षा दी जाती थी। यहांपर दर्शन, अध्यात्म-विद्या, तर्क, विज्ञान और ललित कलाओंकी शिक्षा दी जाती थी। ऐसे ही आश्रमोंके संचालक वसिष्ठ, विश्वामित्र और व्यास भी थे। कुरु-क्षेत्रके समीप एक आश्रममें स्त्रियोंको उच्च कोटिकी शिक्षा दी जाती थी। सबसे अधिक प्रसिद्ध विश्वविद्यालय तक्षशिला, उज्जैन और बनारसमें थे। तक्षशिलामें आयुर्वेद और शिल्पकला, उज्जैनमें ज्योतिष और बनारसमें दर्शन और धर्मकी ऊँची शिक्षा देनेका विशेष प्रबंध किया गया था। दक्षिण भारतमें अमरावती और काठियावाड़में वलभीके विश्वविद्यालयोंमें विविध विषयोंकी ऊँची शिक्षा दी जाती थी। प्रायः सारे भारतमें छोटे-मोटे आचार्योंके आश्रम बने हुए थे जहां ब्रह्मचारी आकर प्रारंभिक शिक्षा ग्रहण करते थे और फिर आगे पढ़नेके लिये किसी प्रसिद्ध आचार्यके आश्रममें चले जाते थे।

बौद्ध कालमें अध्ययनकी व्यवस्थामें सुधार हुआ। उस समय शिक्षाका प्रबंध नगरोंके समीप विहारोंमें किया गया था। फाह्यानने लिखा है कि पाटलि-पुत्र शिक्षाका प्रसिद्ध केन्द्र है। यहांपर महायान और हीनयानके दो मठ हैं जिनमें लगभग ७०० बौद्ध भिक्षु अध्ययन करते हैं। यहांपर राधास्वामी और मंजुश्री नामके दो प्रकांड बौद्ध पंडित शिक्षणकार्य करते हैं। स्त्रियोंको धर्मदत्ता, शोणा और कृशा गौतमी शिक्षा देती हैं। स्त्रियाँ दर्शनकी उच्च शिक्षा प्राप्त करती हैं। सौमा, श्वेमा, अनुपमा और सुजाता इत्यादिने बौद्ध दर्शनका अध्ययन किया था। नालन्दाके विश्वविद्यालय[1]में लगभग दस हजार विद्यार्थियोंके अध्ययनका प्रबंध था। ह्वेनसांगने इसी विद्यालयमें शिक्षा पाई और अन्तमें इसका उपाध्यक्ष बनाया गया था। नालन्दाके विश्वविद्यालयके सघन कुंजों और उपवनोंमें ह्वेन-सांगका मन रमता था। वहाँके मनोरम कासारोंके रुचिर जलमें नील पद्म अपनी पंखुरियोंका विकास करते थे। विद्यालयकी शोभा कनक वृक्षोंसे और बढ़

---

[1] इस विश्वविद्यालयमें मौखिक परीक्षा लेकर विद्यार्थियोंका प्रवेश किया जाता था। लगभग ५ प्रतिशत विद्यार्थी प्रवेश पानेमें सफल होते थे।

जाती थी, इनके रक्तिम कुसुमोंके गुच्छे मनोहर प्रतीत होते थे। आम्रमंजरी और उसके हरित पत्र मनको मोह लेते थे। नालन्दाकी जलघटिकासे सारे मगध-को समयका ज्ञान होता था। कई राजाओंने उसे इतनी भूमि प्रदान की थी कि उसमें ३०० गाँव बस सकते थे। विद्यालयके समीप दस स्नानागार बने हुए थे। नहानेके समय घंटा बज उठता था। ह्वेनसांग इस विद्यालयका वर्णन करते हुए लिखता है, 'इस विद्यालयका मानमन्दिर प्रातःकालके कुहरेमें अदृश्य हो जाता है। इसके ऊपरके कमरे मानों बादलमें छिपे रहते हैं। पर्वतोंके समान ऊँचे विद्यालयोंके शिखरपर ललित-कलाओंकी शिक्षा दी जाती है। इनकी खिड़-कियोंसे लोग वायु और बादलोंके परिवर्त्तनका अनुमान कर लेते हैं। यहींसे सूर्य और चन्द्र भी दिखाई पड़ते हैं। बाह्य मन्दिरके चार विभाग हैं। इसकी बलभि रंगीन है और इसके लाल स्तंभोंपर चित्र उत्कीर्ण हैं। स्तंभोंका प्रसाधन-कर्म मनमोहक है। कठरोंको विविध प्रकारसे अलंकृत किया गया है। छतके खपड़ोंसे प्रतिफलित होकर सूर्यरश्मि सहस्रों भागोंमें बिखर जाती है। इन मन्दिरोंके बनानेमें सुन्दर ईंटोंको इस प्रकार जोड़ा गया है कि उनके जोड़ दिखाई नहीं पड़ते। नालन्दाके विद्यालयकी कीर्ति एशियाके सभी देशोंमें फैली हुई थी। नालन्दाका विद्यार्थी होना एशिया भरमें गौरवपूर्ण समझा जाता था। यहांपर पढ़नेके लिये चीन, तिब्बत और जापानसे बहुतसे विद्यार्थी आते थे। कभी-कभी तो कोरिया, मंगोलिया और बोखारा तकसे विद्यार्थी आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। ये विद्यार्थी भारतीय संस्कृतिके रंगमें रँगकर अपने देशोंमें भार-तीयताका प्रचार करते थे। ऐसे ही बौद्ध विद्यालय नगरधन, जलन्धर, मतिपुर, भद्रविहार, पूर्वशैल, अवरशैल, कांचीपुर, पुष्करावती, उद्यान और रक्तामृतमें भी थे। सारे देशमें लगभग ५००० बौद्ध विहार थे, जिनमें सभी जाति और धर्मके विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।'

धीरे-धीरे विहारोंका स्थान विद्यापीठोंने ले लिया। विद्यापीठ आध्यात्मिक शिक्षाके केन्द्र थे और धार्मिक आचार्योंने इनको स्थापित किया। शैवों और वैष्णवोंने धार्मिक शिक्षा देनेके लिये मठोंकी स्थापना की। दक्षिण भारतमें मन्दिरोंमें विद्यालयोंकी स्थापना हुई। इन मन्दिरोंको जो दान मिलता था, उससे बड़े-बड़े विद्यालय, छात्रालय, औषधालय और सभा-भवन बनते थे। कोडियमठ, हिरण्यमठ, पंचमठ और तिपुरान्तकके विद्यालयोंमें शिक्षाका द्वार सबके लिये खुला था। शंकराचार्यने कई मठोंमें विद्यालय खोलकर सार्वजनिक शिक्षाका

प्रबंध किया। ऐसे विद्यापीठ कांचीपुर, शृंगेरी, द्वारका, बदरी और जगन्नाथ-पुरीमें खुले थे।

प्राचीन कालके भारतीय राजा प्रजाकी शिक्षाके लिये प्रयत्न करते थे। राजाओंकी ओरसे शिक्षा देनेके लिये विद्वान् नियत किये गये थे। कभी-कभी शिक्षण-कार्य करनेके लिये ब्राह्मण विद्वान् 'भट्टवृत्ति' और 'अग्रहार' देकर नियत किये जाते थे।

प्रायः विद्यालय नगरोंसे दूर स्वास्थ्यप्रद स्थानोंमें बनवाये जाते थे। इन विद्यालयोंके रँगीले खपरैल, हरे-भरे कुंजों और घासके मैदानोंसे आँखोंमें चकाचौंध नहीं होती थी। स्वास्थ्य-रक्षाके लिये भ्रमण और स्नानकी उचित व्यवस्था की गई थी। विद्यार्थी प्रायः इतना शारीरिक श्रम कर लेते थे कि उनको ऊपरसे व्यायाम करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी।

अध्ययनके विषय

भारतीय शिक्षाका लक्ष्य विद्यार्थीको समाजका उपयोगी अंग बना देना था। शिक्षाके द्वारा विद्यार्थीके चरित्रको विकसित करनेका प्रयत्न किया जाता था। विद्यार्थीके आध्यात्मिक उत्थानके लिये दार्शनिक ज्ञानकी शिक्षाको प्राचीन भारतमें सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। प्रायः आचार्य प्रयत्न करते थे कि विद्यार्थीको दृढ़ विश्वास हो जाय कि मानवकी शक्ति असीम है, वह विश्वकी अधिकसे अधिक शक्तियोंको संयोजित करके किसी दिशामें लगा सकता है। आचार्य चाहता था कि विद्यार्थी अपनी शक्तियोंको पूर्णरूपसे विकसित करें और उसके द्वारा विश्वकल्याणके मार्गमें लग जायँ और स्वयं भी सुख और शान्तिका जीवन बितायें। यह शिक्षा सभी विद्यार्थियोंको अनिवार्य रूपसे दी जाती थी। इसके अतिरिक्त ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र विद्यार्थी अपनी-अपनी प्रवृत्तियोंके अनुकूल अध्ययनका क्षेत्र चुन लेते थे जिससे गृहस्थाश्रममें अपनी व्यक्तिगत और सामाजिक आवश्यकताओंकी पूर्ति कर सकें। भारतवर्षमें शिक्षाका क्षेत्र बहुत विस्तृत रहा है। शिक्षाके द्वारा विद्यार्थी जीवनके प्रायः सभी कार्य-क्षेत्रोंके लिये उपयोगी सिद्ध होते थे।

वैदिक कालमें उपनयनके पश्चात् ही विद्यार्थीको शारीरिक और मानसिक शुद्धिके लिये नित्य-कर्मकी शिक्षा दी जाती थी। उसे स्नान, आचमन, सन्ध्योपासन और होम करनेकी विधि बतलाई जाती थी। नित्यकर्म सीख लेनेपर

विद्यार्थी वेद और वेदांगोंका अध्ययन करना प्रारंभ करता था। वह चारों वेदोंका व्याख्या-सहित अर्थ जानकर उन्हें कंठाग्र कर लेता था। वेदोंके अध्ययनके साथ ही वह वेदांगों—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिषका अध्ययन करता था। शिक्षासे शब्दोंके शुद्ध उच्चारणका ज्ञान होता था, कल्पमें यज्ञ करनेकी विधि सिखाई जाती थी और निरुक्तसे वैदिक साहित्यके कठिन शब्दोंका अर्थ धातुकी व्याख्या करके बतलाया जाता था। तेजस्वी ब्रह्मचारियों-को दर्शनके गूढ़ तत्त्वोंकी शिक्षा भी दी जाती थी। छान्दोग्योपनिषद्में तत्कालीन अध्ययनके कुछ विषयोंका नाम यों मिलता है—चारों वेद, पुराणेतिहास, वेदोंका वेद (व्याकरण) पैत्रिक कर्म, राशि (गणित), दैव (भौतिकविज्ञान), निधि (समयविज्ञान), वाकोवाक्य (तर्क), एकायन (नीति), देवविद्या (निरुक्त), ब्रह्मविद्या (वेदपाठसंबंधी), भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या और देवजनविद्या (शिल्प और कलायें)। इस देशमें चिरकालसे लगभग यही अध्ययन और अध्यापनके विषय रहे हैं।

बौद्ध और जैन विद्यालयोंमें दर्शनोंकी शिक्षाके साथ ही साथ लौकिक उप-योगिताके विज्ञानोंकी शिक्षाका प्रबंध किया गया था। नालन्दाके विद्यालयमें बौद्ध दर्शनके साथ-साथ कृषि, आयुर्वेद, पशु-विज्ञान, कलाकौशल और शिल्पकी शिक्षा दी जाती थी। इन विषयोंकी शिक्षाके लिये अलग-अलग विभाग बने हुए थे। ह्वेनसांग समसामयिक शिक्षण विधिका वर्णन करते हुए लिखता है—

बच्चोंको बढ़ावा देनेके लिये पहले द्वादश अध्यायवाली "सिद्धवस्तु" पुस्तक पढ़ाई जाती है। सात वर्ष या इससे अधिक अवस्था होनेपर पंचविद्याओंकी शिक्षा दी जाती है। पहली विद्या शब्दविद्या है। इसमें शब्दोंके मेलका विवरण है और धातुओंकी सूची दी गई है। दूसरी शिल्पस्थान विद्या है जिसमें शिल्प, यंत्र बनानेका विज्ञान, ज्योतिष और तिथि-पत्रका वृत्तान्त है। वैद्यक-शास्त्र तीसरी विद्या है। इस विद्यामें शरीर-रक्षा, गुप्त मंत्र, औषधि-संबंधी धातुओं, शस्त्रचिकित्सा और जड़ी-बूटियोंका निदर्शन है। चौथी हेतुविद्या है, जिसके द्वारा सत्यासत्यका विवेक तथा शुद्ध और अशुद्धका निदान होता है। अन्तिम विद्या आध्यात्म संबंधी है जिसके द्वारा पंचयान,[१] उनका कारण, फल तथा सूक्ष्म

---

[१] पंचयान बौद्ध लोगोंकी धर्मोन्नतिकी कथायें हैं:—(१) बुद्धदेवका यान

प्रभावका विवेचन किया जाता है। बौद्ध कालमें वैद्यककी शिक्षाकी विशेष प्रगति हुई। बौद्ध धर्मके प्रसिद्ध वैद्य जीवकने किसी प्रसिद्ध आयुर्वेदाचार्यके निरीक्षणमें सात वर्षोंतक चिकित्सा-पद्धतिका अध्ययन किया था। सातवीं शताब्दीकी आयुर्वेद शिक्षाके बारेमें इत्सिंग लिखता है कि इसके आठ विभाग हैं—(१) फोड़े-की चिकित्सा, (२) ऊर्ध्वांग-चिकित्सा, (३) शारीरिक रोग, (४) मानसिक रोग, (५) विष-चिकित्सा, (६) शिशु-चिकित्सा, (७) काया-कल्प और (८) पैर और शरीरमें बल बढ़ाना।

कला-कौशल और शिल्पकी शिक्षा लोग प्रायः इन विषयोंके विशेषज्ञोंके अधीन शिष्य बनकर ग्रहण करते थे। इनका ज्ञान उत्तराधिकारके रूपमें मिलता था। पुत्र पिताके व्यवसायमें सहज ही निपुण हो जाता था। जातकोंमें राज-कुमारोंका भी इसी प्रकार शिष्य बनकर कुम्भकार, माली और पाचकके काम सीखनेका उल्लेख मिलता है। प्राचीन कालमें लोग कला-कौशल बहुत मन लगाकर सीखते थे और इसके द्वारा अपनी जीविका अर्जित करते थे। विना कला-कौशल सीखे हुए राजघरानेमें भी कोई अपनी जीविका नहीं प्राप्त कर सकता था। ऐसे शिष्योंके काम करनेसे गुरुकी भी आय बढ़ जाती थी। वह विद्या-र्थियोंको निःशुल्क काम सिखाता था। प्राचीन भारतमें हाथीके दाँतका काम, कपड़ा बुनना, सुगंधित द्रव्य बनाना, बढ़ई और लोहारका काम सभी सीख सकते थे। प्रायः कन्याओंको नृत्य और संगीतकी शिक्षा दी जाती थी। उन विषयोंकी शिक्षा वे पिता और पति दोनोंके घरपर विशेषज्ञोंसे पाती थीं।

राजकुमारको रूप, लेख और गणनकी शिक्षा दी जाती थी। रूपकी शिक्षासे वह व्यापारगणितमें पटु हो जाता था। लेखके द्वारा उसे लिखनेका अभ्यास हो जाता था और गणनकी शिक्षासे अंकगणितका ज्ञान प्राप्त करता था। इसके पश्चात् राजकुमार वेदों और दर्शनोंका अध्ययन करता था और अर्थशास्त्र और राजनीतिकी शिक्षा ग्रहण करता था। अर्थशास्त्रके मुख्य विभाग खेती और पशुपालन थे। राजकुमार अध्ययन कर लेनेपर लगभग १६ वर्षकी अवस्थामें देशाटन करनेके लिये यात्रा करता था। बाहर निकलते ही उसे ज्ञात होता था कि विनयी होना चाहिये। इस यात्रामें उसे देशकी दशाका प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता

---

(२) बोधिसत्त्व लोगोंका यान (३) प्रत्येक बुद्धका यान (४) उच्चकोटिके शिष्योंका यान और (५) गृहस्थ शिष्योंका यान।

था। राजकुमारोंको ललित कलाओंकी भी शिक्षा दी जाती थी। वे विभिन्न भाषाओंके ज्ञानके साथ ही नृत्य और संगीत भी सीखते थे। राजकुमारोंकी शिक्षाके लिये प्रायः नीचे लिखे विषय नियत थे—लेखन, पुस्तक-रचना, कथोप-कथन, काव्य-रचना, व्याकरण, अंकगणित, शारीरिक व्यायाम, पुराणेतिहास, निरुक्त, दर्शन, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, शल्य—प्रयोग, स्त्री-पुरुषकी विशेषताओंका ज्ञान, पशु-विज्ञान, संगीत, नृत्य, नाटक, लाखका काम, मोमबत्तीका काम, सूई बनाना, टोकरी बनाना, पत्ती काढ़ना, कपड़ा रँगना, सिरके बाल ठीक करना और अलंकार-रचना।

प्रायः क्षत्रिय कुमारोंको १६ वर्षकी अवस्था तक अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा दे दी जाती थी। उनको बाण चलाना, मल्ल-युद्ध, गदा-युद्ध, तलवार चलाना, व्यूह रचना, हाथी, रथ और अश्व हाँकना इत्यादि सिखाया जाता था। स्त्रियाँ दर्शन, ललित-कला और साहित्यका अध्ययन करती थीं, किन्तु यदि वे चाहतीं तो अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा भी ले सकती थीं। पतंजलिने भाला चलानेवाली स्त्रियोंके शाक्तिकी नामका उल्लेख किया है। रामायणकी कथाके अनुसार केकयी अस्त्र-शस्त्रकी विद्यामें कुशल थी और उसने युद्ध-भूमिमें शत्रुओंसे लड़कर दशरथकी रक्षा की थी।

शिक्षण-विधि

वैदिक कालमें नित्य वेदाध्ययन करना आवश्यक था। जब शिष्य नित्य कर्मोंसे निवृत्त हो जाता था और उसे आचार्यकी सेवासे छुट्टी मिल जाती थी, तो वह स्वयं आचार्यसे पढ़ानेके लिये प्रार्थना करता था। आचार्य कहता था, 'तुम अध्ययन प्रारंभ करो'। शिष्य 'ओ३म्' शब्दका उच्चारण करके पढ़नेके लिये बैठ जाता था। अध्ययन समाप्त कर लेनेपर आचार्य कहता था कि विराम हो और शिष्य 'ओ३म्' कहकर अध्ययन समाप्त करता था। उस समय मौखिक शिक्षण-विधिका प्रचार था। प्रायः शिष्य आचार्यसे प्रश्न पूछता था और गुरु प्रश्नोंकी व्याख्या करके उत्तर देता था। अध्ययनके लिये विद्यार्थीको स्वावलम्बी बनना पड़ता था। वह गुरुकी मोटी-मोटी बातोंपर स्वयं विचार करते हुए उनके व्याख्यानके सारगर्भित तत्त्वको समझनेका यत्न करता था। जिन विद्यार्थियोंकी ज्ञानकी पिपासा अपरिमित होती, वे आचार्यसे शिक्षा पाकर देश-भ्रमण करते थे और अन्य आचार्योंसे विवाद करते थे। ऐसे विवादोंमें उनको बहुत कुछ सीखनेका अवसर मिलता था।

आचार्य अपने शिष्योंको पुत्रके समान समझता था और उन्हें निरलस होकर प्रेमपूर्वक पढ़ाता था। वह शिष्योंको कभी शारीरिक दंड नहीं देता था और सदैव मधुर वाणीका प्रयोग करता था। जबतक किसी विषयको शिष्य पूर्णतः समझ नहीं लेता था गुरु वारंवार उदाहरण और दृष्टान्तोंकी सहायतासे उस विषयको बोधगम्य करनेकी चेष्टा करता था। शिक्षणका काल श्रावणसे छः मास—पौष या माघ तक होता था। वर्षाके होते ही श्रावणीका उत्सव मनाया जाता था जिसमें गुरु और शिष्य सभी भाग लेते थे। वार्षिक अध्ययन समाप्त करनेकी विधिका नाम उत्सर्जन था।

शिष्यका आचार-व्यवहार

शिष्य सौम्यताकी मूर्त्ति होता था। वह मन, कर्म और वचनसे सदैव शुद्ध होकर पवित्र जीवन बिताता था। प्रतिदिन वह गुरुके सोनेके पीछे सोता और उनके उठनेके पहले जग जाता था। नित्य कर्मसे निवृत्त होकर शिष्य अपने दाहिने और बायें हाथसे क्रमशः गुरुके दाहिने और बायें चरण स्पर्श करता था। वह अभिवादनशील, वृद्धसेवी और आचार्यका भक्त होता था, परोक्षमें भी आचार्य-का नाम नहीं लेता था और न कभी उनकी गति, चेष्टा और भाषणका नाटक उतारता था। प्रतिदिन वह गुरुके लिये समिधा, जल, पुष्प, गोबर, मिट्टी और कुश[1] लाता था। यदि गुरु बैठे हुए आज्ञा देते तो शिष्य खड़ा होकर सुनता, खड़े होकर गुरु कुछ कहते तो उनके समीप जाकर सुनता, आते हुए गुरु कुछ कहते तो शिष्य सामने जाकर उनकी बात सुनता और यदि दौड़ते हुए गुरु कुछ कहते तो वह पीछे-पीछे दौड़कर उनकी आज्ञा सुनता था।

शिष्य पूर्ण रूपसे संयमशील होता था। वह अपने मनको वशमें करके सभी इन्द्रियोंको वशमें रखता था और इन्द्रियोंके सुखका ध्यान नहीं रखता था। उसे किसी वस्तुके छूने, खाने, देखने, सूँघने और सुननेसे हर्ष और विषाद नहीं होता था। अपने शरीरको ब्रह्मचारी कभी अलंकृत नहीं करता था, गन्ध और मालाका सेवन नहीं करता था, स्त्रियोंके समीप नहीं जाता था और न स्वादिष्ट भोजनके चक्करमें पड़ता था। ब्रह्मचारी मधु और मांसका सर्वथा त्याग कर देता था।

---

[1] जो विद्यार्थी कुश लानेमें दक्ष होता था उसे कुशल कहते थे। कुशल शब्द-का मौलिक अर्थ यही है।

वह शरीरपर तेल और आँखोंमें काजल नहीं लगाता था और जूते और छातेका प्रयोग नहीं करता था। वह नृत्य, गीत और वाद्यसे सदा अलग रहता था और काम, क्रोध और अभिमानसे बचता था। ब्रह्मचारी कभी कुछ संग्रह नहीं करता था, उसकी एकमात्र सम्पत्ति विनय और ज्ञान-पिपासा होती थी।

जीवन-वृत्ति

वैदिक कालमें ब्रह्मचारीकी जीवन-वृत्तिके लिये माता-पिताको प्रायः चिन्ता नहीं करनी पड़ती थी। वे अपने पुत्रको गुरुके हाथों सौंपकर पूर्णतया निश्चिन्त हो जाते थे। विद्यार्थी अपने भोजनके लिये प्रतिदिन भिक्षाटन करता था। कभी-कभी गुरुओंको भी उस भिक्षामेंसे भाग देना पड़ता था। वह भिक्षाके लिये सदा गुणवान् लोगोंके ही घर जाता था, कभी केवल एक घरकी भिक्षा लेकर नहीं लौट आता था, वरं कई घरोंसे भिक्षा लेना उसके लिये अनिवार्य था। शत-पथ ब्राह्मणके अनुसार भिक्षा माँगनेसे विद्यार्थीमें विनय आती है। भारतवर्षमें विनयको विद्याका अलंकार माना गया है। वैदिक कालके पश्चात् भिक्षा माँगनेकी प्रथा धीरे-धीरे लुप्त होती गई। विद्यालयोंमें राजा या आसपासके गाँवोंके लोग गुरुओं और शिष्योंकी आवश्यकताकी वस्तुयें पर्याप्त मात्रामें भेज दिया करते थे। कभी-कभी स्वयं विद्यालयोंके अध्यक्ष जाकर भी धनिकोंसे धन माँग लाते थे। नालन्दा विश्वविद्यालयका व्यय चलानेके लिये कई राजाओंने इतनी भूमि दी थी कि उसमें ३०० गाँव बस सकते थे। राजा और धनी लोग पुण्यके लिये ग्रंथोंकी हस्तलिखित प्रतियाँ बनवाकर विद्यार्थियों और पुस्तकालयोंको दान देते थे।

शिक्षकोंका व्यक्तित्व

शिक्षकोंका चरित उदार होता था। वे प्रायः समाज-सेवाकी दृष्टिसे अध्यापनका कार्य करते थे और अध्यापनके लिये वेतनकी आशा नहीं करते थे। गाँवोंके सभी पुरोहित मिलकर पाठशाला खोल देते थे। ये पाठशालायें छोटी होती थीं। आचार्योंके आश्रम वनमें होते थे। विद्यार्थियोंके प्रति उनका व्यवहार पिताकी भाँति होता था। भारतीय दृष्टिकोणसे आचार्य शिष्यको विद्यामय शरीर देता है, अतः वह शिष्यका पिता माना गया है। आचार्य शिष्यका उपनयन करके उसे यज्ञ-विद्या और उपनिषद्का ज्ञान देता था। वह अध्यापनके लिये कुछ भी शुल्क नहीं लेता था। उपाध्याय अपनी वृत्ति चलानेके लिये अध्यापन

कार्य करता था। वह वैदिक साहित्यका कुछ भाग या केवल वेदांगकी शिक्षा देता था। गुरु वही बन सकता था जो दश वर्षतक अपने ज्ञानका आचरण रूपमें अभ्यास कर लेता था। आचार्य आध्यात्मिक गुरु होता था, जो स्वान्तःसुखाय पढ़ाता था। गुरु विद्यार्थियोंके चरित्रके विकासपर विशेष ध्यान देता था। शिक्षक नृत्य आदि कलाओंकी शिक्षा देता था। इत्सिगने अपने शिक्षकोंका वर्णन करते हुए लिखा है, 'बहुतसी विद्याओंमें पारंगत उपाध्याय कुल्हाड़ी चलाना भी जानते थे। उन्हें विद्यार्थियोंपर क्रोध नहीं होता था। वे कभी बेकार नहीं बैठते थे और न काम करते हुए थकते ही थे। बाजारमें क्रय करते समय मोल-चाल नहीं करते थे। वे सर्वथा उदार थे। आचार्य सदा शान्त और निष्पक्ष रहते थे। कभी बीमार नहीं पड़ते थे। वे ६० वर्षोंतक नित्य शास्त्रोंको पढ़ाते रहे'। ऐसे शिक्षकोंके उच्च व्यक्तित्वका प्रभाव भारतीय नवयुवकों-पर पड़ता था। इस प्रकार भारतीय संस्कृतिकी रूप-रेखा आचार्योंके आश्रममें बनती थी और देश-विदेशोंमें जा पहुँचती थी।

गृहस्थाश्रम

ब्रह्मचर्याश्रममें अध्ययन समाप्त कर लेनेके पश्चात् बहुतसे स्नातक अपने घर लौटकर विवाह कर लेते थे और गृहस्थाश्रम धर्मका पालन करने लगते थे; किन्तु कुछ विद्यार्थी अध्ययनसे अतिशय प्रेम होनेके कारण आजीवन अविवाहित रहकर प्रायः आचार्यके आश्रममें ही विद्याध्ययनमें लगे रह जाते थे। ऐसे विद्यार्थियोंको नैष्ठिक ब्रह्मचारीकी उपाधि मिल जाती थी। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले स्नातकोंकी अपेक्षा नैष्ठिक ब्रह्मचारियोंकी संख्या बहुत कम होती थी। गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेपर ब्राह्मण अपने छः कर्म—अध्ययन, अध्यापन, दान लेना, दान देना और यज्ञ करना तथा यज्ञ कराना—अपना लेता था, क्षत्रिय प्रजाकी रक्षा करनेमें लीन हो जाता था और वैश्य कृषि और वाणिज्यमें लग जाता था। अध्ययन और यज्ञ करना तथा दान देना सभी लोगोंके लिये गृहस्थाश्रममें सामान्य धर्म माने जाते थे। गृहस्थ-ब्राह्मणोंके लिये परिश्रमपूर्वक धन-संग्रह करना निन्दनीय समझा जाता था। सबसे अच्छे वे ब्राह्मण गिने जाते थे, जो बाजार या खेतमें पड़े हुए अन्नको बीनकर शिलोञ्छ वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। उनसे थोड़े ही नीचे वे ब्राह्मण गिने जाते थे, जो विना माँगे मिले हुए अयाचित धनसे शालीन वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करते थे। भिक्षा

माँगकर यायावर वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह करना निन्दनीय कर्म समझा जाता था। दान लेकर जीवन निर्वाह करना तप, तेज और यशका नाश करनेवाला माना जाता था। किन्तु सबसे अधिक बुरे वे ब्राह्मण समझे जाते थे, जो कृषि कर्म द्वारा अन्न उत्पन्न करके खाते-पीते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि धन उत्पादन करनेके लिये जो शारीरिक श्रम किया जाता था वह अध्ययन, अध्यापन आदि ब्राह्मणोंके उत्तम कर्मोमें बाधक होता था। स्वतंत्र रूपसे जो कुछ मिल जाय, उसीसे जीवन निर्वाह कर लेना और ब्राह्मण-कर्ममें लगे रहना ब्राह्मणोंके योग्य व्यापार समझा जाता था। ऐसी परिस्थितिमें गृहस्थाश्रममें ब्राह्मणोंका जीवन प्रायः शारीरिक सुखकी दृष्टिसे निम्नकोटिका था।[1] संभवतः यही कारण है कि ब्राह्मण-स्नातक गृहस्थाश्रमका उत्तरदायित्वपूर्ण भार अपने सिरपर लेते ही नहीं थे और आजीवन ब्रह्मचारी बने रहते थे। गृहस्थाश्रममें क्षत्रिय और वैश्य धन-धान्य सम्पन्न होकर सुखपूर्वक जीवन बिता सकते थे। इन्हींके दान और दक्षिणासे कभी-कभी ब्राह्मणों-को भी भोग-विलासकी सामग्री प्राप्त हो सकती थी। ब्राह्मणोंके लिये सुखसे जीवन बितानेका केवल एक ही उपाय था। वे आचार्य बनकर ब्रह्मचारियोंको पढ़ाना प्रारंभ कर देते थे। उस समय उनकी गायोंको चरानेके लिये उपमन्यु जैसे चरवाहे और आयोदधौम्य जैसे कृषिकी देख-भाल करनेवाले विद्यार्थी मिल जाते थे। ऐसे विद्यार्थियोंसे आचार्योंका काम-काज सुचारु रूपसे चलने लगता था। अकेले सत्यकामने हारिद्रुमतकी चार सौ बूढ़ी और कृशकाय गौवोंको इतने परिश्रमसे चराया कि उनकी संख्या शीघ्र ही बढ़कर एक हजारतक पहुँच गई।

वैदिक कालमें लोगोंका धनकी ओर उतना खिंचाव नहीं था जितना आज-कल है। लोग अपना धन उदारतापूर्वक समाजकी उन्नति और संरक्षणके लिये समर्पित कर देते थे। अपनी आवश्यकतासे अधिक धन उपार्जित करना अथवा अर्जित हो जानेपर अपने पास रखना महापाप समझा जाता था। महाभारतमें धन-संग्रहकी प्रवृत्तिकी आलोचना करते हुए लिखा है:—

---

[1] उपनिषदोंमें गृहस्थाश्रममें प्रवेश किये हुए कई ऐसे ब्राह्मणोंकी कथायें मिलती हैं, जो आर्थिक अभावके कारण चिन्तनीय परिस्थितिमें पड़े हुए थे। इनमेंसे सबसे अधिक हृदय-विदारक इभ्यग्रामके चाक्रायण उषस्तिकी कथा है। उनको महावतके जूठे अन्न खाने पड़े थे।

न छित्वा परमर्माणि न कृत्वा कर्म दुष्कृतम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महती श्रियम् ॥

(दूसरोंके मर्मस्थलको भेदकर, कुकर्म करके अथवा हत्यासे ही मछुवेकी भाँति मनुष्य धन जोड़ सकता है ।) प्रायः धन संग्रह हो जानेपर लोग उसे दूसरोंके लिये व्यय कर देनेके लिये उत्सुक रहते थे ।[1] बहुत प्राचीन कालसे इस देशमें 'परोपकाराय सतां विभूतयः' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' न केवल सिद्धान्त रूपमें, अपितु व्यवहार रूपमें भी मान्य थे । प्रायः लोग अपने धनके प्रति इतने उदास रहते थे कि उनको गृहस्थाश्रम समाप्त कर लेनेपर वानप्रस्थ या संन्यास लेते समय गृहस्थाश्रम का कुछ भी मोह नहीं रह जाता था ।

ब्रह्मचर्याश्रममें समुचित ज्ञान पाये हुए लोग अनासक्त होकर गृहस्थाश्रम धर्मका पालन करते थे । केवल आवश्यकताके अनुसार ही घर और शरीरकी उन्हें अपेक्षा रहती थी । गृहस्थ अपनी आध्यात्मिक उन्नति करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहता था, दिनमें नहीं सोता था, रात्रिके पहले और पिछले भागमें जगता रहता था, अपनी आवश्यकताओंको बढ़ाता नहीं था, दिनमें केवल दो समय भोजन करता था और नित्यप्रति स्वाध्याय करता था । गृहस्थ साधारणतः अपनी वेश-भूषाके विषयमें ध्यान रखते थे । अपने केश और नखको यथासमय कटवाकर उसे सुधारते रहते थे, उनकी दाढ़ीके बाल बढ़े हुए नहीं रहते थे, वे मनोहर श्वेत वस्त्र धारण करते थे और एक छड़ी तथा सोनेका कमण्डलु रखते थे । उनका जीवन-क्रम नियमित था ।

गृहस्थाश्रमका महत्त्व

गृहस्थाश्रमका महत्त्व बहुत अधिक माना गया है । गृहस्थ उत्पादनका काम करता था और उसकी श्रमजनित सम्पत्तिसे न केवल उसके कुटुम्बका भरण-पोषण होता था, वरं सारे प्राणि-मात्र—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी जीविका कमानेमें असमर्थ लोग और अन्य सभी पशु-पक्षी इत्यादि जीवधारी अपनी आवश्यकताओंकी पूर्त्तिके लिये अंशतः गृहस्थोंपर ही

---

[1] श्रीमद्भागवतके अनुसार मनुष्योंका अधिकार केवल उतने ही धनपर है, जितनेसे उनकी भूख मिट जाय । इससे अधिक संपत्ति जो अपनी मानता है, वह चोर है, उसे दंड मिलना चाहिये ।

निर्भर रहते थे। मनुने गृहस्थके इस उदारतापूर्ण कार्यभारका विचार करके लिखा है :—

> यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्।
> गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही॥

(गृहस्थ प्रति-दिन ज्ञान और अन्नसे तीनों आश्रमके लोगोंका भरण-पोषण करता है, अतः गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है।)

गृहस्थाश्रमके व्रत

गृहस्थ नित्य प्रति पाँच महायज्ञोंके द्वारा अपने धार्मिक और सामाजिक कर्तव्योंका पालन करता था। वेदोंका अध्ययन और अध्यापन ब्रह्म-यज्ञ है। देवताओंकी सन्तुष्टिके लिये दैव-यज्ञमें हवन किया जाता है। पितृ-यज्ञमें माता-पिता और पूर्वजोंके तर्पण और श्राद्धका विधान है। श्राद्ध-कर्म अन्न, जल, दूध और फल-मूलसे किया जाता है। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण भूतयज्ञ है। इस यज्ञके द्वारा गृहस्थ प्राणि-मात्रके भरण-पोषणका आयोजन करता है। उनके लिये वह पर्याप्त मात्रामें बलि रखता है। बलि गाँवसे दूर रखी जाती है ताकि सभी प्राणी निर्भय होकर खा सकें। यह धरातलपर बहुत देख-भाल करके धीरेसे रखी जाती है। कहीं ऐसा न हो कि उसके नीचे कोई प्राणी दब जाय। जीविकारहित लोग भी बलिका ही भोजन करते थे। विष्णु-पुराणमें इस यज्ञ-को करने वाले गृहस्थके मनोभावोंका वर्णन इन शब्दोंमें किया गया है :—

> भूतानि सर्वाणि तथान्नमेतदहं च विष्णुर्न ततोऽन्यदस्ति
> तस्मादहं भूतनिकायभूतमन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम्
> चतुर्दशो भूतगणो य एष तत्रस्थिता येऽखिल भूतसंघाः
> तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु॥

(सभी जीवधारी, यह अन्न और मैं—सभी विष्णु हैं, क्योंकि उनसे भिन्न कुछ भी नहीं है। अतः मैं समस्त प्राणियोंका शरीर-रूप यह अन्न उनके पोषणके लिये देता हूँ। यह जो चौदह प्रकारका प्राणि-वर्ग है उसके सभी जीवोंकी तृप्तिके लिये मैंने यह अन्न प्रस्तुत किया, वे सभी प्रसन्न रहें।)

प्राचीन भारतमें अतिथियोंका सत्कार लोग उदारतापूर्वक करते थे। ऋग्वेदमें दीन-दुखियोंको भोजन देनेकी प्रशंसा की गई है और आतिथ्य

न करनेवाले व्यक्तिको मरे हुएके समान बताया गया है। इस वेदके अनुसार जो मनुष्य अकेले खाता है वह पापी है।[१] प्रतिदिन गृहस्थोंके घर कोई न कोई आया ही रहता था और उनको अतिथिके आगमनके अवसरपर अतिथि यज्ञ करनेका अवसर मिल जाता था। प्रायः गृहस्थ अतिथिके आते ही उनके लिये आसन, ठहरनेका स्थान और चरण धोनेका जल प्रस्तुत कर देते थे तथा मधुर और सत्य वाणीसे उनका स्वागत करते थे। अतिथिकी यथायोग्य सेवा करनेके लिये पति और पत्नी सदैव प्रस्तुत रहते थे। गृहस्थ अपने घरकी सभी वस्तुओंको, जो अतिथिके उपयोगके लिये हो सकें, स्पष्ट शब्दोंमें बतलाकर पूछता था कि आपके लिये क्या लाऊँ? जो भोजन अतिथिको गृहस्थ नहीं दे सकता था उसे वह स्वयं भी नही खाता था। सभी गृहस्थोंके घरपर अतिथियोंको अपने घरसा सुख मिलता था। सामाजिक उत्थानका यह सबसे बढ़कर उदाहरण है। कठोपनिषद्में आतिथ्यका सुन्दर चित्र खींचा गया है। नचिकेता यमसे मिलनेके लिये जब उनके घर पहुँचा तो उसे तीन दिन तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। इस बीच उसने कुछ भी आतिथ्य स्वीकार नही किया। यमके आते ही लोगोंने उनके अतिथिका समाचार कहा। लोगोंने समझाया कि ब्राह्मण अग्निके रूपमें अतिथि बनकर आता है। उसको शान्त करनेके लिये आप शीघ्र जल ले जायँ। जिसके घर अतिथि बिना भोजन किये रह जाता है, उसकी आशा, प्रतीक्षा, मित्रोंका सौहार्द, मधुर भाषण, यज्ञ, पुत्र और पशु इन सबका नाश हो जाता है। यमने शीघ्र जाकर अतिथिकी पूजा की, उसको नमस्कार किया और तीन रात्रि तक अनशन करनेके लिये तीन वर दिये और इस प्रकार उसे सन्तुष्ट किया। सूर्यके डूबनेके समय भी यदि कोई अतिथि आ जाता था तो गृहस्थ उसका स्वागत करता था। गृहस्थ असमयमें आनेवाले अतिथिको भी भोजन अवश्य देता था। यदि भोजन करनेके पश्चात् कोई अतिथि आता तो उसे फिरसे पकाकर भोजन दिया जाता था।

गृहस्थ पहले दूसरोंकी आवश्यकताओंकी ओर ध्यान देते थे, फिर अपने भरण-पोषणकी बात सोचते थे। कुटुम्बमें पहले आश्रित लोगों और सेवकोंको देकर वह स्वयं किसी वस्तुका उपभोग करता था। वह सदा विघस और अमृत भोजन ग्रहण करता था। पोष्य वर्गको भोजन करानेके बाद जो अन्न बचता है

---

[१] केवलाघो भवति केवलादी। ऋग्वेद १०.११७.६

उसे विघस कहते हैं और पंचयज्ञोंसे अवशिष्ट अन्न अमृत कहलाता है। यह भारतवर्षका सौभाग्य है कि प्राचीन गृहस्थाश्रम-धर्म आधुनिक भारतीय जीवनको आज भी अनुप्राणित कर रहा है।

बौद्ध धर्ममें भी पाँच यज्ञोंके समान ही प्रतिदिन पाँच बलि करनेका विधान मिलता है। वेस्सन्तर जातकमें भूखेको भोजन, प्यासेको पानी और नंगेको वस्त्र देकर सन्तुष्ट करनेका आदेश दिया गया है।

वानप्रस्थ

गृहस्थाश्रममें पचीस वर्ष रहकर ब्राह्मण तपस्या करनेके लिये वनमें चला जाता था। उस समयसे उसका वानप्रस्थाश्रम प्रारंभ होता था। यह आश्रम लगभग पचास वर्षकी अवस्थासे लेकर पचहत्तर वर्ष तक रहता था। गृहस्थाश्रमके पचीस वर्षके पश्चात् अवस्था ढल जानेपर शक्ति क्षीण हो जाती थी और स्वभावतः मनुष्यकी प्रवृत्ति आध्यात्मिक ज्ञानकी ओर होती थी। इस अवस्थामें गृहस्थाश्रमके कर्तव्योंका समुचित पालन कठिन हो जाता था। जब शरीरपर झुर्रियाँ पड़ने लगती थीं, सिरके बाल श्वेत हो जाते थे और पुत्र गृहस्थाश्रममें प्रवेश कर लेता था, उस समय लोग निर्मम होकर घर छोड़ देते थे और शान्तिकी खोजमें स्वतंत्र रूपसे जीवन बितानेके लिये प्रकृतिकी शरण ले लेते थे। गृहस्थाश्रम छोड़ते समय गृहस्थ यह देख लेता था कि मेरा पुत्र अब सुखी जीवन व्यतीत कर सकता है। वह अपने पुत्रकी समुचित जीविकाका प्रबन्ध कर जाता था और उसके ऊपर किसी प्रकारका ऋण नहीं छोड़ जाता था। अपनी कन्याओंके लिये भी गृहस्थ उचित प्रबन्ध कर देता था और प्रायः उनका विवाह किसी सुयोग्य वरसे करके ही घर छोड़ता था।[1]

वानप्रस्थके लक्षण

वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करते समय लोग अपने घरसे प्रायः कुछ भी नहीं ले जाते थे। किन्तु कभी-कभी उनके गृहस्थाश्रमकी धर्मसहचरी भी साथ हो लेती

---

[1] अर्थशास्त्रके अनुसार वह वानप्रस्थ दंडनीय था जो अपने आश्रित स्त्री या बच्चोंको जीविकाका समुचित प्रबन्ध नहीं कर जाता था। स्त्रियोंको संन्यासिनी बनाना भी अपराध था।

थी। स्त्रीके साथ रहनेपर वानप्रस्थको वनमें आश्रम बनाकर रहना पड़ता था, अन्यथा वह सदैव विचरण करता था और किसी एक स्थानपर एक रात्रिसे अधिक नहीं ठहरता था। वनमें जाकर अपनी जीवन-वृत्तिके लिये वह सर्वथा वनकी उदारतापर ही निर्भर रहता था। उसके लिये सदा वनमें रहने, वनमें ही विचरने, वनमें ही ठहरने, वनके ही मार्गपर चलने और वनमें ही जीवन-निर्वाह करनेका विधान था। वन ही उसके लिये भोजन और परिधान देता था और वनके संन्यासियों और मुनियोंसे वह दार्शनिक तत्त्वोंका ज्ञान भी प्राप्त करता था। वनमें स्वच्छन्द विचरते हुए वह तीर्थ-स्थानोंकी यात्रा भी कर लेता था।

वानप्रस्थकी जीवन-वृत्ति

वानप्रस्थका जीवन बहुत सरल था। उसके धन केवल कमण्डलु, मृगचर्म, दण्ड, कुश-वस्त्र, वल्कल-वस्त्र और अग्निहोत्रकी सामग्रियाँ थीं। वह वनके अन्न, फल और मूलसे प्रतिदिन पंच महायज्ञ करता था। अपने भोजनमेंसे यथाशक्ति बलि और भिक्षा देता था तथा जो लोग आश्रममें आते, उनका स्वागत करता था। नीवार आदि वनके अन्नोंको वह स्वयं एकत्र करता और देवताओंको हवि देनेके लिये पुरोडाश और चरु बनाता था। हवन करनेके पश्चात् जो कुछ बच जाता उसे अपने लिये रखता था। अपने उपयोगके लिये नमक भी वह स्वयं बना लेता था। उसका भोजन प्रायः शाक, सेवार, फल, फूल और मूलका होता था। स्वयं गिरे हुए फल, फूल और अन्नकण ही उसके लिये भोज्य थे। वनवासी मुनि मधु, मांस, गोवरछत्ता और घास इत्यादि नहीं खाता था। क्वारके महीनेमें पहलेसे रखे हुए नीवार, शाक, मूल और फल भी नहीं खाता था और न पुराना परिधान ही धारण करता था। गाँवमें या जोते हुए खेतमें जो अन्न या फल-फूल पैदा होते वे उसके लिये अखाद्य थे। भूखसे पीड़ित होनेपर भी वह ऐसे पदार्थ नहीं खाता था। वह नये-नये फल, फूल और अन्न खाना विशेष-रूपसे पसन्द करता था। जब कभी नये भोज्य पदार्थ मिलने लगते वह पुरानी रखी हुई वस्तुओंको शीघ्र ही फेंक देता था। इस आश्रममें लोग प्रायः आगपर पकाया हुआ भोजन नहीं खाते थे, स्वयं प्रकृति सूर्यके तापसे उनका भोजन पका देती थी। वनवासी पत्थरसे कूटकर अपना भोजन तैयार कर लेते थे। कभी-कभी तो झंझटोंसे बचनेके लिये दाँतोंसे ऊखलका काम भी लेते थे।

वनवासीके लिये संग्रहशील होना बुरा समझा जाता था। भोजनकी सामग्री

संचित करके रखना वनवासीके योग्य वृत्ति नहीं मानी जाती थी। प्राय: वनवासी भोजन करनेके पश्चात् अपना पात्र धोकर रख देता था। पात्रमें रखनेके लिये उसके पास कुछ भी शेष नहीं रह जाता था। सम्प्रक्षालन-वृत्तिके वनवासी उत्तम समझे जाते थे। ये कभी दूसरे दिनके लिये भोजन नहीं रख छोड़ते थे। वनवासी विशेष परिस्थितियोंमें एक मास, छः मास या अधिकसे अधिक एक वर्षके लिये भोजन रख सकता था। इससे अधिक संग्रह करना किसी प्रकार भी वनवासीके लिये उचित नहीं था।

वनवासी प्राय: दिनमें ही अपनी आवश्यकतानुसार भोजन प्राप्त करते और रात्रिमें उसे खाते थे। इस आश्रममें प्रतिदिन भोजन करना आवश्यक नहीं था। कुछ लोग एक या दो दिन उपवास करके अन्न ग्रहण करते थे। कुछ वनवासी चान्द्रायण विधिके अनुसार शुक्ल और कृष्ण पक्षमें अपने भोजनकी मात्रा बढ़ाते और घटाते थे। वे पक्षोंके अन्तमें एक बार औटा हुआ 'यवागू' (जौकी दलिया) खाते थे। यदि संयोगवश कभी भोजन नहीं प्राप्त होता तो वनवासी अन्य तपस्वियोंसे प्राणमात्रकी रक्षा करनेके लिये भिक्षा माँग लेते थे। यदि किसी प्रकार वनवासीको वनमें भोजन नहीं प्राप्त होता था तो वह गाँवकी ओर जाता, वहांसे भिक्षा लेकर शीघ्र ही वनमें लौट आता और पत्ते, हाथ या खप्परसे केवल आठ कौर खाता था।

रोगी होनेपर वनवासी प्रकृतिको चिकित्सा करनेका अवसर देता था। असाध्य रोग हो जानेपर वह पूर्व और उत्तरके कोनेमें सरल गतिसे योगनिष्ठ होकर पानी और वायुका सेवन करते हुए शरीर छूटनेके समय तक लगातार चलता जाता था। इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेसे वह सभी प्रकारके भय और शोकसे निवृत्त हो जाता था।

वानप्रस्थके तप और तत्त्वज्ञान

वानप्रस्थाश्रम तप और तत्त्व-ज्ञानके द्वारा आत्मशुद्धि करनेके लिये है। वनवासी तपके द्वारा शारीरिक सुखोंको छोड़कर दार्शनिक विचारोंमें निमग्न हो जाता था। वह कभी सुखके लिये सोता नहीं था, अपितु भूमिपर केवल लोटता था या अपने पैरोंके अग्र भागपर खड़ा रहता था। इस प्रकार वह शारीरिक भोगोंके प्रति उदासीन रहता था। केवल अग्निहोत्रकी अग्निकी रक्षाके लिये वह घर, पर्णकुटी अथवा पहाड़की गुफाका आश्रय लेता था, अन्यथा शीत, वायु,

अग्नि, धूप और वर्षाके प्रकोपको सहकर शरीरकी ओरसे निश्चिन्त होनेका प्रयत्न करता था। प्रायः वनवासी अपने शिरपर जटायें रखते थे। वे केश, मूँछ, नख और दाढ़ी नहीं कटवाते थे।

वानप्रस्थ मानसिक और शारीरिक शुद्धिके लिये दिनमें तीन बार स्नान करते थे और देवताओं और पितरोंका पूजन, अग्निहोत्र और विधिवत् यज्ञ करते थे। इसके पश्चात् वीरासनसे बैठकर योगाभ्यास करते थे। वे प्रायः मौन रहा करते थे और अपनी चित्तवृत्तियोंको सांसारिक विषय-वासनाओंसे अलग हटाकर उत्साहपूर्वक आध्यात्मिक चिन्तनकी ओर लगाते थे। वे अपनी ज्ञान-पिपासाको तृप्त करनेके लिये आरण्यक और उपनिषद्-ग्रंथोंका अध्ययन करते थे। कभी-कभी ये वनवासी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करने और अपने सन्देहोंको दूर करनेके लिये ऋषियोंके शिष्य बन जाते थे। ऋषि संसार-सागरको पार करनेके लिये उत्सुक उन वनवासियोंको अच्छी तरह समझाकर ब्रह्मज्ञानका उपदेश देते थे और विद्या तथा अविद्याका भेद बतलाकर इनको विद्याकी ओर प्रवृत्त कर देते थे। इस प्रकार वनवासियोंको ब्रह्मका शुद्ध स्वरूप ज्ञात हो जाता और उनको जीव और ब्रह्मकी एकताका परिचय प्राप्त होता था। ब्रह्मज्ञान सीखनेकी योग्यता रखनेवाले एक वानप्रस्थका वर्णन यों मिलता है :—

प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।
गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे ॥

(यह मोक्षकी इच्छा रखनेवाले व्यक्तिको दिया जाय जिसका चित्त शान्त हो, जिसने इन्द्रियोंको जीत लिया हो, जिसके दोष नष्ट हो गये हों, जो उपदेशोंके अनुसार चलनेवाला हो, जो गुणी हो और आज्ञाकारी हो।)

इस प्रकार तप और तत्त्वज्ञानके द्वारा वानप्रस्थ ब्रह्ममें लीन हो जानेकी इच्छा करता था और संन्यास ले लेता था।

संन्यास

भारतीय दृष्टिकोणसे मनुष्य-जीवनका अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। यों तो चारों आश्रम मोक्ष-शिखरपर पहुँचनेके लिये सोपानकी भाँति उपयोगी हैं, किन्तु वानप्रस्थ और संन्यासका इस दिशामें विशेष महत्त्व है। वानप्रस्थमें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि संसारमें काम (इच्छाओं-की पूर्ति) के लिये कार्यशील होना श्रेयस्कर नहीं है। ब्रह्म-ज्ञानके पश्चात् कुछ

लोगोंकी ऐसी धारणा हो जाती थी कि कर्म नहीं करने चाहिये, क्योंकि उनके फल स्वरूप पुनर्जन्मके बन्धनमें पड़ना होता है, किन्तु बहुतसे पंडित सोचते थे कि काम करनेसे छुटकारा पाना असंभव है। इसलिये लोक-कल्याणके लिये जीवन भर कर्म करना चाहिये, किन्तु उनमें आसक्ति नही रखनी चाहिये और न उनके फलकी स्पृहा करनी चाहिये। इनमेंसे प्रथम कोटिके संन्यासी यति और द्वितीय कोटिके वैदिक या कर्मयोगी संन्यासी कहलाते थे।

यति-संन्यास

यति-संन्यासियोंको मुनि, परिव्राजक या भिक्षु भी कहते हैं। प्रायः लोग ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमोंके पश्चात् ही संन्यास लेते थे, किन्तु जब विराग हो जाय तभी संन्यास ले लेनेका नियम भी रहा है। इस प्रकार संन्यासी होनेके लिये ब्रह्मचर्याश्रमके पश्चात् गृहस्थाश्रम और वानप्रस्थाश्रमकी आवश्यकता नहीं रह जाती थी।

संन्यास लेनेके पहले लोग प्राजापत्य-यज्ञमें अपना सर्वस्व दूसरोंको दे देते थे। इस समय संन्यासीके लिये कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जाता, वह स्थिर-बुद्धि और मौन होकर विशुद्ध ब्रह्मका मनन करता था। वह केवल भोजन मात्रके लिये गाँवमें जाता था। संन्यासी खप्परमें भोजन करता और वृक्षकी जड़के समीप निवास करता था। उसे साधारण परिधान कहीसे भी प्राप्त हो जाते थे। संन्यासीको किसीकी सहायता आवश्यक नहीं थी। वह सभी प्राणियोंमें समभाव रखता था। संन्यासी वानप्रस्थ ब्राह्मणोंके यहाँसे भिक्षा नहीं लेता था और न उन्हीं लोगोंके घर भिक्षाके लिये जाता था जिनके घर पक्षी, कुत्ते और भिक्षुओंसे भरे होते थे। उसके भिक्षा-पात्र और कमंडलु धातुके नहीं होते थे, बल्कि कद्दूके फल, काठ, मिट्टी या बेंतके बने होते थे। अपना भिक्षा-पात्र लेकर वह केवल एक बार गाँवमें जाता था जब रसोईका धुँवा दिखाई नहीं देता था, मूसलका शब्द सुनाई नहीं पड़ता था, घरके सभी लोग खा-पी चुके होते थे और जूठे बर्त्तन अलग कर दिये जाते थे। वह अपनी भिक्षा-वृत्तिसे इस प्रकार किसीको कष्ट नहीं दे सकता था। संन्यासी भिक्षा न मिलनेपर विषाद नहीं करता था और मिल जानेपर प्रसन्नता नहीं प्रकट करता था। वह पूजित होनेपर भिक्षा लेता ही नहीं था। संन्यासी प्राणि-हिंसासे सदैव बचनेका प्रयत्न करता था और चलते समय सदैव पृथ्वीकी ओर दृष्टि रख कर प्राणियोंको बचाता था।

संन्यासी न तो मरनेकी इच्छा करता था और न जीनेकी। वह मरनेके समयकी उसी भाँति प्रतीक्षा करता था जैसे सेवक स्वामीकी आज्ञाकी। किसी मनुष्यको वह शत्रु या मित्र नहीं बनाता था। यदि कोई उसका अपमान करता या उसको बुरा-भला कहता तो वह चुपचाप सह लेता था। वह अपने ऊपर क्रोध करनेवालोंका और निन्दकोंका भी मधुर वाणीसे उत्तर देता था। वह सदा आध्यात्मिक चिन्तनमें लगा रहता था और नित्य आनन्दपूर्वक विचरण करता था।

संन्यासी इन्द्रियोंको अपने वशमें रखते थे और रागद्वेषकी भावनासे प्रभावित नहीं होते थे। वे किसी प्राणीको हानि नहीं पहुँचाते थे। वे अपने मनमें सदैव यम-लोककी यातना, जीवनकी विपत्ति, रोग और बुढ़ापेके कष्ट और अनेक योनियोंमें भ्रमण करनेके दु:खका विचार करते हुए संसारके प्रति अपनी विरक्ति बढ़ाते थे। संन्यास-मार्गमें दृढ़ रहनेके लिये वे सफल संन्यासियों और जीवन्मुक्त महात्माओंके शाश्वत आनन्दका चिन्तन करते थे। भूलसे भी यदि कभी हिंसा हो जाती तो संन्यासी पश्चात्ताप करते और स्नान करनेके पश्चात् प्रतिदिन छः प्राणायाम करते थे। अहिंसा, इन्द्रिय-संयम, अनासक्ति, कठिन तपस्या और अपनी विरक्ति-भावनासे कर्मबन्धनोंका नाश करके संन्यासी ब्रह्म पद पाते थे।

वैदिक संन्यास या कर्म-योग

कर्म-योगी ब्रह्म-विद्या या आत्मज्ञान प्राप्त करनेके पश्चात् संसारके व्यवहारोंको कर्तव्य समझकर करते रहते थे। संन्यासियोंको शाश्वत ब्रह्मकी प्राप्ति ज्ञान और कर्म दोनोंके बलपर ही हो सकती है, जैसा कि हारीत स्मृतिमें कहा गया है—

द्वाभ्यामेव हि पक्षाभ्यां यथा वै पक्षिणां गतिः।
तथैव ज्ञानकर्माभ्यां प्राप्यते ब्रह्म शाश्वतम्॥

(जिस प्रकार दोनों पंखोंसे ही पक्षियोंकी गति संभव होती है, उसी प्रकार ज्ञान और कर्मसे शाश्वत ब्रह्मकी प्राप्ति होती है।)

ईशावास्य उपनिषद्के दूसरे श्लोकमें कर्मकी महत्ताका निर्देश करते हुए कहा गया है, "जीवन भर सौ वर्ष निष्काम कर्म करते रहकर ही जीते रहनेकी इच्छा रखनी चाहिये।" इस उपनिषद्में आगे चलकर कर्मयोग-रहित ब्रह्मज्ञानके

विषयमें कहा गया है, "कोरी विद्यामें मग्न रहनेवाले पुरुष अधिक अँधेरेमें जा पड़ते हैं।" मनुने कर्मयोगकी व्याख्या करते हुए लिखा है, "वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, इन्द्रियोंको वशमें रखना, अहिंसा और गुरुकी सेवा मुक्तिप्रद हैं। शारीरिक सुख देनेवाले और मुक्ति देनेवाले कर्मोंको क्रमशः प्रवृत्त और निवृत्त भी कहते हैं। वेदविहित प्रवृत्त कर्म करनेसे मनुष्य देवताओंके समान हो जाता है और निवृत्त कर्म करनेवाला पुरुष शरीरसे छुटकारा पाकर मुक्त हो जाता है।" इस प्रकार मोक्ष प्राप्तिके लिये ज्ञान और कर्मयोगकी उपयोगिताका उल्लेख संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् धर्मसूत्र, स्मृति, महाभारत, भगवद्गीता और योगवासिष्ठ आदि ग्रंथोंमें मिलता है।

कर्मयोगकी सबसे अधिक स्पष्ट व्याख्या भगवद्गीतामें मिलती है। इस ग्रंथमें कर्मयोगको कर्मत्यागसे अधिक महत्त्वपूर्ण सिद्ध करनेका सफल प्रयास किया गया है। संन्यासीकी परिभाषा गीतामें इस प्रकार बताई गई है :—

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः

स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः" ॥

अर्थात् जो कर्मफलका आश्रय न करके कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी है, वही कर्मयोगी है, न कि कर्मोंको छोड़कर चुप बैठनेवाला। जो ब्रह्मके अर्पण कर आसक्ति रहित होकर कर्म करता है, उसको वैसे ही पाप नहीं लगता, जैसे कमलके पत्तेपर पानी नहीं जमता। अनासक्त होकर कर्म करनेवाले ही वास्तविक संन्यासी हैं।

गीतामें बतलाया गया है कि संन्यासके विना कर्मयोग संभव नहीं है। संन्यासका अर्थ कर्मोंका त्याग नहीं बल्कि काम्यबुद्धिरूप फलाशाका त्याग है। नियतकर्म जब कर्तव्य समझकर तथा आसक्ति और फलाशा छोड़कर किया जाता है तब वह सात्त्विक त्याग होता है। यही अन्तिम त्याग कर्मयोगीका संन्यास है। संन्यास-मार्गके पथिक, चाहे कर्म छोड़ दें या करते रहें, मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं।

कर्मयोगी आसक्ति रहित होकर कैसे कर्म करता है? "जो कर्मयोग युक्त हो जाता है, जिसका अंतःकरण शुद्ध हो जाता है, जो मन और इन्द्रियोंको जीत लेता है और सब प्राणियोंकी आत्मा ही जिसकी आत्मा है वह कर्मयोगी सब कर्म करता हुआ भी कर्मोंमें लिप्त नहीं होता है। योग-मार्गका पथिक अनुभव करता है कि मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। जो कुछ वह व्यवहार करता है, उनके विषयमें

समझता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंमें कार्यशील हैं। कर्मयोगी कर्मफल छोड़कर ब्रह्म-पदकी पूर्णशान्ति पाता है; जो फलकी इच्छा रखकर काम करते हैं वे ही अपनी आसक्तिके कारण पाप और पुण्यमें बद्ध होते हैं! कर्मयोगी कार्यशील रहते हुए भी मनसे सभी कर्मोंका संन्यास कर देता है, मानो वह न तो कोई काम करता है और न कराता ही है। वह जानता है कि आत्मा अकर्त्ता है, सब खेल तो प्रकृतिका है। परमेश्वर लोगोंके कर्तृत्वका, उनके कर्म अथवा कर्मफलके संयोगका भी निर्माण नहीं करता। स्वभाव अर्थात् प्रकृति सब कुछ किया करती है।

कर्मयोगीकी बुद्धि परमार्थ तत्त्वमें रत हो जाती है। ऐसे ज्ञानियोंकी दृष्टि विद्वान् ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ते और चांडाल सभीके विषयमें समान रहती है। इस प्रकार जिनका मन साम्यावस्थामें स्थिर हो जाता है, वे जीवित अवस्थामें ही मृत्युको जीतकर साम्यबुद्धिके द्वारा ब्रह्ममें स्थित हो जाते हैं। ऐसे जीवन्मुक्त प्रिय वस्तुको पाकर प्रसन्न नहीं होते और न अप्रियको पाकर खिन्न ही होते हैं। बाह्य पदार्थोंके संयोगमें उनका मन असक्त है और आध्यात्मिक आनन्दमें ही उन्हें शाश्वत सुख प्राप्त होता है। यही संन्यासियोंके अन्तःकरणका सुख है।

सब स्थानोंमें एक ही ब्रह्मको देखनेवाले कर्मयोगी अपनी इन्द्रियोंका संयम करके सभी प्राणियोंका हित करनेमें लग जाते हैं। अपनी अन्तःप्रवृत्तियोंको जीतकर कर्मयोगी पूर्णतया शान्त रहते हैं। वे मिट्टी, पत्थर एवं सोनेको समान मानते हैं। इस प्रकार कर्मयोगी सिद्धावस्थाको प्राप्त करते हैं। उनके लिये संसारमें मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष करने योग्य, साधु और दुष्ट निर्विशेष हैं, सभी प्राणी समान ही हैं। उनको सर्वत्र ऐसा देख पड़ने लगता है कि मैं सब प्राणियोंमें हूँ और सब प्राणी मुझमें हैं। सभी प्राणियोंमें वे समानता पाते हैं।

शुद्ध बुद्धि और धैर्यसे आत्मसंयम करके शब्द आदि इन्द्रियोंके विषयको छोड़कर कर्मयोगी एकान्त स्थानमें रहते हैं, उनके भोजनकी मात्रा स्वल्प होती है। उनका मन, वचन और शरीरपर अधिकार होता है और वे समाधिस्थ होकर योगाभ्यासमें लगे रहते हैं।

कर्मयोगका अभ्यास करनेवाले शुद्ध स्थानपर अपने लिये स्थिर आसन लगाकर उसपर कुश, मृगछाला और वस्त्र बिछाते थे और मन और इन्द्रियोंके व्यापारको रोककर, तथा मनको एकाग्र करके आत्मशुद्धिके लिये आसनपर बैठकर योगका अभ्यास करते थे। पीठ, मस्तक और गर्दनको सीधा रखकर स्थिरताके साथ

इधर-उधर न देखते हुए अपनी नाककी नोकपर दृष्टि जमाते थे। वे निर्भय होकर शान्त अन्तःकरणसे ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करते और परब्रह्ममें चित्त लगाते थे। जब संयत मन आत्मामें स्थिर हो जाता था और किसी उपभोगकी इच्छा नहीं रह जाती थी उस समय कर्मयोग सफल होता था। चित्तको संयत करके योगाभ्यास करनेवाला योगी वायुरहित स्थानमें रखे हुए प्रकाशमान दीपककी भाँति निश्चल और विशद होता था।

यति-संन्यास और कर्मयोग—दोनों ही परमपदकी प्राप्तिके लिये उपयुक्त साधन माने गये हैं। इन दोनोंमें कर्मयोग कर्मसंन्याससे उत्कृष्ट है, जैसा कि भगवद्गीतामें लिखा है :—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते॥

(संन्यास और कर्मयोग दोनों मुक्तिप्रद हैं, किन्तु इन दोनोंमें कर्मयोग कर्मसंन्याससे बढ़कर है।)

कर्मयोगसे विश्वकल्याण भी तो संभव है। विश्वकल्याणकी भावना भारतीय संस्कृतिकी विशेषता है और इसी आधारपर कर्मयोग भारतीय दर्शन-क्षेत्रमें अपनी अद्भुत प्रभासे चमक सका है।

चतुर्थ अध्याय

वर्ण और जाति

प्राचीन भारतमें पहले अनेकों जन-समुदाय अलग-अलग रहते थे। देश-भेदके कारण उनकी भाषा, वेश-भूषा और आचार-व्यवहार एक दूसरेसे मिलते-जुलते नहीं थे। धीरे-धीरे जब प्रत्येक जनसमुदायकी संख्या बढ़ने लगी और विदेशोंसे भी आकर लोग यहाँ बसने लगे तो इन जनसमुदायोंको एक दूसरेके संपर्कमें आनेका अवसर मिला और देश-भेदके आधारपर उनका अन्तर मिटने-सा लगा। प्राय: सभी जनसमुदायोंका एक दूसरेकी भाषा और आचार-व्यवहारपर कुछ न कुछ प्रभाव पड़े विना न रह सका। शीघ्र ही प्राय: सभी समुदायोंको एक सामाजिक व्यवस्थामें गुँथ जाना पड़ा। सामाजिक संगठन प्रारंभमें जाति-विभागके रूपमें प्रचलित हुआ।

जाति-विभाग

वर्णानुसार जाति

प्रारंभमें जाति-विभाग समुदायोंके वर्ण (रंग)के अनुसार कुछ समय तक चला। आर्योंका वर्ण गौर था और इस देशके प्राय: अन्य निवासी श्याम वर्णके थे। उस समय गौर और श्याम या कृष्ण—ये ही दो जातियाँ चल सकीं। वर्णके आधारपर भेद-भावका विचार स्थायी रूप धारण नहीं कर सका क्योंकि काले और गोरे लोगोंके एक दूसरेके निकट संपर्कमें आनेपर ज्यों-ज्यों उनका मेल-जोल बढ़ता गया, उनके वर्णका अंतर भी धीरे-धीरे लुप्त होता गया और आचार-विचार और संस्कृतिकी दृष्टिसे भी काले और गोरोंकी एकता प्रतीत होने लगी। ऐसी परिस्थितिमें प्रत्येक व्यक्तिकी जाति उसकी योग्यता और कर्मके अनुसार नियत होने लगी। यह जातिकी व्यवस्था वैज्ञानिक थी और आज भी भारतवर्ष में तथा संसारके और देशोंमें किसी न किसी रूपमें जीवित है।

कर्मानुसार

वैदिक कालके आरंभमें जातिका कर्मसे कोई संबंध नहीं था। अपने व्यवसायके आधारपर समाजमें कोई उच्च या नीच नहीं माना जाता था। उस समय आर्योंका ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य आदि जातियोंमें विभाजन भी नहीं हुआ था। वैदिक मंत्रोंके रचनेवाले कवियोंमेंसे अनेक वाणिज्य या पशु-पालन भी करते थे। विभिन्न जातियोंके लिये विभिन्न कर्मका नियम बहुत पीछे दृढ़ हो सका। दासीका पुत्र भी यदि योग्य होता तो ऋषि बनकर समाजका नेता हो सकता था। महाभारतमें जाति-विभागका मूल आधार कर्म ही माना गया है और विभिन्न जातियोंके वर्ण (रंग)को प्रधानतः उनके कर्म और स्वभावसे उत्पन्न विकार कहा गया है। इस संबंधमें भरद्वाज और भृगुका नीचे लिखा संवाद महत्त्वपूर्ण है।[1] 'भरद्वाजने भृगु मुनिसे कहा कि हममेंसे काले-गोरे सभी मनुष्योंपर समानरूपसे काम, क्रोध, भय, लोभ, शोक और चिन्ता इत्यादिका प्रभाव पड़ता है। सभीके शरीरसे पसीना, कफ, पित्त और रक्त इत्यादि निकलते हैं। ऐसी दशामें रंगके द्वारा कैसे वर्ण-विभाग किया जा सकता है? भृगुने उत्तर दिया कि पहले वर्णोंमें कोई अन्तर नहीं था। ब्रह्मासे उत्पन्न होनेके कारण सारा संसार ही ब्राह्मण था। पीछे विभिन्न कर्मोंके कारण उसमें वर्ण (रंग)का भेद हो गया। जो अपने ब्राह्मणोचित धर्मका परित्याग करके विषय भोगके प्रेमी बन गये, तीखे और क्रोधी स्वभावके हो गये, साहसका काम पसन्द करने लगे और इस कारणसे जिनके शरीरका रंग लाल हो गया, वे ब्राह्मण 'क्षत्रिय'के नामसे प्रसिद्ध हुए। जिन्होंने गौवोंकी सेवा ही अपनी वृत्ति बना ली, खेतीसे जीविका चलानेके कारण पीले पड़ गये और अपने ब्राह्मण-धर्मको छोड़ बैठे उन द्विजोंको वैश्य कहा जाने लगा। जो शौच और सदाचारसे भ्रष्ट होकर हिंसा और असत्यके प्रेमी हो गये और लोभ-वश सब प्रकारके काम करने लगे वे काले पड़ गये और शूद्र कहलाये।' रंगोंकी इस प्रकारकी व्याख्यामें कुछ-कुछ वैज्ञानिकता तो अवश्य है, किन्तु इस संवादका अधिक महत्त्व यह सिद्ध कर देनेमें है कि प्राचीन कालमें जाति विभागकी प्रथा कर्मानुसार चली। प्रारंभमें ब्राह्मण, राजन्य और विश् विभाग बने जो आगे चलकर ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य हुए।

---

[1] देखिये शान्ति पर्व

वैदिक कालमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार जातियोंका उल्लेख मिलता है। ऋग्वेदके अनुसार इन चारों जातियोंकी उत्पत्ति क्रमशः पुरुषके मुख, बाहु, ऊरु और चरण प्रदेशसे बताई गई है।[1] ब्राह्मणोंका प्रधान कर्म ब्रह्म-ज्ञानकी प्राप्ति, क्षत्रियोंका शस्त्र धारण करके राष्ट्रकी रक्षा करना और वैश्योंका कृषि और वाणिज्य था। ये तीनों जातियाँ संस्कृतिकी दृष्टिसे प्रगतिशील थीं। इनमें सबसे अधिक संख्या वैश्योंकी थी। शूद्र जातिमें प्रायः भारतकी पिछड़ी हुई जातियाँ थीं और इनका सहयोग पाकर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों अपना काम सरलतासे चला सकते थे। शूद्रोंमें स्वतंत्र रहनेकी भावना बहुत अधिक थी। वे प्रायः वन-भूमिमें सुखपूर्वक वन्य जीवन व्यतीत करते थे।

प्रारंभमें किसी एक जातिमें बँधे रहनेका नियम नहीं देख पड़ता है। कमसे कम वैदिक काल तक अपना कर्म-क्षेत्र चुन लेनेकी पूर्ण स्वतंत्रता थी। ऋषि बनकर मंत्र-रचना करनेके लिये ऋषिकी सन्तान होना आवश्यक नहीं था। प्रायः एक ही मनुष्य कई जातियोंके योग्य भी कर्म करता रहता था। ऐसे मनुष्यकी जाति-का निर्धारण उस कर्मके आधारपर होता था जिसकी ओर उसकी प्रवृत्ति प्रधान रूपसे होती थी। जो कर्म कोई मनुष्य करने लगता उसके अनुसार उसकी जाति अनायास बन जाती थी। इस प्रकार जाति-निर्माणका विरोध किसी धार्मिक या सामाजिक बंधनसे नहीं किया गया था। यही कारण है कि विदेशोंसे जो आक्रमणकारी आये, वे क्षत्रिय बन बैठे क्योंकि वे प्रायः योद्धा होते थे और भारत-वर्षमें आकर यहाँके क्षत्रियोंकी भाँति राष्ट्र-रक्षामें लग जाते थे। जो विदेशी ब्राह्मण-कर्मको पसन्द करते, उन्हें ब्राह्मण बनते देर नहीं लगती थी।

प्रारंभमें विभिन्न जातियोंमें बहुत भेद-भाव नहीं देख पड़ता। १० वीं शताब्दी ई० तक चारों वर्णोंके लोग एक दूसरी जातिमें विवाह संबंध कर सकते थे। ऋग्वेदमें ऋषियोंका राजकुमारियोंके साथ विवाह होनेके कई उल्लेख मिलते हैं। महाभारतमें भी प्रायः ब्राह्मण-स्नातकोंका क्षत्रिय कन्याओंके साथ विवाह करनेका उल्लेख मिलता है। वैदिक कालमें कई प्रकारके काम करनेवाले लोग एक कुटुम्बमें रह सकते थे। धीरे-धीरे सुविधाके लिये एक कुटुम्बमें एक ही व्यवसाय के लोगोंका रहना अधिक अच्छा समझा जाने लगा और उनके विवाह-संबंध भी

---

[1] ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ऋ० १०. ९०. १०

समान व्यवसायके लोगों तक सीमित होने लगे। लोग शैशवावस्थासे ही अपने पूर्वजोंके कर्म और आचार-व्यवहारको अपना लेते थे और उनकी जाति पूर्वजोंकी जातिके ही समान रह जाती थी। इस प्रकार जातिका निर्धारण कर्म और जन्म दोनोंसे होने लगा।[1]

जन्मानुसार जाति

जन्मके अनुसार जाति-व्यवस्थाके होजानेपर सामाजिक बन्धन धीरे-धीरे जटिल होता गया। ऐसी परिस्थितिमें विभिन्न कर्मोंको करनेवालोंकी अपनी-अपनी अलग-अलग टोली बनने लगी जो जन्मानुसार जातिके नियमसे दृढ रूप धारण कर लेती थी। इस प्रकार शनैः शनैः एक जातिकी विभिन्न उपजातियाँ अपने व्यावसायिक संगठनके आधारपर बनने लगीं और कुछ समय पश्चात् भारतमें चार जातियोंके बदले सैकड़ों जातियाँ दिखाई देने लगीं। वे अपनेको एक दूसरेसे अलग समझती थीं और स्वयं अपनी-अपनी टोलीके आचार-विचार और रीतियोंकी सुव्यवस्थाके लिये नियम बना लेती थीं। ऐसी जातियाँ और उपजातियाँ जन्म और कर्म दोनोंके आधारपर चल रही थी।

आचारका महत्त्व

जन्मके अनुसार जाति-विभाजन होनेपर भी कर्मका महत्त्व घटा नही। उच्च

---

[1] मेगस्थनीजने कर्मके अनुसार सात जातियोंका उल्लेख किया है—(१) दार्शनिक यज्ञ करते थे और प्रजाके हितके लिये खेती और पशुओंके सुधारके सम्बन्धमें खोज करते थे (२) शासक—शासन विभागमें उच्च पदोंपर होते थे (३) योद्धा—सेनामें रहते थे। राजा इनका भरण पोषण करता था (४) निरीक्षक राजाको सब प्रकारका समाचार देते थे (५) कृषक—खेती करते थे (६) पशुपालक और शिकारी ही पशुपालन और शिकार कर सकते थे (७) व्यापारी—वस्तुओंका क्रय-विक्रय करते थे। वह लिखता है 'कोई जाति अपनी जातिसे बाहर विवाह नहीं कर सकती थी और न अपना काम छोड़कर दूसरा काम कर सकती थी। किसी जातिका मनुष्य भी दो जातियोंका काम नहीं कर सकता था।' भारतवर्षमें मेगस्थनीजके यात्रा करनेके समय और भी कई जातियाँ थीं किन्तु उसकी यात्रा पटनाके समीपवर्ती प्रदेश तक ही सीमित थी, अतः वह अन्य जातियोंके विषयमें न जान सका।

जातिमें जन्म लेकर यदि कोई मनुष्य उस जातिके योग्य कर्म नहीं करता था तो उसे उच्च जातिमें रहनेका अधिकार नहीं रह जाता था। ऐसे लोगोंकी समाजमें प्रतिष्ठा नहीं थी। महाभारतके अनुसार कुल, स्वाध्याय और शास्त्र-श्रवणमेंसे कोई भी ब्राह्मणत्वका कारण नहीं माना गया है। जिसका आचार नष्ट होता वह कहींका नही रहता। पढ़नेवाले, पढ़ानेवाले, तथा शास्त्रका विचार करनेवाले— ये सब व्यसनी और मूर्ख हैं; पंडित तो वही है जो अपने कर्तव्यका पालन करता है। चारों वेद पढ़ा होनेपर भी यदि कोई दूषित आचारवाला है तो वह किसी भी प्रकार शूद्रसे बढ़कर नहीं है। वस्तुतः जो अग्निहोत्रमें तत्पर है और जितेन्द्रिय है वही ब्राह्मण है।[1] यदि शूद्रमें सत्य, क्षमा, सुशीलता, क्रूरताका अभाव, तपस्या, दया—ये सद्गुण दिखाई दें और ब्राह्मणमें इनका अभाव हो तो शूद्र, शूद्र नहीं है और ब्राह्मण, ब्राह्मण नहीं है। जिसमें ये गुण हों वही ब्राह्मण है, जिसमें इनका अभाव हो उसको शूद्र कहना चाहिये।[2] ऐतरेय और कौषीतकि ब्राह्मणमें कवष नामक दासीपुत्रका वर्णन आया है। वह आचारबलसे ऋषि हो सका था। गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, आदि ऋषि उसे नमस्कार करते थे और सर्वश्रेष्ठ मानते थे। छान्दोग्योपनिषद्में सत्य बोलनेवाले सत्यकामको हारिद्रुमत गौतमने ब्राह्मण माना है, यद्यपि वे उसके पितृकुलका कुछ भी पता नहीं लगा सके। मनुने कर्मानुसार जातिका प्रतिपादन करते हुये कहा है कि तप और बीजके प्रभावसे जातिका उत्कर्ष और अपकर्ष होता है। अपनी जातिके योग्य कर्म न करनेसे बहुतसे क्षत्रिय वृषल (शूद्र) हो गये है।[3] श्रीमद्भागवतके अनुसार जिस पुरुषके वर्णको बतलानेवाला जो लक्षण कहा गया है, वह यदि दूसरे वर्ण वालों में भी मिले तो उसे भी उसी वर्णका समझना चाहिये।[4] प्रसिद्ध नाटककार शूद्रकने भी जन्मानुसार जातिका खोखलापन दिखाते हुये लिखा है:—

> न खलु वयं चाण्डालाश्चाण्डालकुले जातपूर्वा अपि।
> येऽभिभवन्ति साधुं ते पापास्ते च चाण्डालाः॥[5]

---

[1] वनपर्व-यक्ष-युधिष्ठिर-संवाद।

[2] वनपर्व—युधिष्ठिर-सर्प-संवाद।

[3] मनुस्मृति १०.४२-४३।

[4] सप्तम स्कन्ध एकादश अध्याय।

[5] मृच्छकटिक अंक १० श्लोक २२।

(चांडाल कुलमें उत्पन्न होनेपर भी हम लोग चांडाल नहीं हैं। जो सज्जनोंको दुःख देते हैं, वे ही पापी हैं, वे ही चांडाल हैं।)

जैसा कि हम देखते हैं, एक युग भारतमें ऐसा अवश्य रहा जब कि कर्म और जन्म दोनोंके बन्धनमें पड़कर जाति-व्यवस्था डाँवाँडोल हो चुकी थी। तर्ककी कसौटीपर जाति आचारके अनुसार होनी चाहिये और पुराणताकी दृष्टिसे जन्मके अनुसार जाति चलनी चाहिये थी। ऐसी परिस्थितिमें कहींपर कोई नामधारी ब्राह्मण और क्षत्रिय व्यापार करते हुये सेठ कहलाते थे और कहीं कोई जन्मसे शूद्र वैश्यका काम करके वैश्य बन जाता अथवा क्षत्रिय अपने गुणोंसे ब्राह्मण बन जाता था। भागवत पुराणमें गार्ग्य, तर्यारुणि, कवि और पुष्करारुणि आदि क्षत्रियोंके ब्राह्मण बनने तथा नाभाग नामक क्षत्रियके वैश्य हो जानेके उल्लेख मिलते हैं। धाष्ट्र नामक क्षत्रिय जाति समूची ब्राह्मण बन गई।

बौद्धों और जैनियोंने भी जाति-प्रथाका मूलोच्छेदन करनेका बहुत प्रयत्न किया। सुत्तनिपातमें जन्मानुसार जातिके विरोधमें कहा गया है:—

न जच्चा वसलो होदि न जच्चा होदि बह्मणो,
कम्मुना वसलो होदि कम्मुना होदि बह्मणो ॥

यद्यपि जन्मानुसार जातिकी पोल समय-समयपर खुलती रही किन्तु वैदिक धर्मके साथ-साथ इसका अस्तित्व भारतमें बना रहा। महात्मा तुलसीदासने इसका प्रतिपादन करते हुये लिखा है:—

सापत ताडत परुष कहंता। विप्र पूज्य अस गावहिं सन्ता
पूजिय विप्र सील-गुन हीना। सूद्र न गुन-गन ग्यान प्रवीना ॥

फिर भी आचारका महत्त्व इस देशमें सदासे रहा है और अब भी है। केवल सिद्धान्त रूपमें ही नहीं बल्कि व्यवहार रूपमें भी आचारवान् नीच कुलका होनेपर भी समाजमें सर्वोत्कृष्ट गिना गया है। विश्वामित्र अपनी तपस्याके बलसे ब्रह्मर्षि हो गये। उपनिषदोंके अनुसार काशीके क्षत्रिय राजा अजातशत्रुने गार्ग्य को और पंचाल देशके क्षत्रिय राजा प्रवाहणने शिलक और गौतमको दार्शनिक तत्त्वोंकी शिक्षा दी। क्षत्रियोंके इन ब्राह्मण शिष्योंने अपने गुरुओंके प्रति कृतज्ञताका भाव प्रकट किया और शिक्षाकालमें उनके विद्यार्थियोंकी भाँति रहे। उपनिषद्-कालमें राजा जनकका आदर किसी ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मणसे कम नहीं था। पौराणिक कालमें भी आचारनिष्ठ क्षत्रियोंकी प्रतिष्ठा ब्राह्मणोंसे कम नहीं रही। राम, कृष्ण और गौतमबुद्ध अपनी सच्चरित्रताके ही कारण विष्णुके अवतार माने गये। ये अवतार

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सबके लिये क्षत्रिय होनेपर भी आदरणीय रहे हैं। आज भी भारतवर्षमें आचारकी वही प्रतिष्ठा है जो पहले रही है। यही कारण है कि महात्मा गाँधी वैश्य होनेपर भी सत्य और अहिंसाके आचार्य होनेके नाते भारतवर्षके सर्वोच्च व्यक्ति हैं।

उपजातियोंका विकास

प्रारंभमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—केवल ये ही चार जातियाँ थीं। इन्हीं चार जातियोंके लोग विभिन्न व्यवसाय करते हुये भी अपनी-अपनी जातिमें बने रहते थे। जब जाति-व्यवस्था कर्मानुसार की गई और जन्मानुसार वह पुत्र-पौत्रोंको उत्तरदायित्वके रूपमें मिलने लगी तो शीघ्र ही अनेकों उपजातियाँ बन गई। प्रत्येक व्यवसायके नामपर प्रायः एक जाति बनते देर न लगी। उप-जातियोंके बननेमें अनुलोम और प्रतिलोम विवाह सहायक हुये। इन विवाहों-की सन्तान पिताकी जातिसे निम्नतर कोटिकी और माताकी जातिसे उच्चतर कोटिकी समझी जाती थी। मनुस्मृतिके अनुसार उपजातियोंका विधान नीचे दिया जाता है:—

पुरुषकीजाति	स्त्रीकी जाति	सन्तानकी जाति
ब्राह्मण	क्षत्रिय	मूर्धावसिक्त
क्षत्रिय	वैश्य	माहिष्य करण
वैश्य	शूद्र	पारशव
ब्राह्मण	वैश्य	अम्बष्ठ
,,	शूद्र	पारशव या निषाद
क्षत्रिय	शूद्र	उग्र
क्षत्रिय	विप्र	सूत
वैश्य	क्षत्रिय	मागध
,,	ब्राह्मण	वैदेह
शूद्र	वैश्य	आयोगव
,,	क्षत्रिय	क्षत्ता
,,	ब्राह्मण	चांडाल
ब्राह्मण	उग्र	आवृत
,,	अम्बष्ठ	आभीर

ब्राह्मण	आयोगव	धिग्वण
निषाद	शूद्र	पुक्कस
शूद्र	निषाद	कुक्कुटक
क्षत्ता	उग्र	श्वपाक
वैदेह	अम्बष्ठ	वेण
व्रात्य ब्राह्मण[1]	ब्राह्मणी	भूर्जकंटक, आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध, शैख
,, क्षत्रिय	क्षत्रिय	झल्ल, मल्ल, नट, करण, खस, द्रविड निच्छिवि
,, वैश्य	वैश्य	सुधन्वा, कारुष, विजन्मा मैत्र, सात्वत

इसके अतिरिक व्यभिचार या सगोत्रादि विवाह करनेसे वर्ण-संकर जातियाँ उत्पन्न होती थीं। ऊपर कही हुई जातियों के स्त्री-पुरुषोंके अनेकों नये नये युग्म बन सकते हैं, जिनसे उपजातियोंकी संख्या मनुस्मृतिके अनुसार बढ़ सकती है। इस प्रकार भारतवर्षमें अनेकों उपजातियाँ तैयार हो गई थीं।

जातियोंके चरित्र

चाहे कोई मनुष्य किसी वर्णका क्यों न हो उसको सदाचारी बननेसे कोई रोक नहीं सकता था। प्राचीन कालमें मानव जातिमें जन्म लेनेके नाते मानव-धर्मका पालन करना सबके लिये आवश्यक समझा जाता था। क्रोध न करना, सच बोलना, धनको बाँट कर खाना, क्षमा, पर स्त्रीको पूज्य भावसे देखना, पवित्रता, द्रोह न करना, सरलता और आश्रित प्राणियोंका भरण-पोषण करना—ये सभी वर्णोंके लिये समान कर्तव्य निर्धारित किये गये थे। इन कर्तव्योंका पालन करता हुआ कोई भी मनुष्य, चाहे वह शूद्र या चांडाल ही क्यों न हो, महान् है। भारतके वे दिन उज्ज्वल थे जब इन गुणोंको सामान्य जनताके लिये नियत किया गया था। जीवनके किसी भी क्षेत्रमें अपने उपर्युक्त कर्तव्योंका पालन करने वाला व्यक्ति आचारशील और चरित्रवान् गिना जाता था।

---

[1] जिन ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्योंका उपनयन संस्कार नहीं होता, वे व्रात्य कहलाते हैं।

ब्राह्मण सारे समाजका मित्र होता था।[१] उसका कर्तव्य था कि जनताको अपने ज्ञानके दानसे उन्नतिका पथ दिखला दे। ब्राह्मणके मनमें कभी यह विचार नहीं उठता था कि मैं अन्य लोगोंसे बड़ा हूँ। भारतीय संस्कृतिके उन्नायक होनेके साथ ही ये ब्राह्मण सरलता, विनय और सद्भावोंकी मूर्त्ति थे। इनका सम्पूर्ण जीवन तपोमय था, इनके जीवनमें यदि कभी कोई तृष्णा थी तो वह थी ज्ञान और लोकोपकार की। ब्राह्मण स्वतंत्र जीवन व्यतीत करते थे। उनका भोजन बाजार में गिरे हुये अथवा खेतमें छूटे हुये अन्न-कणोंसे ही हो जाता था। इन्हीं ब्राह्मणोंके अतीत गौरवकी स्मृति-रूपमें कणाद (कण खाने वाले) और पिप्पलाद (पीपलके फलको खाकर जीविका चलाने वाले) के नाम अब तक चले आते हैं। इस प्रकार जीवन बिताने वाले ब्राह्मण आश्रमोंमें निःशुल्क विद्यादान देकर समाज सेवा करते थे[२]। ऐसे ब्राह्मण स्वभावतः सर्वत्र पूजे जाते थे, सभी लोग उनसे स्नेह करते और उनका आदर करनेमें आत्मगौरव मानते थे।

अपनी पतितावस्थामें ब्राह्मण दान लेने लगे। पुराणों और स्मृति-ग्रंथोंमें दान वृत्तिकी भूरि-भूरि निन्दा की गई है। 'दान लेने वाला ब्राह्मण लकड़ीकी भाँति जल जाता है, अपनी विद्याको बेचने वाला ब्राह्मण निन्द्य है' ऐसा स्मृतिकारों ने बार-बार कहा है। यों तो ब्राह्मण अपनी जीविका चलानेके लिये राजकीय शासन व्यवस्थामें भाग लेने लगे, कभी-कभी युद्धक्षेत्रमें भी जाते अथवा शिल्प और व्यापारका काम भी कर लेते थे, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्राह्मणोंमें सदासे आदर्शचरित्र वाले उच्च कोटिके विद्वान् होते आये हैं जिन्होंने इस देशका गौरव बढ़ाया है। ऐसे ही ब्राह्मणोंके कर्मके विषयमें गीतामें कहा गया है :—

---

[१] विष्णुपुराणके अनुसार 'मैत्री समस्तभूतेषु ब्राह्मणस्योत्तमं धनम्' अर्थात् सभी प्राणियोंके प्रति मैत्री ही ब्राह्मणका सर्वोत्तम धन है।

[२] मेगस्थनीज दार्शनिक ब्राह्मणोंके विषयमें लिखता है कि वे नगरके सामने उपवनमें छोटीसी जगह अपनाकर रहते थे। उनका जीवन सरल था। ये चटाई या मृगछालापर सोते, मांस नहीं खाते और भोग-विलाससे दूर रहते थे। वे या तो सीखने या शिक्षा देनेमें समय बिताते थे। अर्थशास्त्रके अनुसार ब्राह्मणोंके लिये राजा वन नियत कर देता था जिसमें वे सोम उपजाते थे, या संन्यासी बनकर रहते थे और तप करते या अध्यापन करते थे। भाग २, अध्याय २।

शमो दमस्तपः शौचं शान्तिरार्जवमेव च,
ज्ञानविज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्मस्वभावजम् ॥

(शम, दम, तप, पवित्रता, शान्ति, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और वेदोंमें विश्वास—ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं।) ब्राह्मण अपने कर्तव्यका पालन करते हुये इतने तेजस्वी हो जाते थे कि केवल ब्रह्म तेजकी कामना करते हुये बहुतसे क्षत्रिय भी आजीवन तप करके ब्राह्मणत्वकी सिद्धि करते थे। फिर भी ब्राह्मणों की संख्या सदासे सभी जातियोंकी अपेक्षा कम रही है, क्योंकि इनका जीवन बहुत कठोर था।

क्षत्रियोंका मुख्य कर्तव्य राष्ट्रमें सुख-शान्तिकी स्थापना करना रहा है। ये प्रजाकी रक्षा करनेके लिये शस्त्र धारण करते थे और दूसरोंको बचानेके लिये प्राण हथेली पर लेकर सदैव युद्धके लिये सन्नद्ध रहते थे। जैसे ब्राह्मणोंके कर्तव्य पालनमें त्याग और तपस्याकी प्रधानता रहती थी वैसे ही क्षत्रियके लिये उत्साह और आत्मबलिदानका महत्त्व था। प्रायः लोगोंकी यह धारणा थी कि क्षत्रिय युद्ध-क्षेत्रमें प्राण त्याग कर सीधे स्वर्ग-लोक पहुँचता है। क्षत्रियके लिये रोग-शय्या पर मरना निन्दनीय माना जाता था। उसे तो लड़ते-लड़ते प्राण देना चाहिये। प्राचीन भारतका क्षत्रिय वीर आधुनिक सैनिकोंकी भाँति पराधीन वृत्तिका लड़ाका नहीं था। युद्ध-भूमिमें भी वह उचित-अनुचितका विचार रखता था और प्रायः न्यायके लिये युद्ध करता था।

क्षत्रिय अध्ययन और सत्संगके द्वारा अपने कर्तव्य-पथका पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता था। प्रायः क्षत्रिय युद्ध-विद्या सीखनेके पश्चात् वेद पुराण और शास्त्रों-का अध्ययन करते थे। राजकुमारोंको विशेषतः धर्म और न्यायकी शिक्षा दी जाती थी ताकि शासक होने पर प्रजामें धर्म और न्यायकी उचित व्यवस्था कर सकें। राजा देशकी संस्कृति और कला-कौशलकी उन्नति तथा राष्ट्रमें शान्ति और सुखकी व्यवस्थाके लिये उत्तरदायी होता था। अपने कर्तव्यका उचित रूपसे पालन करनेके लिये यह आवश्यक था कि वह स्वयं सच्चा, सच्चरित्र और त्यागी हो और उसे ललित कलाओं, शास्त्रों और शासन-व्यवस्थाका ज्ञान हो। महाकवि कालिदासने अपने आदर्श-चरित राजा दिलीपका वर्णन करते हुये लिखा है :—

ज्ञाने मौनं क्षमा शक्तौ त्यागे श्लाघा विपर्ययः।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद् भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ।।

(ज्ञान होने पर भी मौन रहना, शक्ति होने पर भी क्षमाशील होना, त्यागी होने पर भी अपनी प्रशंसा न करना—ये सब गुण राजामें एक दूसरेके भाईके समान विराजमान थे। वह प्रजाको विनयकी शिक्षा देता था, उनकी रक्षा और भरण-पोषण करता था। इस प्रकार वह उनका पिता था, उनके साधारण पिता तो केवल जन्म देने वाले थे।) इस प्रकारका राजा समाजमें देवता माना जाता था और उसके बालक होने पर भी कोई उसका निरादर नहीं करता था। क्षत्रियोंके स्वाभाविक गुण तेज, बल, धैर्य, वीरता, सहनशीलता, उदारता, उद्योग-शीलता, स्थिरता और ऐश्वर्य हैं। इन गुणोंसे सुशोभित क्षत्रिय समाजमें सर्वत्र आदर पाते थे। सारी प्रजा क्षत्रिय जातिकी ऋणी थी।

वैश्य ही समाजका पोषक रहा है। उसका प्रधान कर्म कृषि रहा है जिससे अन्न उत्पन्न करके वह सारे समाजका उपकार करता था। भारतीय समाजमें प्रायः ब्राह्मण और क्षत्रिय कृषि नहीं करते थे। वे क्रमशः अपने ज्ञान-दान और शान्ति-व्यवस्थाके बदले वैश्यके उत्पादनमेंसे उचित भाग पानेके अधिकारी थे। वैश्यका जीवन बहुत कार्यशील रहता था। वे प्रायः निःस्पृह होते थे और अपनी सम्पत्ति उदारतापूर्वक समाज सेवामें लगा देते थे। वैश्यके लिये आस्तिकता, दानशीलता, दंभहीनता, ब्राह्मणोंकी सेवा करना और धन-संचय करनेसे सन्तुष्ट न होना स्वाभाविक धर्म है। वैश्य सदा उत्पादन-कार्यमें ही नहीं लगा रहता, अपितु अपने श्रमपूर्ण जीवनसे वह कुछ समय प्रतिदिन अध्ययनके लिये अवश्य निकाल लेता था। ब्राह्मण समाजको ज्ञान, क्षत्रिय शान्ति और वैश्य भोजन और वस्त्र देते थे।

शूद्र भारतीय समाजका सबसे अधिक उपयोगी अंग रहा है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनोंको अपने सहयोगसे सुखी करना उसका काम रहा है। प्रायः वह वैश्यके साथ रह कर खेती करने और पशु-पालनमें सहायता करता था। शूद्र स्वतंत्र रूपसे व्यापार या शिल्प-कर्मके द्वारा भी समाजकी सहायता करते थे। शूद्रोंकी स्वामिभक्ति प्रशंसनीय रही है। यदि स्वामी सन्तानहीन होता था तो सेवा करने वाले शूद्र उसे पिंड दान करते थे। वे बूढ़े और दुर्बल स्वामीका भरण-पोषण भी करते थे। शूद्रोंका धार्मिक जीवन सरल और पवित्र था।

वे अन्य जातियोंकी भाँति यज्ञ और पितृ-श्राद्ध करते और दक्षिणा भी देते थे।[1] विश्वके इतिहासमें भारतीय शूद्रोंके समान सामाजिक संगठनमें उपयोगी अंग अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। भारतीय संस्कृतिको गौरवपूर्ण रूप देनेमें शूद्रोंका बहुत बड़ा हाथ रहा है।

ऊपर लिखी हुई जातियोंका चरित्र केवल सिद्धान्त रूपमें ही उदार नहीं था, बल्कि उनकी उदारता कार्यरूपमें सदैव परिणत होती रही। मेगस्थनीजने जातियोंके चरित्रका वर्णन करते हुये लिखा है कि ब्राह्मण न तो सोनेकी इच्छा करते हैं और न मृत्यु से डरते हैं। सभी लोग सत्यवादी और गुणवान् हैं। उनको न्यायालयमें जानेकी वहुत कम आवश्यकता पड़ती है। भारतीय इतिहासमें ऐसे राजाओंका उल्लेख मिलता है जिनके प्रजा-पालन, उदारता और क्षमा-शीलताकी समता विश्वके इतिहासमें कदाचित् ही कहीं मिले। कलिंगके द्वितीय शिलालेखमें अशोकने राजकर्मचारियोंको आदेश दिया है कि आपको ऐसा काम करना चाहिये कि सीमान्त जातियाँ मुझ पर भरोसा करें और समझें कि राजा हमारे लिये वैसे ही हे जैसे पिता; वे हम पर वैसा ही प्रेम रखते हैं जैसे अपने ऊपर, हम लोग राजाके वैसे ही है जैसे उनके लड़के। अष्टम शिला-लेखके अनुसार अशोक श्रमण और ब्राह्मणोंका दर्शन करता था, स्वर्णदान करता था, ग्रामवासियों-के पास जाकर उपदेश देता और धर्मविषयक विचार करता था। इन्हीं शिला-लेखोंके अनुसार अशोकने न केवल अपने राज्यमें ही, वरं पड़ोसी राज्योंमें भी चिकित्साका उत्तम प्रवन्ध किया था। जिन स्थानोंमें पहलेसे औषधियाँ नहीं थीं वहाँ जड़ी-बूटियाँ भेजकर उनके लिये उपवन बनवा दिये। जहाँ फल-मूल नहीं थे, वहाँ अशोकने लोगोंके सुखके लिये उद्यान बनवाये, मार्गमें मनुष्यों और पशुओंके विश्रामके लिये वृक्ष लगवाये। अनेकों शिला-लेखोंपर अशोकने लिख-वाया कि 'लोगोंका कल्याण इसी बातमें है कि वे थोड़ा व्यय करें और थोड़ा ही संग्रह करें।' गुप्तकालके राजाओंका प्रजा-पालन और देश-रक्षा अनुपम हैं।

---

[1] आत्रेय और जैमिनिके मतानुसार केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंको ही यज्ञ करनेका अधिकार था किन्तु, बादरि आदि अन्य शास्त्रकारोंने चारों वर्णों को यज्ञका अधिकारी माना है। जैमिनिने हठधर्मसे ही शूद्रोंका यज्ञ करनेका अधिकार छीन लिया है। सूत्रोंके अनुसार रथकार शूद्रोंको अग्न्याधान और निषादोंको रौद्र यज्ञका अधिकार है।

हूणोंसे देशकी रक्षा करनेमें राजाओंको युद्ध-भूमिमें पृथिवीपर सोकर रातें काटनी पड़ीं। राजा हर्ष उदार क्षत्रिय-शासक था। वह प्रायः प्रयाग जाकर अपनी सारी विभूति दानमें दे देता और अपनी बहिन राज्यश्रीसे वस्त्र लेकर स्नान करनेके पश्चात् पहनता था। ह्वेनसाँगने सातवीं शताब्दीकी भारतीय जनताके विषयमें लिखा है कि "ब्राह्मणोंका आचरण शुद्ध है। वे धर्म-बलसे रक्षा करते हैं और पवित्र जीवन व्यतीत करते हैं। ब्राह्मण अत्यन्त शुद्ध सिद्धान्तोंका मनन करते हैं। क्षत्रिय शासनका काम करते हैं। वे धार्मिक और दयालु हैं। वैश्योंका मुख्य काम वाणिज्य है। शूद्र प्रायः कृषक हैं। वे भूमिको जोतने और खोदनेमें बहुत श्रम करते हैं। प्रायः सभी लोग स्वभावतः सरल और आदरणीय हैं। रुपये-पैसेके संबंधमें मक्कार नहीं हैं। न्याय करते समय बहुत विचारशील रहते हैं। ये धोखा नहीं देते और न विश्वासघात ही करते है; अपने वचनके पक्के हैं और प्रतिज्ञाओंका पालन करते हैं। इनकी शासन पद्धतिसे सुनीतिका परिचय मिलता है और इनका व्यवहार कोमल और मधुर है। इस देशमें अपराधी और राज-द्रोही बहुत कम हैं।"

पञ्चम अध्याय

रहन-सहन

भोजन और पान

भारतीय सभ्यताके प्रारंभिक युगमें मनुष्य भी अन्य पशु-पक्षियोंकी भांति प्राकृतिक ढंगसे खाता-पीता था। उस समय लोग दूध, फल, फूल, मधु और वनमें उपजे हुए अन्न खाते थे। कुछ लोग मांस भोजन करते थे। प्रारंभमें भोजन तैयार करनेमें आगका प्रयोग करना लोगोंको ज्ञात नहीं था।[1] सभ्यताके प्रथम सोपानपर पहुँचनेपर आगका प्रयोग होने लगा। स्वादकी वृद्धि कई वस्तुओंको एक साथ मिलाकर पकानेसे और मसालोंके उपयोग द्वारा हुई।

भोज्य पदार्थ

आजसे लगभग ५००० वर्ष पहले हड़प्पा और मोंहेंजोदड़ोके निवासी जिन पदार्थोंको खाते-पीते थे प्रायः उन्हींको आज भी हम लोग खाते-पीते हैं। वहाँकी खुदाईमें गेहूँ, जौ और चावलके अच्छी कोटिके दाने मिले हैं। वे शाक, भाजी, घी, खजूर, तिल और तरबूज भी उपजाकर खाते थे। संभवतः नीबूका उपयोग भी उनको ज्ञात था। उनको पशुपालनका चाव था। इस प्रकार उनको दूध, दही और घी पर्याप्त मात्रामें भोजनके लिये मिलते होंगे। वैदिक कालमें भी लगभग यही भोजन प्रधान रूपसे चलता था। लोग पक्ति (रोटी) पुरोडाश, अपूप और करंभ या यवागू पकाकर खाते थे। उनका ओदन (क्षीरौदन, मुद्गौदन और तिलौदन) चावलके साथ दूध, मूँग या तिल मिलाकर

---

[1] वानप्रस्थावस्थामें प्रायः लोग भोजन तैयार करनेके लिये आग काममें नहीं लाते थे। अब भी बहुतसे लोग साधु-जीवन व्यतीत करते समय आगसे पकाया हुआ भोजन न खानेका व्रत ले लेते हैं। वानप्रस्थ आश्रममें लोग जोते हुए खेतका अन्न भी नहीं खाते थे। उनका जीवन कई बातोंमें आदि कालके लोगोंके समान रहा है।

बनाया जाता था। उनका भोजन अन्नको उबालकर या भूनकर बनाया जाता था। प्रायः लोग प्रातःकाल, दोपहर और सायंकाल तीन वार खाते थे। इनके भोजन में दूध, दही और घीको स्थान मिला था। भारतवासी सदासे मीठे भोजन-को चाहते आये हैं। वैदिक कालमें भोजनके साथ मधु खानेकी रीति प्रचलित थी। महाभारत-कालमें मिठाइयाँ चीनीसे बनाई जाती थीं। प्रायः अपूप, रागखांडव और मोदक नामकी मिठाइयाँ बनती थीं। शाकाहारी लोगोंका ऐसा ही भोजन अबतक चला आया है। केवल अनुसंधान द्वारा नये-नये अन्नोंको मनुष्य समय-समयपर उपयोगी समझकर अपनाते गये। इन अन्नोंमें उड़द और मूँग इत्यादिकी दालें और श्यामाक, चिगूलक और चीनक इत्यादि चावल बौद्ध-कालमें साधारण भोजन बन गये। अर्थशास्त्रमें कोदो, धान (व्रीहि, शालि) वरक, प्रियंगु (बाजरा), मूँग, जौ, गेहूँ, माश, मसूर, शिम्बि इत्यादि भोज्य अन्न गिनाये गये हैं।

भारतवर्षमें मांस भोजन बहुत प्राचीनकालसे चला आ रहा है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ोके लोग मांस भोजनसे परिचित थे। वे जलजन्तुओं और पशु-पक्षियोंका मांस खाते थे। वैदिक-कालसे ही यज्ञके अवसरपर पशुओंको बलि देकर उनका मांस खा जानेकी प्रथा चली आ रही है। अतिथियोंके सत्कारके लिये प्रायः महोक्ष (बड़े बैल) मारे जाते थे। बृहदारण्यक उपनिषद्के अनुसार महान् पंडित, विख्यात, सभाओंमें जानेवाला, व्याख्यानदाता और सभी वेदोंका जाननेवाला पुत्र पानेके लिये मांसौदन (मांस और भात) घीके साथ अथवा गौ या भेंड़का मांस खानेका विधान था।[१] महाभारत-कालमें मांस-भोजनका प्रचार प्रायः धनी वर्गके लोगोंमें था।[२] इसी समयसे मांस-भोजनका निषेध प्रारंभ हुआ। अनुशासनपर्वमें युधिष्ठिरके पूछनेपर भीष्मने बताया है कि जो सुन्दरता, दीर्घ आयु, असीम शक्ति, तीव्र बुद्धि और स्मरणशक्ति चाहता है उसे हिंसासे बचना चाहिये। मांस और मदिरासे बचना वैसा ही पुण्यकारक है जैसे प्रतिमास अश्वमेधका संपादन। नारदने कहा है कि जो दूसरोंका मांस खाकर मोटा हो जाता है अंतमें उसकी दुर्गति होती है। इस प्रकार मांस-भोजनका प्रयोग तो कम हुआ किन्तु यज्ञ करते समय देवताओं और पितरोंको समर्पित करके मांस भोजन करना भारतसे जा न सका। विष्णुपुराणमें विभिन्न प्रकारके

---

[१] ६.४.१८	[२] उद्योगपर्व ४६.३४

मांससे श्राद्ध करनेपर विभिन्न कालतक पितरोंकी सन्तुष्टिका उल्लेख मिलता है। देवताओं और पितरोंके नामपर आज भी पशुओंको मारकर खा जानेकी प्रथा ब्राह्मणों तकमें कहीं-कहीं प्रचलित है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि मांस-भोजन भारतीय दर्शन और संस्कृतिके अनुकूल नहीं पड़ता। हमारे देशमें सभी जीवों और वृक्षों तकपर दया करनेकी शिक्षा दी गई है। देवताओं और पितरोंके नामपर पशु-हत्याकी जितनी निन्दा की जा सके, कम है। बौद्धों और जैनियोंने अहिंसाके सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए मांस-भोजनको बन्द करनेका श्रेयस्कर प्रयत्न किया। महाराज अशोकने पशु-वध बन्द करनेके लिये राजकीय नियमोंकी व्यवस्था की और अपनी भोजनशाला तकमें मांस-भोजनका निषेध किया।

गुप्तकाल आते-आते मांस-भोजन बहुत कम हो गया था। फाह्यानने लिखा है कि लोग प्रायः शाकाहारी हैं। उस समय उच्चकोटिके साधुओंका भोजन चावल, दही और घी था। साधारण लोग गेहूं और जौसे ही सन्तुष्ट रहते थे। शालि और कलम—दो प्रकारके चावल खाये जाते थे। चावल और शहदको मिलाकर अर्घ बनता था। गुडविकार और मत्स्यंडिका नामकी मिठाइयाँ बनाई जाती थीं। दूधसे मक्खन और घी तैयार किये जाते थे। उत्सवोंके अवसरपर पयश्चरु, मोदक और शिखरिणी नामके विशेष भोज्य पदार्थ खाये जाते थे। नमक और मरीच, लवंग और एलालता—मसाले भोजनको स्वादिष्ट बनानेके काममें आते थे। कुछ लोग जंगली सूअर, मृग, पक्षी, गवय और हरिणका शिकार करते थे और इनका मांस खाते थे। मांसका भोजन इसी रूपमें हर्षके शासनकालमें भी प्रचलित रहा। लोग मछली, भेड़े और हरिणका मांस खाते थे। ह्वेनसांगने लिखा है कि सबसे अधिक उपयोगी भोज्य दूध, मक्खन और मलाई है। कोमल शक्कर, मिश्री, सरसोंका तेल और अन्नसे बने हुए अनेक प्रकारके भोजन खाये जाते हैं। मछली, भेड़ और हरिण इत्यादिका मांस ताजा पकाकर खाया जाता है। बैल, गधे, हाथी, घोड़े, सूअर, कुत्ते, लोमड़ी, भेड़िये, शेर और बन्दरके मांस खाना निषिद्ध है। इनको खानेवाला गाँवसे बाहर कर दिया जाता है।"[1]

---

[1] भारतवर्षकी पैदावारोंका वर्णन करते हुए ह्वेनसांग लिखता है कि इस देश में आम, कपित्थ, आमला, गूलर, नारियल, कटहल, छुहारा, अखरोट, नाशपाती, बेर, शफतालू, खुबानी, अंगूर, अनार, नारंगी इत्यादि फल खूब पैदा होते

इत्सिगने लिखा है कि भोजनके समय अदरकके एक या दो टुकड़े दिये जाते हैं। साथ ही एक पत्तेपर डेढ़-डेढ़ चमचे भर नमक दे दिया जाता है। मीठी रोटियाँ, घी, खांड और फल भोजनके समय दिये जाते हैं। भोजनके अंतमें सुखाये हुए चावल और लोबियेके झोलकी बनी हुई कुछ लपसी, छाछकी गरम चटनीके साथ, स्वादके लिये परोसी जाती है। उपवसथ (व्रत)के दिन सब थालियाँ और रकाबियाँ रोटियोसे भर दी जाती है और चावल अलग रखा जाता है। उस दिन, जितना घी और मलाई कोई चाहे, खा सकता है। पंचभोजनीयमें चावल, जौ और मटरकी उबली हुई खिचड़ी, भुनी हुई मक्कीका आटा, मांस और मीठी रोटियाँ है, जिन्हें निगलकर खाना पड़ता है। पंचखादनीयमें मूल, डंठल, पत्ते, फूल और फल हैं, जिन्हें चबाना या पीसना पड़ता है। प्रायः लोग मीठे खरबूजे, तरबूज, आलू इत्यादि खाते हैं; मेद और मांसका प्रयोग कम है।

पेय

दूध भारतका सर्वप्रिय पेय रहा है। दूधके समान ही वैदिक कालमें सोमका पान भी लोकप्रिय था। लोग बहुत आनन्दपूर्वक सोम तैयार करते थे। सोमके पौधेको पीसकर दूधमें मिलाया जाता और देवताओंको समर्पित कर दिया जाता था। यह आह्लादकारी और स्वास्थ्यवर्धक पेय था। सोमसे एकाग्र चिन्तन संभव होता था। यह पीनेवालेको कर्मण्य और सच्चरित्र बनाता था। सोम-पानसे नींद भी आती थी। उपनिषद् कालमें गायें बहुत पाली जाती थी। एक-एक ऋषिके यहाँ हजारों गायें थीं। उपहार और दानके रूपमें हजारों गौवें भी दी जाती थीं। ऐसी परिस्थितिमें दूध लोगोंका साधारण पेय रहा। वैदिक कालसे ही सुरा या मद्य-पान भारतवर्षमें चला आ रहा है। मांस भोजनके साथ ही इसका भी निषेध किया गया। वेदोंमें सुरा-पानकी निन्दा की गई है। इसे जुएकी भाँति दुर्गुण कहा गया है। महाभारतमें लिखा है कि शुक्राचार्यने नियम बनाया कि ब्राह्मणोंको मद्य-पान नहीं करना चाहिये। उस समय यदि कोई ब्राह्मण मद्य-पान करता तो उसका धर्म नष्ट हो जाता था। बौद्धों और जैनियोंने मद्यको सर्वथा त्याज्य ठहराया। इन धर्मोका जहाँ-जहाँ प्रचार हुआ, वहाँ भोजन

हैं। अदरख, सरसों, खरबूजे, और तरबूजेकी खेती लोग शौकसे करते हैं। इस समय ये सभी भारतवासियोंके भोज्य होंगे।

और पानकी शुद्धताकी ओर लोगोंका विशेष ध्यान गया। मौर्यकालमें मद्यपान पर कोई विशेष रोक नहीं थी। इसके ऊपर राजकीय नियंत्रण था। प्रायः लोगोंको उतना ही मद्य पीनेका अधिकार था जितनेसे उनकी आर्थिक परिस्थिति-पर बुरा प्रभाव न पड़े। कौटिल्यने मेदक, प्रसन्ना और आसव नामकी मदिराओंका उल्लेख किया है जो क्रमशः चावल, आटे और कपित्थसे बनाई जाती थीं। अंगूरके रससे मधु, और आमके रससे सहकारसुरा बनाई जाती थीं। गुप्तकालमें भी मदिराओंका पान घटा नहीं। कई प्रकारकी मदिरायें लोग पीते थे, जिनमें मदिरा, आसव, वारुणी, कादम्बरी और शीधु प्रसिद्ध थीं। नारियलके रससे नारि-केलासव, गन्नेके रससे शीधु, और महुएसे पुष्पासव बनाये जाते थे।

प्राचीन भारतमें मद्यपान जनप्रिय पेय रहा है। राजासे लेकर रंक तक और स्त्रियाँ भी मद्यपान करती थीं। युद्ध करनेवाले क्षत्रिय छककर मदिरापान करते थे। केवल उच्च और गंभीर व्यक्तित्वके लोग ही मद्यको घृणाकी दृष्टिसे देखते थे। दार्शनिक ब्राह्मण और क्षत्रिय कभी मद्यपान नहीं करते थे। धर्म-शास्त्रोंमें सर्वत्र इसको त्याज्य बताया गया है।

भोजन-विधि

ऐसा अनुमान किया जाता है कि मोहेंजोदड़ो और हड़प्पाकी सभ्यताके धनी लोग चौकियोंपर भोजन करते होंगे। इत्सिगने लिखा है कि बौद्ध लोग हाथ-पाँव धोकर छोटी-छोटी कुर्सियोंपर अलग-अलग बैठते हैं। यह कुर्सी सात इंच ऊँची और एक वर्ग फुट चौड़ी होती है। कुर्सी भारी नहीं होती है। छोटे भिक्षुओंके लिये पटरियाँ काममें आती हैं। वे अपने पाँव पृथ्वीपर रखते हैं और थालियाँ उनके सामने रखी जाती हैं। भोजन करनेके स्थानको पहले गायके गोबरसे लीपते हैं और उसपर हरे पत्ते बिखेर दिये जाते हैं। कुर्सियाँ एक-एक हाथके अन्तरपर रख दी जाती हैं। बड़े-बड़े पलंगपर पलथी मारकर कोई भोजन नहीं करता। पलथी मारकर साथ-साथ बैठकर और घुटनोंको बाहरकी ओर फैला-कर भोजन करना उचित रीति नहीं है। दोपहरके समय प्रायः भोजन बाँटा जाता है। पहले भोजनके बर्त्तन सबके सामने रख दिये जाते हैं, वे सामने रखे जानेपर धोये जाते हैं। भोजन समान रूपसे परोसा जाता है। भोजन परोसनेवाला अति-थियोंके सामने खड़े होकर सत्कार-पूर्वक प्रणाम करता है और हाथमें भोजन पात्र, मीठी रोटियाँ और फल लेकर लगभग ९ इंचकी ऊँचाईसे परोसता है।

हिन्दू-शास्त्रोंमें भोजन करनेकी विधि इस प्रकार बताई गई है—पवित्र और मनको प्रसन्न करनेवाले स्थानमें आसनपर बैठकर स्वस्थ चित्तसे भोजन करना चाहिये। गृहस्थको पहले स्नान और पंचमहायज्ञ करने चाहिये और अपने आश्रितजनोंको भोजन देकर ही खाना चाहिये। भोजन करते समय मौन रहना सबसे अच्छा है। उस समय इधर-उधर नहीं देखना चाहिये। क्रमशः मधुर, लवण, अम्ल, कटु और तिक्त पदार्थोंको खाना चाहिये। पहले द्रव, मध्यमें कठोर और अन्तमें फिर द्रव पदार्थोंको खाना चाहिये। अन्नकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। भोजनके पश्चात् भोजनके पात्रमें अच्छी तरह आचमन करे और हाथोंको धोवे। भोजनसे निवृत्त होनेके पश्चात् शान्त चित्तसे आसनपर बैठकर अपने इष्ट देवोंका चिन्तन करे और भोजनकी उत्तमता और उपयोगिताका विचार करे। इत्सिगने लिखा है कि भोजनके पश्चात् दानपति अतिथियोंको दातुनें और शुद्ध जल देता है और प्रत्येक अतिथि एक गाथा पढ़ता है।

त्याज्य भोजन

प्राचीन भारतमें उच्च और सभ्य वर्गके लोग लहसुन, प्याज, गाजर और कुकुरमुत्ता नहीं खाते थे। ह्वेनसांगने लिखा है कि लहसुन और प्याज खानेवाले लोग नगरसे बाहर निकाल दिये जाते हैं। लोग भोजनकी पवित्रताका बहुत ध्यान रखते थे। बासी, अपवित्र और जूठा भोजन त्याज्य था। एक ग्रास खानेके पश्चात् बचा हुआ भोजन जूठा कहलाता था। एक बार खाने-पीनेसे बचा हुआ भाग भी अग्रहणीय था। जूठा भोजन किसीको दिया भी नहीं जा सकता था। जिस भोजनमें बाल या कीड़ा होता, अथवा जो फूँककर ठंढा किया जाता, वह अखाद्य समझा जाता था। यदि भोजनका पैरसे स्पर्श हो जाता, अथवा वह लाँघ दिया जाता, तो लोग उसे नहीं खाते थे।

भोजनका महत्व

भारतवर्षमें लोगोंकी यह धारणा रही है कि भोजनका प्रभाव मनुष्यकी चित्तवृत्तियोंपर पड़ता है। वे केवल शरीर-रक्षा और स्वास्थ्यके लिये ही भोजन नहीं करते, अपितु भोजनके द्वारा चरित्र-विकासका प्रयत्न करते हैं। छान्दोग्योपनिषद्के अनुसार "आहारकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि होती है, सत्त्वकी शुद्धिसे स्मरणशक्ति बढ़ती है और स्मरणशक्तिके प्राप्त हो जानेपर मनुष्यको सभी

बंधनोंसे छुटकारा मिल जाता है।"[1] गीतामें विभिन्न प्रकृतिके लोगोंकी पहचान भोजनके आधारपर बताई गई है। आयु, सात्त्विकवृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिकी वृद्धि करनेवाले, रसीले, स्निग्ध, शरीरमें भिदकर चिरकाल तक रहनेवाले और मनको आनन्ददायक आहार सात्त्विक मनुष्योंको प्रिय होते हैं। कटु अर्थात् चरपरे, खट्टे, खारे, अत्युष्ण, तीखे, रूखे, दाहकारक तथा दुःख-शोक और रोग उपजानेवाले आहार राजस मनुष्यको प्रिय होते हैं। कुछ कालका रखा हुआ अर्थात् ठंढा, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, जूठा तथा अपवित्र भोजन तामस पुरुषको रुचता है।[2] दार्शनिक दृष्टिसे मन और बुद्धि प्रकृतिके विकार हैं, इसलिये जहाँ आहार सात्त्विक हुआ वहाँ बुद्धि भी आप ही आप सात्त्विक बन जाती है। इसी आधारपर फलाहार या उपवासके व्रतोंका प्रचलन हुआ है और कुछ भोजन त्याज्य बताये गये हैं।

शरीरकी रक्षा और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे मांसाहार और मद्यपानकी उपयोगिता अवश्य संदिग्ध है। भारतवर्षकी जलवायुके अनुकूल ये भोजन और पेय नहीं पड़ते। यही कारण है कि प्रारंभमें इनका प्रचलन होते हुए भी शनैः-शनैः इनका निषेध हुआ और इनको तामसिक समझकर त्याज्य ठहराया गया।

वस्त्र

प्रारंभमें मानव-जाति प्रकृतिके अन्य जीवोंकी भाँति नंगी रहती थी। उस समय प्रकृतिने मनुष्यको भी अन्य प्राणधारियोंकी भाँति शरीरपर घने बाल देकर सुरक्षित बनाया था। आगे चलकर भारतीय साहित्यमें दिशाओंकी उपमा वस्त्रसे देकर कविजन वस्त्रहीन लोगोंके लिये दिगम्बर शब्दका प्रयोग करने लगे। प्राकृतिक सुविधाओंके कारण दिगम्बर रहनेकी रीति कभी लुप्त न हो सकी। जैन-धर्ममें दिशाओंको भी संन्यासियोंके लिये उपयुक्त वस्त्र माना गया। मानव प्राकृतिक आवरणसे सन्तुष्ट न रह सका। प्रकृतिके दानसे घोर शीत और वर्षामें शान्ति कहाँ? प्रारंभमें शरीरकी रक्षाके लिये पेड़ोंके पत्ते, छाल और पशुओंके चमड़े परिधानके रूपमें व्यवहारमें आने लगे। रुईके कपड़ोंका प्रचलन होनेके बाद भी वानप्रस्थाश्रममें वनकी दी हुई इन वस्तुओंका उपयोग होता रहा।

---

[1] छान्दोग्योपनिषद् ७.२६.२

[2] श्रीमद्भगवद्गीता १७.८-१०

वस्त्रोंके उपादान

रुईके कपड़ोंका उपयोग भारतवर्षमें हजारों वर्ष पहलेसे ही हो रहा है। हमारा देश रुई पैदा करनेमें संसारके सभी देशोंसे आगे रहा है। सबसे पहले रुई उत्तर भारतमें उपजाई गई। मोहेंजोदड़ोकी खुदाईमें रुईके कपड़े और उनको बनानेके लिये प्राचीन कालके सामान भी मिले हैं। मोहेंजोदड़ो-युगमें केवल रुईके ही नहीं बल्कि छालके रेशोंके भी कपड़े बनते थे। संभवतः ऊनके कम्बल भी यहाँ बनाये जाते थे। सूतके कपड़ोंको रंगकर उनकी सुन्दरता बढ़ाई जाती थी। ऋग्वेद-कालमें प्रधानतः ऊन और रेशमके कपड़े बनाये जाते थे। रेशमके कपड़ोंके दो भेद तारप्य और क्षूम थे। प्रायः यही कपड़े प्राचीन कालसे अब तक चले आ रहे हैं। सभ्यताके विकासके साथ-साथ विदेशोंसे भी वस्त्र भारतमें मँगाया जाने लगा। इनमेंसे चीनका रेशमी वस्त्र चीनांशुक प्रसिद्ध है। गुप्त-कालमें कौशेय, क्षौम, सन, भंग और ऊनके कपड़े बनने लगे थे। जाड़ेके लिये ऊन और रेशमको मिलाकर वस्त्र भी बनते थे। इस समय तक रँगनेकी कला बहुत विकसित हो चली थी। लोग प्रायः रँगनेके लिये भारतीय प्रकृतिके रंगोंका चुनाव करते आये हैं। रँगे हुए कपड़े ऋग्वेदके समयमें पहने जाते थे। लोग लाल और स्वर्णमय किनारोंसे वस्त्रोंको अलंकृत कर उसमें उषा का सौन्दर्य लानेका प्रयत्न करते थे। व्रात्यवर्ग काला रंग अधिक पसन्द करता था। गुप्त-कालमें कृष्ण, नील, लाल और कुंकुम वर्णके कपड़े पहने जाते थे। श्वेत वस्त्र भारतवर्षमें ऋग्वेदके समयसे ही बहुत पवित्र माना गया है। यज्ञ करते समय श्वेत वस्त्र पहनना आवश्यक था। गुप्त-कालमें भी यही रंग सबसे अधिक लोक-प्रिय रहा है। श्वेत रंगकी लोकप्रियताका कारण प्रधानतः इसका हमारे देशकी जलवायु और सरल प्रकृतिके अनुकूल होना ही है।

पहिनावा

मोहेंजोदड़ो-सभ्यताके पुरुष चादरकी भाँति कपड़े शरीरपर डाल लेते थे। यह कपड़ा प्रायः बायें कन्धेके ऊपरसे होकर दाहिने हाथके नीचेसे जाता था। दाहिना हाथ काम-काज करनेके लिये खुला रहता था। उस समय कपड़े सिले नहीं जाते थे। स्त्रियाँ अपने सिरको कपड़ेसे ढकती थीं। शरीरको ढकनेके लिये और शीतसे उसकी रक्षा करनेके लिये लम्बे वस्त्र लटका लिये जाते थे।

वैदिक संहिता और ब्राह्मण ग्रंथोंमें 'वास' (वस्त्र, धोती, साड़ी इत्यादि) का

उल्लेख मिलता है। इसके किनारे, अंचल और शिल्प मनोहर होते थे। वासके ऊपरकी ओर चौड़े किनारेकी नीवी होती थी और उससे लम्बा विना बना हुआ आँचल लटकता था। वासकी लम्बाईके छोरपर वातपान होता था जो अपने भारसे वस्त्रको हवामें उभड़नेसे रोकता था। संभवतः वासपर फूल और तारोंके चित्र कढ़े होते थे। लोग वासको बाँधकर स्थिरताके लिये उसे खोंस लेते थे और नीवीको अलगसे बाँधते थे। अपने शरीरके ऊपरी भागको ढकनेके लिये लोग ढीला-ढाला उपवासन या अधिवास पहनते थे। अधिवासके नीचे कसे हुए सिले कपड़े प्रतिधि, द्रापि और अल्क पहने जाते थे। प्रतिधि स्त्रियोंका कंचुलिका जैसा वस्त्र था। द्रापि और अल्कको स्त्री या पुरुष दोनों पहनते थे। वाधूय विशेष रूपसे वधुओंके लिये होता था। नर्तक सुनहला ढीला वस्त्र पहनता था। वैदिक-कालका पहिनावा याज्ञिक विधियोंके साथ-साथ चलता रहा।

सिरपर वैदिककालमें लोक उष्णीष (टोपी) पहनते थे। आगे चलकर हिरण्यस्तूप और स्तूप नामकी टोपियोंका प्रचलन हुआ। स्त्रियाँ अपने सिरको सितिका, कुरीर और कुम्भसे सजाती थीं।

वैदिककालके पश्चात् भारतीय पहिनावेपर विदेशी सभ्यताओंका प्रभाव पड़ा। शक वंशके राजा टोपी, कंचुक और पायजामे पहनते थे। इनमेंसे पायजामा विदेशी सभ्यताके साथ-साथ आया और बहुत काल तक भारतके उत्तर-पश्चिम प्रान्तों तक ही सीमित रहा। साधारण लोगोंका पहिनावा इस समय भी धोती, दुपट्टा और पगड़ी ही रहा। स्त्रियाँ साड़ी पहनती थीं। स्त्रियाँ साड़ीको मेखलासे और पुरुष धोतीको कटिबन्धसे बाँधते थे। वात्स्यायनने पसीना पोंछनेके लिये कर्पट नामक वस्त्रका उल्लेख किया है।

विदेशी पहनावेका धीरे-धीरे प्रसार हुआ। गुप्तकालमें पायजामा राजकीय पहिनावा हो गया। चन्द्रगुप्त प्रथमके एक सिक्केमें उसे कसा हुआ कोट, पायजामा और पगड़ी पहने हुए दिखाया गया है। दूसरे सिक्कोंमें उसे धोती पहने हुए दिखाया गया है। कुमारगुप्तके कुछ सिक्कोंसे तत्कालीन पहिनावा घुटनेके ऊपर तकका शिथिर वस्त्र ज्ञात होता है। कालिदासके वर्णनके अनुसार पुरुष और बालक सिरपर वेष्टन (पगड़ी) पहनते थे, शरीरका ऊपरी भाग उत्तरीयसे ढका जाता था। उत्तरीय आज-कलके शालकी भाँति होता था। अधोवस्त्र और उत्तरीय दोनोंको दुकूल कहते थे।

धनी लोगोंके वस्त्रमें अद्भुत चमक-दमक होती थी। बाणने हर्षके पहि-

नावेके विषयमें लिखा है कि वह दुकूल पहनता है, जिसपर राजहंसके चित्र बने हुए हैं। इसका अधोवस्त्र मेखलाके रत्नोंकी रश्मियोंसे चमक उठता है। जैसा कि बाणने लिखा है—आसामसे जो राजदूत हर्षके यहाँ आया था, उसने रेशमी तौलिये और भूर्जवल्कलकी भाँति कोमल कटिवस्त्र महाराज हर्षके लिये दिए थे। सामन्तोंके पहनावेके विषय में बाणने लिखा है कि वे कंचुक, कूर्पास, आच्छादनक, चोल और उत्तरीय पहने हुए थे, उनका सिर कुंकुम वर्णके दुकूलसे ढका हुआ था और उनकी पगड़ीमें मुकुटमणि चमक रही थी। साधारण लोगोंका पहिनावा साधारण कोटिका था। वे अपनी कमरके चारों ओर कपड़ेकी एक पट्टी लपेट लेते थे। उसके ऊपर एक कंचुक पहनते थे या किसी ढीले-ढाले कपड़ेसे छाती ढक लेते थे। प्राय: सभी लोग सिरपर पगड़ी बाँधते थे। ह्वेनसांगने लिखा है कि लोग प्राय: श्वेत वस्त्रको पसन्द करते हैं। पुरुष वस्त्रको मध्य शरीरमें लपेटकर और बगलके नीचेसे इकट्ठा करके शरीरके इधर-उधर निकाल लेते हैं तथा दाहिनी ओर लटका देते हैं। स्त्रियोंके वस्त्र भूमि तक लटके रहते हैं। इनके कंधे पूरी तौरपर ढके रहते हैं। कुछ लोग मोर पंख भी पहनते हैं, या छाल या पत्तों के वस्त्र धारण करते हैं। इत्सिंगके कथनानुसार भारतके मनुष्यों, अधिकारियों और उच्चश्रेणीके लोगोंका परिधान श्वेत, कोमल कपड़ेका एक जोड़ा होता था, परन्तु निर्धन और छोटी श्रेणीके लोगोंके पास सनके कपड़ेका एक टुकड़ा ही था।

स्त्रियोंकी वेश-भूषा गुप्तकालमें बहुत कुछ पुरुषोंके पहिनावेसे मिलती-जुलती थी। उनका ऊपरी वस्त्र स्तनांशुक या कूर्पासकके बन्धनसे कस दिया जाता था और अंशुक कमरसे लटककर चरण छूता था वे अंशुकको नीवीबंधसे कसती थीं और उसके ऊपर मेखला पहिनती थीं। सारे शरीरको ढकनेके लिये स्त्रियाँ साड़ी पहन लेती थीं। बाणने लिखा है कि धनी स्त्रियों के वस्त्रपर सुन्दर चित्र विशेषरूपसे बने होते थे। किसी-किसीके वस्त्रपर सैकड़ों फूल और पक्षी दिखाई देते थे।

पहनावेकी दृष्टिसे वस्त्रोंकी विभिन्न कोटियोंके नाम रखे गये थे। जो वस्त्र शरीरपर बाँधे जाते थे उनको निबन्धनीय कहते थे। पगड़ी और साड़ी निबन्धनीय हैं। चोली जैसे वस्त्रोंका नाम प्रक्षेप्य था क्योंकि ये प्रक्षेपके साथ पहने जाते थे। जिन वस्त्रोंको लोग शरीरपर आरोपित करते थे उनका नाम आरोप्य था। उत्तरीय वस्त्र आरोप्य कोटिमें आता है।

वस्त्रोंके भेद

भारतवर्ष वस्त्र बनानेके व्यवसायमें बहुत आगे था। अनेकों प्रकारके वस्त्र विविध प्रान्तोंमें बनते थे। वस्त्रों की विविध शैलीका निदर्शन कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें मिलता है। अर्थशास्त्रके अनुसार कम्बल दस प्रकारके होते हैं— कम्बल (मोटा और रूखा), कौचपक (ग्वालोंके योग्य) कुलमितिक (सिरके लिये), सौमितिक (बैलकी पीठपर ओढ़ानेके लिये), तुरगरत्तरण (घोड़ेकी पीठपर डालनेके लिये), वर्णक (रंगीन), तलिच्छक (बिछानेके लिये), वारवाण (कोट), परिस्तोम (विशाल कम्बल), समन्त भद्रक (हाथीकी पीठपर बिछानेके लिये)। कौटिल्य लिखता है कि कंबल श्वेत, पूर्णतः लाल या कमलके फूलकी भाँति लाल हो सकते हैं। ये खचित (सिले हुये), वान चित्र (विविध रंगोंके) या खंड-संहधात्य (कई टुकड़ोंके जोड़े हुये) हो सकते या तंतुविच्छिन्न (बराबर धागोंसे बुने हुये हो सकते हैं। इनमेंसे पिच्छिल्ल (चिकना) कोमल बालोंका, और मुलायम कम्बल सबसे अच्छा होता है। आठ टुकड़ोंका कम्बल, भिंगिसी, पानीसे बचानेके लिये होता है। ऐसी ही अपसारक भी होता है। ये दोनों कंबल नेपालमें बनते हैं। बंगका कपड़ा श्वेत और मुलायम, पांडचदेशका काला और मोतीके तलके समान कोमल, सुवर्णकुडच देशका सूर्यकी भाँति लाल और मोतीकी भाँति कोमल होता है। सुवर्णकुडचका कपड़ा गीले, बराबर या मिले हुये सूतका बनता है। अर्थशास्त्रके अनुसार मगध, पांडच और सुवर्णकुडचमें छालके तन्तुओंसे वस्त्र बनते थे। ये तन्तु नागवृक्ष, लिकुच, वकुल और वटसे प्राप्त होते थे, और क्रमशः पीले, गेहुँवे, श्वेत और मक्खनके रंगके होते थे। सुवर्णकुडच देशका वस्त्र सबसे अच्छा होता था। दक्षिण भारतकी मथुरा, अपरान्त (कोंकणमें), कलिंग, काशी, बंग (बंगाल), वत्स (कौशाम्बी) और महिष (महिष्मती) के रुईके वस्त्र सबसे अच्छे होते थे। कौटिल्यके इस वर्णनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतवर्षके कोने-कोनेमें वस्त्र बनानेका व्यवसाय उन्नतिपर था।

प्रसाधन

प्राचीन भारतके लोग अपने शरीरको सुन्दर बनानेका पूरा ध्यान रखते थे। वे प्रातःकाल उठते ही दातूनसे दाँत माँजते,[1] आँख धोकर काजल लगाते

---

[1] धनी लोगोंकी दातून औषधियों और सुगन्धित द्रव्योंसे सुवासित होती

और पान खाते थे। स्नान करनेके पहले केशमें आँवलेका तेल और शरीरमें सुगंधित तेल मले जाते थे। स्नान हो जानेपर सुगन्धित द्रव्योंसे शरीरका अनुलेपन होता था। लोग केशोंको सुधारकर नख काटते थे और आभूषण पहिनकर शरीर पर गन्ध छिड़कते थे। घरसे बाहर निकलनेके समय वे जूते पहिन लेते थे और हाथमें छड़ी या छाता ले लेते थे।

स्नान

भारतवर्षमें प्रतिदिन स्नान करना यहाँ की जलवायुके अनुकूल पड़ता है। प्रायः सभी लोग दिनमें एक बार स्नान अवश्य करते थे। कुछ लोग तो दिनमें दो या तीन बार स्नान करते थे। इस देशमें प्रकृतिने स्नान करनेके लिये पर्याप्त सुविधायें दे रखी हैं। नदी, झील और सोते प्रायः सर्वत्र मिल जाते हैं। जहाँसे ये प्राकृतिक सुविधायें दूर पड़ती हैं वहाँपर लोग कुएँ खोदकर जलका प्रबन्ध कर लेते हैं अथवा नहानेके लिये जलाशय खुदवा देते हैं।[१] लगभग पाँच हजार वर्ष पहलेकी सिन्धु-सभ्यतामें भी लोगोंमें स्नान करनेकी सुरुचि दीख पड़ती थी। मोहेंजोदड़ोके प्रायः सभी घरोंमें कुएँ बने थे। सार्वजनिक उपयोगके लिये घरोंके बाहर भी कुएँ थे। बड़े-बड़े घरोंमें स्नानागार भी बने हुए मिलते हैं। किसी-किसी घरमें ऊपरी छतपर भी स्नानागार मिलते हैं। शरीरपर रगड़कर मैल निकालनेके लिये यहाँपर झाँवा जैसी कोई वस्तु काममें लाई जाती थी जो आजकल भी मिलती है। मोहेंजोदड़ोमें विशेष अवमरोंपर सर्वसाधारणके स्नान करनेके लिये भी स्नानागार मिलते हैं। इनमेंसे एक स्नानागार ३९ फुट लम्बा, २३ फुट चौड़ा और ८ फुट गहरा है। इसके चारों ओर कोठरियाँ और ओसारे बने हुए

थी। एक सप्ताह तक दातून गोमूत्रमें पड़ी रहती थी जिसमें हर्रेका चूर्ण मिला होता था। फिर निकालकर इलायची, दालचीनी, तेजपात, अंजन, मधु और मरीचसे सुगन्धित बनाये हुए जलमें डालते थे। विविध प्रकारके मंजन और सुगन्धित जल भी मुँह और दाँतोंको धोनेके लिये काममें लाये जाते थे।

[१] भारतवर्षमें नहानेके लिये जलका प्रबन्ध कर देना पुण्यका काम समझा गया है। आधुनिक कालमें भी सर्वसाधारणके उपयोगके लिये कुएँ और जलाशय बनवानेकी प्रथा प्रचलित है और गर्मीमें जल पिलाने और नहलानेके लिये भी प्रबन्ध मिलता है।

हैं। इसकी दीवालें सुदृढ़ और मोटी हैं। भीतर जानेके लिये छः द्वार बने हुए हैं। समय-समयपर इस स्नानागारका जल निकालकर इसमें नया जल भरनेका प्रबन्ध था। स्नानागारोंमें संभवतः गर्म जलसे स्नान करनेके लिये नल भी लगे हुए थे।

भारतवर्षमें स्नान करनेका सुन्दर प्रबन्ध सदैव रहा है। कालिदासने सम-सामयिक धारागृहोंका वर्णन किया है जिसमें ग्रीष्म ऋतुमें यंत्रके द्वारा संचारित होकर शीतल जल आता था और स्नान करते समय बैठनेके लिये मणिमय शिलायें बनी हुई थीं। इन शिलाओंपर चन्दनके जलसे छिड़काव किया जाता था। स्नानागारमें जलकी द्रोणीमें कुछ देर बैठकर सुगन्धित जलसे नहाया जाता था। शरीरका मैल छुड़ानेके लिये हर तीसरे दिन फेनकका प्रयोग किया जाता था।

अनुलेपन और तिलक

स्नानके पहले और पीछे शरीरको कोमल और सुगन्धित बनानेके लिये विविध लेपों, गन्धों और तेलोंका प्रयोग बहुत प्राचीन कालसे होता आया है। मोहेंजो-दड़ोकी खुदाईमें भाँति-भाँतिके द्रव्य मिले हैं जिनसे उस समयके लोग अपने शरीर-को सजाते थे। वैदिक कालमें विवाहके अवसरपर वर अपने शरीरको भाँति-भाँतिके द्रव्योंसे सुगन्धित करते थे। रामायण-कालमें अनुलेपनोंका प्रयोग विशेष रूपसे बढ़ा। भरद्वाजने कई प्रकारके चूर्ण और अनुलेपनोंको देकर भरत और उनकी सेनाके स्नानका प्रबन्ध किया था। गुप्त-कालमें चन्दनकी लकड़ीसे अनु-लेपन और अंगराग बनाये जाते थे। कालीयक, कालागुरु और हरिचन्दनसे भी अंगराग बनते थे। इंगुदी, मनःशिला और हरितालसे कई प्रकारके तेल तैयार होते थे। कस्तूरी, अगुरु, केसर और मलाई इत्यादिको मिलाकर सुगन्धित और कान्तिवर्धक अंगराग बनाया जाता था। स्त्रियाँ, बालक और पुरुष सभी तिलक लगाते थे। हरिताल, मनःशिला और चन्दनको मिलाकर तिलकके लिये लेप तैयार होता था। अंजन और कुंकुमका भी तिलक लगाया जाता था। आँखोंमें शलाकासे कज्जल लगाया जाता था। स्त्रियाँ अपने कपोलपर विविध रंगोंके विन्दु रचती थीं, जिन्हें विशेषक कहते थे। इन विन्दुओंके द्वारा पत्तोंके चित्र भी रचे जाते थे, जिन्हें पत्र-विशेषक कहते थे। विशेषक कुंकुम, अगुरु और गोरोचनसे बनाये जाते थे। ओठोंको आलक्तक (लाख)से रँगा जाता था और ऊपरसे लोध्र चूर्ण डालकर उनको पीला बना देते थे। ओठोंपर कपूरका चूर्ण

भी छिड़का जाता था और पानसे भी उनको रँगते थे। पानके साथ लवंग, कपूर, सजातिफल इत्यादि भी खाये जाते थे। आलक्तकसे पद भी रँगे जाते थे और उनपर चित्रमयी रेखायें बनाई जाती थीं। बाहोंको गोरोचनसे रँगा जाता था। सारे शरीरको कस्तूरीसे सुगन्धित किया जाता था।

विवाहके अवसरपर वर और वधूका सौन्दर्य बढ़ानेके लिये विशेष रूपसे प्रयत्न किया जाता था। वधूके शरीरपर लोध्रका चूर्ण मला जाता था और कालीयकके अंगरागसे उसका उपलेपन होता था। उसके मस्तकपर हरिताल और मनःशिलाका तिलक और आँखोंमें कज्जल स्वयं उसकी माता लगाती थी। इस समय शुक्ल अगुरु और गोरोचनसे विविध प्रकारके चित्र उसके अंगोंपर रचे जाते थे।

केश-रचना

स्नान करनेके पश्चात् केशको धूपके धूएँसे सुगन्धित किया जाता था। धूपित करनेके लिये कालागुरु और लोध्र-चूर्णका प्रयोग भी होता था। सुगन्धित कर लेनेके पश्चात् केश-रचना प्रारंभ होती थी।

सिन्धु-सभ्यताके निवासियोंकी केश-रचना कलापूर्ण होती थी। उनके केश कई प्रकारसे सजाये जाते थे। बालोंको पीछेकी ओर मोड़कर चोटी बाँधनेकी रीति सामान्यतः प्रचलित थी। कुछ लोग बालोंके अधिक बढ़ जानेपर उनको बीचसे ही कटवा देते थे। कुछ लोग अपने बालोंको पीछेकी ओर डाल देते थे और उसे बाँधते नहीं थे। चोटी बाँधनेके लिये प्रायः सूतके बन्धन काममें आते थे। स्त्रियाँ केशमें चिमटी और कांटे लगाती थीं। संभवतः पुरुष भी इनका उपयोग करते थे। स्त्री और पुरुष सिरपर नुकीली टोपियाँ भी पहनते थे। सिन्धु-सभ्यतामें बाल काटनेके लिये छुरे काममें आते थे। कुछ छुरे ऐसे भी होते थे जिनकी तेज धारें दोनों ओर होती थीं।

सिन्धु-सभ्यताके कुछ लोग केशके बीचसे माँग बनाते थे। उनके केशोंके छोटे गुच्छे, जो पीछेकी ओर होते थे, बन्धसे बाँध दिये जाते थे। कुछ लोगोंके केश गुच्छे बनाकर पीछेसे मोड़ दिये जाते थे और नीचेकी ओर बाँधे जाते थे। बच्चोंके बाल प्राकृतिक रूपमें भी छोड़ दिये जाते थे। स्त्रियाँ पंखेकी भाँति सिरपर शिरोवस्त्र बाँधती थीं। उसमें फूल भी खोंसती थीं। कभी-कभी केशमें स्त्री और पुरुष कंघे भी खोंस लेते थे। कंघियाँ कई प्रकारकी होती थीं। प्रायः

वे हाथी-दाँतकी बनती थीं। कुछ कंघियोंके दोनों ओर दाँत होते थे। सिरके बालमें सोनेके काँटे भी लगाए जाते थे। वैदिक कालमें सिरपर बड़े-बड़े बालों-को रखनेकी रीति थी। पुरुष और स्त्री दोनों केश-पाशको सिरपर बाँधकर जूड़ा बनाते थे, जिसको कपर्द कहते थे। खुले केशका नाम पुशस्ति था। कुमा-रियाँ केशोंकी चार चोटियाँ बनाकर एकमें बाँधती थीं। लोग केशको बीचसे माँग निकालकर अलग-अलग करते थे। बालके गुच्छोंको कसनेके लिये कुरीर नामका गहना सिरपर पहना जाता था। स्त्रियाँ केशको सजाकर उसमें फूल लगाती थीं। रामायण और महाभारत कालमें ब्राह्मण प्रायः सिरके बाल छुरेसे मुंडवा देते थे और शिखा रखते थे। क्षत्रिय सिरपर बाल रखते थे। ईसाकी प्रथम शताब्दीमें पुरुष अपने केशोंको एक साथ बाँध देते थे और स्त्रियाँ सिरके दोनों ओर माँग बनाती थीं और तब केशको सिरके मध्य भागमें लाकर बाँधती थीं। कुछ स्त्रियाँ सामनेसे सिरके मध्य भागसे होती हुई माँग बनाती थीं। गुप्त-कालमें पुरुष सिरके बालोंको धागेसे ऊपर बाँधते थे। बालोंका गुच्छा बनानेकी रीति हर्षके समयमें भी प्रचलित थी।

गुप्तकालमें स्त्रियोंके बाल कई प्रकारसे सँवारे जाते थे। प्रायः स्त्रियाँ माँग निकालकर बालोंकी वेणी गूँथ देती थीं, किन्तु सिरपर चोटी बनाकर भी रखनेकी रीति थी। माँग या तो बीचसे निकाली जाती थी या सिरकी दाहिनी ओरसे।

अलंकार

प्राचीन भारतके लोगोंको अलंकारोंसे शरीरके अंग प्रत्यंगको सजानेका बड़ा ध्यान रहता था। पुरुष और स्त्रियाँ सदासे फूल, रत्न, धातु, हाथीके दाँत, मिट्टी, घोंघे इत्यादिके नाना प्रकारके गहने पहनते आये हैं। प्रायः पुरुष और स्त्रियोंके आभूषण एक ही प्रकारके होते थे। भारतवासी आभूषणोंसे इतना प्रेम रखते थे कि मूर्त्तियोंको कौन कहे, लोग गाय, घोड़ों और हाथियों तकको विविध प्रकारके गहनोंसे सजाते आये हैं और देव-मन्दिरों तथा राजप्रासादोंमें बहुमूल्य मणि लगाते रहे हैं।

सिरके गहने

सिन्धु-सभ्यताके युगमें सिर पर तिकोना गहना पहना जाता था जो मिट्टी या हाथी-दाँतका बनता था। मस्तक पर शिरोबन्ध पहना जाता था जो प्रायः

सोनेकी पतली पट्टियोंके बनते थे। इनके सिरों पर छेद होते थे जिनसे गहने लटकाये जाते थे। सिरको सोने, चाँदी,ताँबा और हाथी-दाँतके तिकोनोंसे सजाया जाता था। इन तिकोनों की ऊँचाई २.४५ इंच और व्यास २ इंच होता था। इनके छेदोंसे होकर बालके गुच्छे लटका दिये जाते थे। वैदिक कालमें केशके गुच्छोंको कसनेके लिये कुरीर पहने जाते थे। धनी लोग सिर पर स्वर्ण-मुकुट धारण करते थे। महाभारत कालमें राजा सिर पर मुकुट पहनते थे जिनमें सोने और रत्न जड़े होते थे। उनके शिखर पर मणियाँ होती थीं। गुप्त कालमें सिरके गहने चूड़ामणि, मुक्तगुण और किरीट थे। स्त्रियाँ मस्तकके ऊपर, जहांसे सीमन्त प्रारंभ होता है, एक मणि पहनती थीं।

कानके गहने

मोहेंजोदड़ोके लोग कानोंमें कुंडल पहनते थे और उसे कई जगह छेद कर अन्य आभूषण भी लटकाते थे। ये गहने सोने, चाँदी और ताँबेके बनते थे। कुछ लोग कर्णफूल भी पहनते थे। ऋग्वेदमें कर्णशोभनका उल्लेख मिलता है। राजाओंके कर्णशोभनमें रत्न लगे होते थे। कुंडल पहिननेकी प्रथा महाभारत-कालमें ज्योंकी त्यों मिलती है। गुप्तकालमें अनेक प्रकारके गहनोंसे कानोंको सजाते थे, जिनके नाम कर्णभूषण, कर्णपूरक, कुंडल और मणि-कुंडल थे। हर्षके शासन कालमें कानमें कर्णोत्पल और कर्णपूरक पहने जाते थे। वनके लोग कानोंमें मणिकर्णिका पहिनते थे।

गलेके गहने

बहुत प्राचीन कालसे ही गलेमें अधिकसे अधिक गहने लटकानेकी प्रथा चली आ रही है। सिन्धु-सभ्यताके लोग गलेमें कई हार एक साथ ही पहिनते थे। उस समय धनी लोगोंके हार सोने, चाँदी और ताँबेके होते थे। निर्धन लोगोंके हार मिट्टीके बने होते थे। कुछ हार बहुमूल्य रत्नोंको छेद कर बनाये जाते थे। इन हारों पर कुछ लिखा हुआ दिखाई पड़ता है जो संभवतः बनाने वाले या पहिनने वालोंके नाम हों। ऋग्वेद-कालमें निष्क, सृंका मणिग्रीव स्रक् और रुक्म नामके हार पहने जाते थे। महाभारत कालमें मणियों और रत्नोंके बहुत लंबे हार पहने जाते थे। अर्थशास्त्रमें विविध प्रकारके हारोंका उल्लेख मिलता है। कौटिल्यके समयमें शीर्षक, उपशीर्षक, प्रकाण्डक, अवघाटक और तरल प्रतिबन्ध नामके मुक्ताहार होते थे। हारोंमें १००८, ५०४, ६४, ५४, ३२, २७, २४, २०, और १०

लड़ियाँ होती थीं। इनको क्रमशः इन्द्रच्छन्द, विजयच्छन्द, अर्ध-हार, रश्मिकलाप, गुच्छ, नक्षत्रमाला, अर्धगुच्छ, माणवक और अर्धमाणवक कहते थे। एक लड़ीके हारको एकावली कहते थे। इन हारोंमें विविध मुक्ताओं, मणियों, रत्नों और स्वर्ण-गुलिकाओंका उपयोग होता था। गुप्तकालमें निष्क, मुक्तावली, ताराहार, हार, हारशेखर और हारयष्टि नामके गहने पहने जाते थे। सबसे नीचे सोनेकी गुल्लियोंसे बने हुये हार पहने जाते थे और सबसे ऊपर दोसे चार लड़ियोंका हार होता था। इन दोनोंके बीचमें विविध प्रकारके हार होते थे। स्त्री और पुरुष दोनों प्रायः एक ही भाँतिके हार पहनते थे।

बाहु और हाथके गहने

सिन्धु प्रदेशके लोग हाथोंमें सोने, चाँदी, ताँबा, पीतल, घोंघे और मिट्टीके बने हुये कंकण, कटक और चूड़ियाँ पहनते थे। सोने और चाँदीके कंकण भीतरसे खोखले होते थे और उनमें कोई हलकी वस्तु भर दी जाती थी। मिट्टीके कंकण बहुत साधारण होते थे, किन्तु टूटते कम थे। उस समय बाहोंमें भुजबंध और अंगुलियोंमें अंगूठियाँ पहनी जाती थीं। अंगूठियाँ चौड़े तारोंको गोल करके बनाई जाती थीं। कुछ अंगूठियोंमें एक ही तारके कई घेरे होते थे। इन घेरोंकी संख्या कभी-कभी सात तक पहुँचती थी। उस समय हाथमें कंकण पहननेकी प्रथा थी। महाभारत-कालमें चौड़े-चौड़े केयूर या अंगद पहिननेका प्रचलन था। गुप्त कालमें वलय, केयूर और कंकण पहने जाते थे। पुरुष हाथमें प्रायः छड़ी या छाता भी लेते थे।

कटिके गहने

मोहेंजोदड़ोके लोग कमरमें करधनी पहनते थे। इनमें बहुमूल्य रत्न पिरोये जाते थे। करधनी प्रायः गलेके हारोंकी भाँति ही बनती आई है। महाभारतमें कांची या करधनी पहननेका उल्लेख मिलता है। यह कोमल होती थी, और सुविधासे मुड़ जाती थी। बौद्धकालमें स्त्रियाँ इसी प्रकारकी करधनी पहनती थीं। गुप्तकालकी विविध प्रकारकी करधनियोंके नाम मेखला, हेममेखला, कांची, कनक किंकिणी और रशना इत्यादि मिलते हैं।

पैरके गहने

सिन्धु-सभ्यताके युगसे ही लोग पैरोंमें नूपुर पहनते आये हैं। इसका उल्लेख

वैदिक साहित्य, महाभारत और रामायण आदि ग्रंथोंमें मिलता है। नूपुरोंसे चलते समय मधुर शब्द होता था। हर्षके समय सामन्त लोग पैरमें पादबन्ध पहनते थे, जिसमें रत्न जड़े होते थे। पैरोंमें जूते पहिननेका उल्लेख वैदिक साहित्य में मिलता है। ये जूते विभिन्न पशुओंके चर्मसे बनाये जाते थे। सूअरके चर्म से भी जूते बनाये जाते थे। उस समय लकड़ीके खड़ाऊँ भी पहने जाते थे। रामायण कालमें भी चमड़ेके जूते और लकड़ीके खड़ाऊँ पहने जाते थे। रामने भरतको कुशकी बनी हुई पादुका दी थी। आरियनने लिखा है कि भारतवासी श्वेत चमड़ेके खड़ाऊँ पहनते हैं, जिनकी सजावट बहुत अधिक है। ये जूते बहुत मोटे हैं। गुप्तकालमें लोग जूते पहिन कर बाहर निकलते थे।

दर्पण

ऊपर लिखी हुई सारी सजावटें प्रायः लोग अपने हाथसे ही करते थे। इसके लिये दर्पणका होना आवश्यक था। सिन्धु-सभ्यताके लोग पीतल, ताँबे और कांसेके दर्पण काममें लाते थे। इन धातुओंकी पट्टियोंको चिकना और समतल करके उस पर एक प्रकारका लेप लगा देते थे। वैदिक साहित्यमें दर्पणका प्राकाश नाम मिलता है। गुप्तकालमें भी सोने, पीतल और ताँबेके दर्पण बनते थे। कालिदासने लिखा है कि लोग दर्पणको स्वच्छ करनेके लिये मुँहसे फूँक कर नमीको हटा देते थे। अजंताके चित्रोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि दर्पण अंडाकार होते थे, इनके तल सपाट थे और पीछे मुठिया लगी होती थी। दर्पण बहुत कम भारी होते थे।

षष्ठ अध्याय

उद्योग-धंधे

मनुष्य, प्राय: अन्य सभी जीवधारियोंकी भाँति, अपनी पहुँचकी सभी वस्तुओं-की परीक्षा करके देखता है कि कौन-कौन सी वस्तुयें मेरे लिये उपयोगी हो सकती हैं। वह अधिकसे अधिक वस्तुओंकी अधिकसे अधिक उपयोगिताका लाभ उठाना चाहता है। जिस वस्तुको वह जितना अधिक उपयोगी समझता है, उसको प्राप्त करनेके लिये उतना ही अधिक प्रयत्नशील होता है। वह अनुपयोगी अथवा हानिकर वस्तुओंका अस्तित्व यथासंभव मिटा देनेकी चेष्टा करता है। यही उसका जीवन-संग्राम है, इतनेमें ही मानव-जीवनके सभी कर्म-व्यापार आ जाते हैं। प्रारंभमें मनुष्यने अन्य जीवोंकी भाँति भोजनकी खोज की। उसे फल, फूल, अन्न और मांस इत्यादि उपयोगी ज्ञात हुये। वह श्रमपूर्वक उन्हें प्राप्त करने लगा। इस प्रकार उसके औद्योगिक जीवनका आरंभ हुआ।

सभ्यताके प्रारंभिक युगमें लोग भोजनके लिये प्रकृतिकी दी हुई वस्तुओं पर ही अवलंबित रहते थे। सभ्यताके विकासके साथ लोगोंकी सुरुचिका भी विकास हुआ और वे प्रकृतिकी स्वादिष्ट वस्तुओंको अपने संरक्षणमें अधिकसे अधिक मात्रामें उपजाने लगे। इस प्रकार जो अन्न, फल, फूल या शाक उन्हें रुचिकर प्रतीत हुआ, उसकी वे देख-भाल करने लगे और उसके आस-पासके अनुपयोगी पौधोंको उखाड़ कर फेंकने लगे। उपयोगी पौधोंकी बाढ़के लिये वे प्राकृतिक जल पर आश्रित न रहे। अपितु उन्होंने यथा समय सिंचाईका प्रबन्ध किया। धीरे-धीरे अच्छे बीज और उपजाऊ भूमिके चुनाव और उनकी तैयारी एवं खादके प्रयोगसे उपयोगी पौधोंकी उपज बढ़ा दी गई और वे प्राकृतिक पौधोंसे अधिक अच्छे फल देने लगे। यहींसे कृषिका प्रारंभ हुआ।

कृषि

भारतीय सभ्यताके इतिहासमें कृषिका सर्वप्रथम परिचय मोंहेंजोदड़ोमें प्राप्त हुये गेहूँ और जौके दानोंसे मिला है। ये दाने बहुत बड़े-बड़े हैं और इनको

देखकर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि यहांके निवासी खेतीके काममें कुशल होंगे। लोग हलमें बहुत बड़े, सुन्दर और पुष्ट बैलोंको जोतते थे, जिनकी हड्डियाँ और चित्र खुदाई करते समय बहुधा वहां प्राप्त हुए हैं। आर्य-सभ्यताकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उस समय लोगोंको खेतीके काम पर गर्व था। आर्यका मौलिक अर्थ भी है खेती करने वाला। आर्योंकी खेतीका ढंग लगभग वैसा ही था जैसा आज-कल साधारणतः गाँवोंमें देखा जा सकता है। आज-कल ही जैसे उनके हल, फाल, जोते, हँसिया और बीज बोनेकी रीति थी। खेतीके कार्यमें वे बैल और घोड़ोंसे काम लेते थे। सिंचाईके लिये कुयेंसे जल निकालनेमें भी घटिचक्रमें घोड़े और बैल जोते जाते थे। कुयेंसे खेत तक जल ले जानेके लिये नालियाँ बनाई जाती थीं और इन्हीं नालियोंमें घटिचक्रके घड़ोंसे पानी आकर गिरता था। घटिचक्र पत्थरके पहियेके सहारे चलता था। वैदिक कालमें भी जोताई, बोआई, सिंचाई, कटाई और पिटाई ठीक आज कल ही जैसी होती थी।

आर्य खेतीके कामको बहुत पवित्र मानते आये हैं। वैदिक काल में खेती करते समय लोग इन्द्र आदि देवताओंकी स्तुति करते थे। सीता[1] भी उनके लिये देवी ही थी। खेती का सारा आयोजन आनन्दमय था जैसा कि एक खेतिहर को नीचे लिखा गीत गाते हुये सुन कर कल्पना कर सकते हैं:—

"हमारे बैल प्रमुदित होकर काम करते जायँ, लोग प्रसन्न चित्तसे काम करें, हल सुखसे बढ़ता चले, बाँधनेकी रस्सी कोमलतासे लगाई जाय और अंकुशका प्रयोग उल्लसित मनसे किया जाय।"

वैदिक कालमें हल जोतनेके समय कभी-कभी एक ही हलमें दोसे अधिक बैल भी लगाये जाते थे। संभवतः उनके हल बहुत भारी होते थे। काठक-संहिताके अनुसार तो एक बार एक हलको २४ बैल भी खींचनेमें असमर्थ हो गये थे। उस समय भी संभवतः गायके गोबरका खादके रूपमें उपयोग किया जाता था। अथर्ववेदमें घी और मधुके खादका उल्लेख मिलता है। विविध प्रकारके अन्न धान, जौ, गेहूँ, चने, माष, तिल, प्रियंगु, मूँग, मसूर इत्यादिके उल्लेख मिलते हैं। इनके अतिरिक्त कपासकी खेती भी लोग करते थे। जाड़े और बरसातमें दो फसलें बोई जाती थीं, उनके बोने और काटनेका समय निश्चित था। एक खेतसे विविध प्रकारकी पैदावारें हेर-फेरसे उपजाई जाती थीं। महाभारत-कालमें

---

[1] सीता उस रेखाका नाम है जो भूमि जोतते समय हलके फालसे बनती है।

ईख और नीलकी भी खेती विशेष रूपसेकी जाती थी। कई प्रकारके अन्य पौधे, जिनसे रंग निकाला जाता था, उस समय उपजते थे। अधिकसे अधिक अन्न उपजानेके लिये लोग राजाके द्वारा बाध्य किये जाते थे। जो मनुष्य अपने खेतोंसे अन्न नहीं उत्पन्न करता था, उसे उपजके मूल्यके बराबर दंड देना पड़ता था।

महाभारत-कालमें खेतीको राजकीय संरक्षण विशेष रूपसे मिला था। राजा किसानोंको प्रसन्न रखता था। राज्यमें सिंचाईके लिये विशाल जलाशय बनवाये जाते थे जो जलसे लबालब भरे रहते थे। खेती वर्षाके भरोसे नहीं छोड़ी जाती थी। राजा सदा प्रयत्न करता था कि किसानके बीज और भोजन कभी नष्ट न हों। किसानोंको राजाकी ओरसे आवश्यकता पड़ने पर धन देनेकी व्यवस्था थी। राजा स्वयं किसानोंकी देख-भाल करता था और प्रेम पूर्वक उनका विश्वास करता था। खेतीकी रक्षा करनेके लिये निर्लोभ और कुलीन पदाधिकारी नियुक्त किये गये थे। प्राचीन भारतमें प्रायः राजा सदा ही राष्ट्रकी उन्नतिके लिये खेतीकी उन्नति करना अपना कर्तव्य समझते थे।

जातकोंमें सामूहिक खेती करनेका उल्लेख मिलता है। सबके खेत साथ ही जोते जाते थे। सभी लोग मिलकर सिंचाईके लिये सोते और नाले बनाते थे। गाँवका मुखिया सिंचाईकी देख-रेख करता था। गाँव भरके खेतोंकी रक्षा करनेके लिये एक ही ऊँचा बाड़ा बनता था। किसीको अपने भागके खेतोंका बाड़ा बनानेकी आवश्यकता नही पड़ती थी। खेतोंकी मेंड़ोंसे होकर नालियाँ बनाई जाती थीं। खेतों पर लोगोंका सामूहिक रूपसे अधिकार था। ऐसी परिस्थितिमें कोई खेत बेंचा नहीं जा सकता था।

मौर्यकालकी खेतीके विषयमें मेगस्थनीजने लिखा है कि प्रत्येक गाँवमें राजाने सिंचाईके लिये कर्मचारी नियुक्त किए हैं। वह सब प्रकारसे किसानोंकी सुरक्षा का प्रबंध करता है ताकि उनके सफल प्रयत्नसे जनता सुखी रह सके। कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें कृषि और वृक्षारोपण संबंधी विज्ञानकी उन्नतिका उल्लेख मिलता है। जैसा कि कौटिल्य लिखता है, राजकुमारको कृषि विभागके अध्यक्षके अधीन कृषि विद्याका अध्ययन करना पड़ता था। कृषिका अध्यक्ष कृषि, गुल्म और वृक्ष संबंधी विद्याओंमें पारंगत होता था।[१]

कौटिल्य लिखता है कि राजाका कर्तव्य है कि वह सिंचाईका प्रबन्ध करे

---

[१] 'कृषितन्त्रगुल्मवृक्षायुर्वेदज्ञः'।

और जलसे भरी झीलें बनवा दे। उस समय सिंचाई करनेके लिये छोटी-छोटी नदियों और सोतोंमें बाँध (सेतु) बना कर पानी रोक दिया जाता था। सिंचाईके ऐसे साधनको सेतुबंध कहा जाता था। गाँवोंके लोग मिल कर सेतु बना लेते थे। ऐसे लोगोंके लिये राजा स्थान, सड़क, लकड़ी या अन्य आवश्यक वस्तुओंका प्रबंध कर देता था। जो मनुष्य स्वयं सेतु-रचनामें भाग नहीं ले सकता था, उसे अपने नौकरों और बैलोंको भेजना पड़ता था। वह व्ययका भागी तो होता था किन्तु लाभमेंसे उसे कुछ भी नहीं मिलता था।

सिंचाईके लिये जहां इस प्रकारके सेतुबंध नहीं थे, वहां बड़े-बड़े तालाब खोद लिये जाते थे। केन्द्रमें एक बड़ा तालाब होता था। उससे कई नाले निकलते थे जिनसे छोटे-छोटे तालाबोंमें पानी पहुँचता था। किसी बड़े तालाबसे छोटे तालावकी ओर पानी न आने देना अपराध समझा जाता था। सिंचाईके पानीके संबंधमें किसी प्रकारकी गड़बड़ी करने वालेको राजाकी ओरसे दंड दिया जाता था। सेतुके बंधको काट कर पानी बहाने वाले व्यक्तिको कठोर दंड भुगतना पड़ता था। खेतीके लिये जो झीलें या तालाब बनाये जाते थे, उनके आसपासके खेतोंकी लगान पाँच वर्षों तक नहीं ली जाती थी। सिंचाईके उपर्युक्त साधनोंके नवीकरण किये जाने पर चार वर्षके लिये भूमिकर छोड़ दिया जाता था।

कौटिल्यके समयमें खेती करने वालोंका भूमि पर पूरा अधिकार था। जो लोग खेती नहीं करते थे, उनका भूमि पर कोई अधिकार नही रह सकता था।[1] राजा न जोतने वाले लोगोंकी भूमि किसानोंको दे देता था। खेती करने योग्य भूमि खेती न करने वालोंके हाथ नहीं बेची जा सकती थी। नये मैदानोंमें खेती करने वालोंसे दो वर्ष तक लगान नहीं ली जाती थी और जो खेत वे बनाते थे, उन्हींके अधिकारमें राजाकी ओरसे नियत कर दिये जाते थे।

कौटिल्यके समयमें खेती करनेमें वैज्ञानिक अनुसन्धानोंका उपयोग किया जाता था।[2] आकाशके नक्षत्रोंको देख कर वर्षाके परिमाणकी कल्पना कर ली

---

[1]कौटिल्यके समयमें जमींदारी प्रथा नहीं चल सकती थी।

[2]मेगस्थनीजने लिखा है कि राजाने दार्शनिकोंको कृषि और पशु-पालनके सम्बन्धमें अनुसन्धान करनेके लिये नियुक्त किया है। नये वर्षके आरंभमें सार्वजनिक सभामें उनके उपयोगी अनुसन्धानोंकी घोषणा की जाती है ताकि प्रजा उनसे समुचित लाभ उठा सके।

जाती थी। सूर्यकी गतिसे पौधोंके अंकुरित होने, बृहस्पतिसे दानोंकी बनावट और शुक्रकी गतिसे वर्षाका ज्ञान होता था। लोग बादलोंकी पानी बरसाने वाली शक्तिकी भी कल्पना कर लेते थे। 'तीन प्रकारके बादल लगातार सात दिन तक बरसते हैं, ८० प्रकारके बादलोंसे छोटे बूँद गिरते हैं और ६० प्रकारके बादल सूर्यकी धूपके साथ-साथ दिखलाई पड़ते हैं।' वर्षाके अभाव या बाहुल्यकी कल्पना करके उसके अनुरूप अन्नोंके बीज बोये जाते थे। उस समय भूमिकी परीक्षा करके उसकी योग्यताके अनुसार खेती की जाती थी। नदियोंके किनारे, जहाँ फेनाघात होता था, वहाँ वल्लीफल (ककड़ी, कोंहड़ा इत्यादि) बोये जाते थे। जहाँ प्रायः पानी लगता था, वहाँ अंगूर, ईख और मरीचकी खेती होती थी। कुओंके निकट लोग शाक और मूल बोते थे। नीचेके खेतोंमें हरी पैदावार उपजाई जाती थी और पैदावारोंकी दो पंक्तियोंके मध्य भागमें फूल इत्यादि गन्ध करने वाले पौधे, जड़ी-बूटियाँ, उशीनर, हीर, बेरक और लाखकी खेती होती थी। जड़ी-बूटियाँ गमलोंमें भी उपजाई जाती थीं।

बीजोंको बोनेके पहले उन्हें तुषार और धूपमें सात दिन खुला छोड़ देते थे। मूँग और माषके बीज तीन दिन खुली हवामें रखे जाते थे। गन्नेके बीजोंको बोनेके पहले उनके सिरों पर दोनों ओर मधु, घी, सूअरका मेद और गायका गोबर घोल कर लगाते थे। लोग कन्दके बीजको मधु और घी तथा रुईके बीजको गोबरसे लेप कर बोते थे। बीजोंके अंकुरित हो जाने पर उन्हें छोटी मछलियोंकी खाद देते अथवा स्नुहि वृक्षके दूधसे सींचते थे।

कौटिल्यके समयमें शालि (धान), व्रीहि (धान), कोद्रव (कोदो), तिल, प्रियंगु, दारक, वरक इत्यादि वर्षाके आरंभमें; मूँग, माष, शैव्य, वर्षा ऋतुके मध्यमें और कुसुम्भ, मसूर, कुलुत्थ, जौ, गेहूँ, मटर, तीसी और सरसों अन्तमें बोये जाते थे। राजा सदैव प्रयत्न करता था कि खड़ी पैदावारकी किसी प्रकारकी हानि न हो। बोये हुये खेतोंमें चलना, उनमें पशुओंको हाँक देना अथवा उनकी सीमा तोड़ देना न्याय-विरुद्ध माना जाता था और इसके लिये उचित दंडकी व्यवस्था की गई थी। पैदावारकी देख-भाल करनेके लिये रक्षक नियुक्त किये जाते थे। राजाकी ओरसे खेतिहरोंको अन्न, पशु और धन देनेका प्रबंध किया गया था जिससे वे खेतीका काम सुखसे कर सकें।

उद्यान

सिन्धु-सभ्यताके लोगोंको संभवतः उद्यानमें फल-फूल उगानेका चाव था। यहाँकी खुदाईमें मिले हुये बर्त्तनों पर खजूरके बीजोंका चित्र मिला है। एक झुमकेकी आकृति लंबे नीबूसे मिलती-जुलती है। संभवतः यहांके निवासी नीबूसे परिचित थे। एक मिट्टीके बर्त्तन पर नारियल और अनारके चित्र मिले हैं। इन लोगोंने उद्यान-विद्याकी भी कृषिकी ही भाँति उन्नति की होगी।

वैदिक कालमें लोगोंको अन्नकी भाँति फल खानेका चाव था। उनको फलों की प्राप्ति प्रायः वनोंसे हो जाती थी। वनके मधुर फल वाले वृक्षोंको लोग आश्रमोंके आस-पास रखते थे और अनुपयोगी वृक्षोंको काट-पीट कर आश्रम-भूमिको साफ रखते थे। इन आश्रमोंके चारों ओर वनोंसे भिन्न किन्तु उन्हींके समान उपवन होते थे, जिनमें वनके वृक्ष तो होते ही थे और साथ ही सुन्दर कुसुम और मीठे फल वाले वृक्ष लगा दिये जाते थे। आश्रमोंके इन उपवनोंमें नाना प्रकारके फलों और फूलोंके वृक्ष और मूल एवं लतायें वनोंकी ही भाँति होती थीं। ऐसे उपवनोंके वर्णन रामायण और महाभारतमें भरे पड़े हैं। गृह्यसूत्रमें सड़कोंके किनारे फलके वृक्ष लगानेका अथवा सार्वजनिक उपयोगके लिये उपवन लगाने का उल्लेख है। अशोकके शिला लेखोंसे ज्ञात होता है कि उसने मनुष्यों और पशुओंके उपभोगके लिये सड़कों पर वृक्ष लगवाये थे और यत्र-तत्र आमके उपवन भी लगवाये थे। पुराणोंमें पुण्यके लिये उपवन लगवाने या वृक्ष रोपनेका प्रायः आदेश दिया गया है।

आश्रमोंके उपवनके अतिरिक्त नगरोंके समीप भी उपवन लगाये जाते थे। महाभारत-कालमें उपवन लगाना पुण्यका काम माना जाता था। प्रायः तालाबोंके चारों ओर वृक्ष लगाये जाते थे। अयोध्या, लंका और किष्किन्धाके समीपके उपवनोंका मनोरम वर्णन रामायणमें मिलता है। उपवनकी महत्ता भारतीय जीवनमें धीरे-धीरे बढ़ती गई। मेगस्थनीजके लेखोंसे ज्ञात होता है कि मौर्य कालमें राजाओंको उपवनका चाव था। उस समय उपवनोंमें पालतू मोर और हंस रखे जाते थे। घासके मैदानोंको काटने-छाँटनेके पश्चात् उनमें कलापूर्ण विधिसे सघन कुंजोंका निर्माण करनेके लिये वृक्षारोपण किया जाता था। उपवनोंकी शोभा बढ़ानेके लिये उनमें मनोहर जलाशय बनाये जाते थे जिनमें बड़ी-बड़ी मछलियाँ पाली जाती थीं।

उपवन लगानेकी वैज्ञानिक विधिका उल्लेख कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें मिलता है। वह लिखता है कि वृक्षारोपणके पहिले गड्ढेको आगसे जलाना चाहिये और फिर उसमें गायकी हड्डी और गोबरकी खाद डालनी चाहिये। कौटिल्यके समयमें फलने या फूलने वाले वृक्षोंकी कोपलें तोड़ना, उनकी छोटी या बड़ी डालें काटना, उनके तनेको काट देना या समूल नाश कर देना न्याय-विरुद्ध था। फलने वाले पौधोंको भी किसी प्रकारकी हानि पहुँचाना अपराध माना गया था। कौटिल्य लिखता है कि मरुभूमिमें भी कुएँ और सरोवर बनवाने चाहियें और फल और फूलोंके उपवन लगाने चाहियें।

गुप्तकालमें प्राय: प्रत्येक घरका एक उपवन भी उसके साथ लगने लगा। कालिदासने उपवनोंको घरोंका अलंकार माना है, और अपनी रचनाओंमें गृह, नगर और राजप्रसादोंके योग्य क्रमश: गृह-उपवन, नगर-उपवन और प्रमद-वनोंका उल्लेख किया है। कालिदासके समयमें उपवन नदियोंके तट पर भी लगाये जाते थे और पतली नालियोंसे सींचे जाते थे। छोटे-छोटे उपवन वारियंत्रों (फौवारों)के चारों ओर लगा दिये जाते थे और नालियोंसे उनके थालोंमें पानी पहुँचाया जाता था। कुछ उपवनोंमें आमोद-प्रमोदका आयोजन किया जाता था। इनमें झीलें बनाई जाती थीं और उनके चारों ओर लता-वितान फैलाया जाता था। इन्हीं लता-वितानोंमें क्रीडाशैल बनता था और वहाँ पर बैठनेके लिये आसन, पालतू मोरोंके लिये स्तम्भ और वेदिकायें बनाई जाती थीं। इन्हीं उपवनोंमें कभी-कभी किसी वृक्षका लताके साथ विवाह-संस्कारका आयोजन किया जाता था, जिसमें बड़ी भीड़ इकट्ठी होकर मनोविनोद करती थी। अग्नि-पुराण और ब्रह्मवैवर्त्त-पुराणमें घरके समीप लगाने योग्य वृक्षों और लताओंका विस्तृत वर्णन मिलता है।

प्राय: उपवनोंको सींचने और देख-भाल करनेका काम स्त्रियाँ करती थीं। सींचने वाले पात्रोंको पयोघट या सेचनघट कहते थे और सींचने वाली स्त्रियोंको प्रमदवन-पालिका कहते थे।

ह्वेनसांगने अपनी भारतीय यात्राका वर्णन करते हुए लिखा है कि भारतवर्षमें फलोंको उत्पन्न करनेके लिये उपवन लगानेका चाव लोगोंमें है। यहाँ पर आम, कैंता, आमला, गूलर, नारियल, कटहल, छुहारा, अखरोट, नाशपाती, बेर, शफ-तालू, खुबानी, अंगूर, अनार, नारंगी, इत्यादि फल उपवनोंमें उत्पन्न किये जाते हैं।

उद्यान-शास्त्रका प्रामाणिक विवरण वराहमिहिर (५०५ ई०)के बहत्-

संहिता नामक ग्रंथके 'वृक्षायुर्वेद' अध्यायमें मिलता है। इसके अनुसार यह निश्चित प्रतीत होता है कि उस समय वृक्ष कलम करके भी लगाये जाते थे। वराह-मिहिरने वैज्ञानिक ढंगसे उद्यान लगानेके लिये भूमिकी तैयारीका वर्णन किया है और बताया है कि किस प्रकार वृक्षकी जड़ और तनेके ऊपरसे कलम करनी चाहिये, किस अवस्थाके वृक्षको किस ऋतुमें रोपना चाहिये, किस ऋतुमें वृक्षको कब सींचना चाहिये और कितनी दूरी पर उन्हें रोपना चाहिये। उसने लिखा है कि वृक्षोंको मनुष्योंकी भाँति रोग होते हैं। उनके रोगोंको दूर करनेके लिये कई प्रकारके सेंक और खादोंका विवरण देकर वराहमिहिरने शल्य-चिकित्सा की उपयोगिता बताई है। बृहत्संहितामें कुछ बीजोंको बोनेके पहले उसे घी और दूधसे कई दिन धोकर और गोबरमें सान कर हरिणके मांसमें लपेट कर धूपमें सुखानेकी विधि दी हुई है।

पशुपालन

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश रहा है। खेतीके कामको सुचारु रूपसे चलानेके लिये किसानोंको अच्छे बैलोंकी आवश्यकता पड़ती थी। ऐसी परिस्थितिमें खेतीके साथ पशुपालन स्वाभाविक काम है, क्योंकि पशुपालनसे हल खींचनेवाले बैल और घोड़े ही नहीं, अपितु खादकी भी प्राप्ति हो जाती है जो खेतोंको उपजाऊ बनानेके लिये अपेक्षित है। प्राचीन भारतमें पशुपालन बहुत सरल काम रहा है। इसका कारण यह है कि इस देशमें घास प्रायः सर्वत्र उगती है और पुराने समयमें जन-संख्या कम होनेके कारण घासोंके मैदान पर्याप्त मात्रामें मिलते थे जिनमें पशु बिना देख-भालके चर सकते थे।

सिन्धु-सभ्यताके युगमें लोगोंको पशु-पालनका बड़ा चाव था। यहांसे पशु दूसरे देशोंको भी भेजे जाते थे। कूबड़ वाले बैल सिन्धसे ही भारतवर्षके सभी प्रान्तोंमें पहुँचे है। यहाँकी खुदाईमें बैल, भैंस, भेड़, हाथी, कुत्ते और ऊँटकी ठटरियाँ मिली हैं। सिन्धके प्राचीन निवासी प्रधानतः इन्हीं पशुओंको पालते थे। संभवतः घोड़े भी यहाँ पाले जाते थे। पशुओंमें सबसे अधिक गाय और बैल पाले जाते थे क्योंकि ये उनके खेती के काम-काज में विशेष रूपसे सहायक थे। यहाँके बैल बड़े, पुष्ट और सुन्दर होते थे जिनको देख कर हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि उस समय लोग पशु-पालनमें प्रवीण थे और इस काममें उनका मन रमता था। वैदिक कालके आर्य भी कृषिके साथ पशु-पालन करते थे।

उनके पशु प्रायः गाय, बैल, भैंसे , घोड़े, बकरियाँ और भेड़ें थीं। आर्योंको गो-पालनका विशेष रूपसे चाव था। उनकी गौवें प्रातःकाल वन-भूमिमें चरनेके लिये जाती थीं और सायंकाल लौट आती थीं। गौवोंको तीन बार दुहा जाता था। घरकी कन्यायें उनको दुहा करती थीं।[1] अपनी उन्नतिके लिये आर्य गौवोंको इतना आवश्यक समझते थे कि वे उनको देवता मानने लगे। यज्ञ करते समय प्रायः लोग इन्द्रसे प्रार्थना करते थे कि हमारी गौवोंकी संख्या शीघ्र ही बढ़ जाय अथवा शत्रुओंकी गायें भी हमारी हो जायं। अथर्ववेदमें गौओंको पालने वाला एक कवि उनसे कहता है कि तुम लोग मुझसे हिली-मिली रहो। मेरी गोशाला तुमको पुष्ट बनायेगी। तुम्हारा सौन्दर्य नित्य बढ़ता है। तुम्हारी आयु बड़ी हो।

उपनिषद् कालमें आश्रमवासियोंके यहाँ गायोंके बड़े-बड़े झुंड होते थे, जिन्हें उनके शिष्य चराया करते थे। अकेले सत्यकामको उनके गुरु हारिद्रुमतने ४०० गायें चरानेके लिये दीं जिनको पाल-पोस कर सत्यकामने शीघ्र ही १००० कर दिया। राजाओंके अधिकारमें भी आश्रमवासियोंकी भाँति सहस्रों गौवें रहती थीं। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद्में लिखा है, एक बार राजा जनकने एक सहस्र गौवोंकी सींगोंमें सोना बँधवा कर उनको सबसे बड़े वेदके पंडित याज्ञ-वल्क्यको दे दिया। राजा जनकके पास हाथीके समान बड़ी-बड़ी गायें भी थीं। राजा जानश्रुतिने एक सहस्र गौवें रैक्वको देकर उनसे शिक्षा ली थी।

महाभारत-कालमें लोग पशुपालन-शास्त्रका अध्ययन बहुत परिश्रमसे करते थे। सहदेव इस शास्त्रका बहुत बड़ा पंडित था। वह ग्वालेका वेश धारण करके राजा विराटके यहाँ गया और कहने लगा, 'मेरी अध्यक्षतामें गौवोंकी संख्या शीघ्र बढ़ती है और उनमें कोई रोग नहीं फैलता। मैं अच्छे बैलोंके लक्षण जानता हूँ।' इसी प्रकार नकुलने अज्ञातवासके लिये राजा विराटसे कहा कि मैं अश्व-विद्याका पंडित हूँ। मैं अश्वोंके दुर्गुणोंको दूर कर देता हूँ और उनके रोगोंकी चिकित्सा करता हूँ। महाभारत-कालमें इन विषयों पर रचे हुए शास्त्र मिलते थे जिनके नाम संभवतः हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र और रथसूत्र थे। इस युगमें भी राजा लोगोंकी अध्यक्षतामें सहस्रों गायें रहती थीं। राजा विराटकी गायोंकी

---

[1] संस्कृतमें दुहिता शब्दका अर्थ कन्या है। इस शब्दका मौलिक अर्थ दुहने-वाला है।

संख्या एक लाख थी। इन गायोंकी देख-भालका काम प्रधान गोपको सौंपा गया था। उसका पद संभवतः ऊँचा था, क्योंकि उसे एक रथ भी मिला था।

जातकोंमें गाँवोंके रहनेवालोंके पशु-पालनका वर्णन मिलता है। प्रत्येक कुटुम्बके अलग-अलग पशुओंके समूह होते थे, किन्तु गाँवके सभी पशुओंका अध्यक्ष एक कुशल पशु-पालक होता था जो उन सबको घासके बड़े मैदानमें चराता था। मैदानका शुल्क गाँवके सभी लोग मिल कर देते थे। अध्यक्ष अपने सभी पशुओं-को पहचानता था और उनके चिह्नोंको जानता था। वह उनके चमड़े परसे मक्खियोंके अंडे हटा देता था, पशुओंके घावोंको अच्छा करता था, धुयेंसे पशुओंको काटने वाले मच्छरोंको भगाता था, वह पशुओंके घाट और पानी पीनेके स्थानोंसे परिचित था। पशु-पालक गौओंके नेताओंका आदर करता था।

कौटिल्यके समयमें पशुपालन महत्त्वपूर्ण विज्ञान गिना जाता था। राज-कुमार भी इस विज्ञानका अध्ययन करता था। इसकी शिक्षा प्रायः पशु-विभागके अध्यक्षकी देख-रेखमें दी जाती थी। राजाकी ओरसे गाय-बैल, घोड़े और हाथियोंके निरीक्षणके लिये क्रमशः गो-अध्यक्ष, अश्वाध्यक्ष और हस्त्यध्यक्ष नियत किये गये थे।

गो-विभागके अध्यक्षकी देख-रेखमें राजाकी हजारों गायें, बैल, भैंसे, भेंड़ें, ऊँट, गदहे, खच्चर, सूअर इत्यादि रहते थे। इनमें सबसे अधिक गायें होती थीं। अध्यक्ष विभिन्न प्रकारके पशुओंको सौ-सौके समूहमें बाँट देता था। प्रत्येक समूहमें छोटे-बड़े और जवान-बूढ़े सब प्रकारके पशु होते थे। इन पशुओंकी पहिचानके लिये तपे हुये लोहेसे राजचिह्न लगा दिये जाते थे। अध्यक्ष इन पशुओंके संबंधमें पूरी सूचना लिख रखता था। उसकी बहीमें पशुओंके राजचिह्न, रंग, प्राकृतिक लक्षण और सींगोंके बीचकी दूरीका उल्लेख रहता था। पशुओंके वर्गीकरणमें उनकी जाति, अवस्था, योग्यता और काम करनेकी शक्तिका उल्लेख किया जाता था।

कौटिल्यके समयमें पशुओंको चरानेके लिये राजाकी ओरसे गोचर नियत किये गये थे। शिकारी अपने कुत्तोंकी सहायतासे इन गोचरोंमेंसे चोरों और हिंसक पशुओंको भगा देते थे। एक-एक चरवाहेके आधीन लगभग एक झुंड सौ पशुओंका होता था। झुंडके असमर्थ पशुओंके गलेमें घंटियाँ बाँध दी जाती थीं, ताकि साँप और चीते उनसे अलग रहें और उनके कहीं छूट जाने पर घंटीकी टनटनाहटसे उनका पता लगाया जा सके। चरवाहोंको प्रायः वेतन दिया

जाता था, किन्तु कभी-कभी उनको गायें सौंप कर प्रतिवर्ष आठ वारक[1] घी लिया जाता था।

पशुकी रक्षाके लिये सदा प्रयत्न किया जाता था। अध्यक्ष स्वयं उनके स्वास्थ्यका निरीक्षण करता था। बछवों और बूढ़ी या रोगी गायोंकी चिकित्सा-का विशेष प्रबंध किया गया था। चरवाहोंको आज्ञा दी गई थी कि पशुओंको सदा सुरक्षित स्थानोंमें ही रखा जाय। उन्हीं झीलों और नदियोंमें पशु नहलानेके लिये अथवा पानी पिलानेके लिये ले जाये जाते थे जिनकी गहराई सर्वत्र समान होती थी और जो चौड़े होते थे एवं जिनमें दलदल या हिंसक जलचर नहीं होते थे। पशुओंको किसी प्रकारकी हानि पहुँचानेपर दंड दिया जाता था। जो पशुओं-को मारता या मरवाता, चुराता या चोरी करवाता, उसको मृत्यु-दंड दिया जाता था। चोरोंके हाथसे पशुओंको छीनने वालोंको पारितोषिक दिया जाता था। पशुओंको अधिक दुहना भी न्याय-विरुद्ध था। बरसातसे लेकर छः महीनों तक दो बार और उसके पश्चात् छः महीने केवल एक बार दुहना उचित था। इससे अधिक दुहने वाले व्यक्तिका अंगूठा काट लिया जाता था। पशुओंको नथ लगाने या उनको काम सिखानेके संबंधमें भी ऐसे नियम बने थे, जिनसे उनको कमसे कम कष्ट हो। साड़ोंको लड़ाना अपराध माना जाता था।

पशुपालन बहुत लाभप्रद व्यवसाय था। कौटिल्यके समयमें पशुओंका चर्म, मेदा, स्नायु, दाँत, खुर, सींगें और हड्डियाँ काममें आ जाती थीं। उनका मांस बेंचा जाता था या सुखा कर रखा जाता था। मक्खन निकाल लेनेके पश्चात् जो दूध बचता था वह ग्वालोंके खानेके काममें आता था अथवा कुत्ते और सूअरों को पिला दिया जाता था। गो-अध्यक्ष मक्खनका ठीक-ठीक हिसाब रखता था।

पशुओंके भोजनके लिये अच्छी व्यवस्था की गई थी। बैलोंको भूसा, घास, खली, भूसी, नमकके अतिरिक्त नथपर मलनेके लिये तेल दिया जाता था और भोजनको स्वादिष्ट बनानेके लिये मांस, दही, जौ, दूध, तेल या घी, चीनी और शृङ्गिबेरके फल दिये जाते थे। ये बैल भार ढोने और दौड़नेमें घोड़ोंकी बरा-बरी करते थे। इसी प्रकारका भोजन, किन्तु मात्रामें कुछ कम, गायों, गदहों और खच्चरोंको भी दिया जाता था।

गो-अध्यक्षकी भाँति अश्वाध्यक्ष भी घोड़ोंका वर्गीकरण करके उनकी जाति,

---

[1] एक तौल

लक्षण और योग्यताका पूरा विवरण लिखता था। घोड़ियाँ, घोड़े और बछेड़े अलग-अलग रखे जाते थे। घुड़सालकी चौड़ाई एक घोड़ेकी चौड़ाईसे चौगुनी रखी जाती थी। चारों दिशाओंमें द्वार होते थे और बीचमें उनके लोटनेके लिये स्थान होता था। प्रत्येक घोड़ेके लिये उसकी लम्बाईसे चौगुना लम्बा और चौड़ा कमरा रखा जाता था। इसका धरातल लकड़ीकी पट्टियोंसे पाटा जाता था।

घोड़ोंके भोजनमें प्रधानतः चावल, जौ, चना, मूँग, माष, तेल, नमक, मांस दही और चीनी होती थी। इसके अतिरिक्त उन्हें हरी और सूखी घास और भूसा दिया जाता था। बछेड़ोंको इससे आधा भोजन मिलता था। बच्चा देने वाली घोड़ियोंको मक्खन, सत्तू, और तेलमें मिली हुई औषधियाँ दी जाती थीं। बछेड़ोंको पैदा होनेके समयसे लेकर दस दिनों तक मक्खन और आटा दिया जाता था और छः महीने तक दूध और चार वर्ष तक जौ खिलाते-पिलाते थे।

कौटिल्यके समयमें देश-भेदके अनुसार विभिन्न जातिके घोड़े होते थे जिनके नाम काम्बोज, सिन्धु, अरट्ट, वनायु, वाह्लीक, पापेय, सौवीर, तैतल इत्यादि देशोंके नाम पर थे। इनमेंसे प्रथम चार देशोंके घोड़े सर्वोत्तम होते थे। तीक्ष्ण और दुष्ट घोड़ोंको लड़ाईके लिये, तथा भद्र और मन्द घोड़ोंको सवारीके लिये शिक्षा दी जाती थी।

घोड़ोंको सुरक्षित और नीरोग रखनेके लिये अच्छा प्रबन्ध किया गया था। उनको किसी प्रकारकी हानि पहुँचाने वाला व्यक्ति दंडका भागी होता था। उनकी स्वास्थ्य-रक्षाके लिये वैद्य नियुक्त होते थे। यदि औषधियोंके दोषसे अथवा असावधानीके कारण घोड़ोंकी बीमारी बढ़ जाती तो वैद्योंको लेनेके देने पड़ते थे और उनको दंड भोगना पड़ता था। यही नियम अन्य पशुओंकी चिकित्साके संबंधमें भी लागू था।

घोड़ोंकी सजावटका ध्यान कौटिल्यके समयमें बहुत अधिक रखा जाता था। प्रायः उनकी सजावट सुरुचिपूर्ण नागरिकोंकी भाँति ही होती थी। घोड़ोंको नहलाया जाता था और चन्दनके चूर्णसे उनका शरीर चर्चित किया जाता था। दिनमें दो बार उनको मालायें पहिनाई जाती थीं।

कौटिल्यके समयमें हस्त्यध्यक्ष हाथियोंकी देख-भाल करता था और उनके वनोंको सुरक्षित रखनेका उपाय करता था। उसकी अध्यक्षतामें हाथियोंको शिक्षा देने वाले, उनकी चिकित्सा करने वाले, हाँकने और बाँधने वाले तथा उनके लिये भोजनका प्रबंध करने वाले काम करते थे।

- हाथियों और हथिनियोंके लिये अलग-अलग कमरे बनवाये जाते थे। ये कमरे हाथीकी लंबाईसे दूने चौड़े और ऊँचे होते थे। हाथियोंके बाँधनेके लिये लकड़ीकी पट्टियोंसे पटा हुआ चौक बनाया जाता था। प्रातःकाल और सन्ध्याके समय हाथी नहलाये जाते थे। उसके पहले उनको भोजन दिया जाता था, दो-पहरके कुछ पहिले उनका व्यायाम होता था, दोपहरके पश्चात् वे पानी पीते थे और आधी रातके समय केवल तीन घंटे सोते थे।

लगभग बीस वर्षके हाथी वनोंसे पकड़े जाते थे। दूध पीने वाले, प्रमत्त, बिना दाँत वाले, रोगी हाथियो और बच्चोंको दूध पिलाने वाली हथिनियोंको नहीं पकड़ा जाता था। चालीस वर्षका होनेपर हाथी सर्वोत्तम गिना जाता था।

हाथियोंका भोजन स्वादिष्ट होता था। उनको चावल, तेल, घी, मांस, नमक, रस, दही, चीनी, मदिरा, अथवा उसका दूना दूध दिया जाता था। उनके शरीर पर भी तेल मला जाता था। इसके अतिरिक्त उन्हें विभिन्न प्रकारकी हरी और सूखी घासें और डंठल दिये जाते थे। हाथीके नन्हें बच्चोंको, जो मनो-विनोदके लिये पकड़े जाते थे, दूध और हरी घास खिलाई जाती थी।

हाथियोंको भी घोड़ोंकी भाँति सजाया जाता था। उनको वैजयन्ती और क्षुरप्रमाल मालायें पहिनाई जाती थीं और उनके ऊपरसे सुन्दर वस्त्र ओढ़ाये जाते थे।

व्यापार

साधारणतः कोई भी मनुष्य अपनी आवश्यकताकी सभी वस्तुयें नहीं बना पाता है और जो कुछ वह स्वयं बनाता है वह उसकी आवश्यकतासे बढ़कर होती है। ऐसी परिस्थितिमें लोगोंमें लेन-देन या व्यापार प्रारंभ हो जाता है। व्यापारका क्षेत्र पहले अपना कुटुम्ब ही होता है और फिर बढ़ते बढ़ते गाँव, नगर, प्रान्त, देश और विदेशों तक विस्तृत हो जाता है। आज-कल सारा संसार व्यापारके बंधनमें गुंथा हुआ है। प्राचीनकालमें भारतवर्षका विदेशोंके साथ व्यापार जल और स्थलके मार्गोंसे स्थापित हुआ था।

भारतीय सभ्यताके व्यापारिक संबंधका सर्वप्रथम परिचय मोहेंजोदड़ो और हड़प्पाकी खुदाईसे मिला है। पुरातत्वके पंडित इस निश्चयपर पहुँचे हैं कि यहाँके निवासी व्यापार भी करते थे और इनके व्यापारका संबंध विभिन्न देशोंसे भी स्थापित हो चुका था। ई० पू० ३००० में भारत और बेबीलोनका

व्यापारिक संबंध था। भारतवर्षमें ऊन (ऊर्ण सं०) शब्द बेबीलोनके उरसे ही निकला है। बेबीलोनकी भाषामें सिन्धु शब्दका अर्थ है मलमल। संभवतः सिन्धु प्रदेशसे वहाँ मलमल जाता होगा और उस वस्त्रका नाम भेजनेवाले देशके नाम-पर पड़ गया है। चाल्डियामें कुछ उत्कीर्ण लेख मिले हैं जिनमें उरके कई जहाजों का भारतसे सोना लानेका उल्लेख मिलता है। वावेरु जातकसे ज्ञात होता है कि भारतवर्षके मोर बिकनेके लिये बेबीलोन जाते थे। सिन्ध प्रान्त बहुत प्राचीन कालसे सामुद्रिक व्यापारमें अग्रगण्य रहा है। इस प्रान्तमें देवाल और तत्थाके प्रसिद्ध नौकाश्रय थे। प्राचीन कालसे ही भारतवर्ष जल और स्थलके मार्गोसे एशिया, योरप और अफ्रीका महाद्वीपोंके अनेक देशोंमें रेशमी वस्त्र, मलमल, अस्त्र-शस्त्र, कम्बल, रंग, औषध, लकड़ी, मसाले, हाथीदाँतके सामान, हीरा, मणि और सुन्दर पशु-पक्षी इत्यादि भेजता आ रहा है।

प्राचीन भारत सामुद्रिक शक्तिमें संसारके सभी देशोंसे आगे था। ऋग्वेद-कालसे ही भारतवासी सामुद्रिक यात्रायें करके विदेशोंमें आते-जाते थे। यहांसे केवल व्यापारी ही नहीं, बल्कि भारतीय संस्कृतिके प्रचारक और राष्ट्र-संस्थापक भी दूर-दूरके अन्य देशोंमें जाकर बस गये। लंकाके लिये नावें केवल बंगालके बन्दरगाह—ताम्रलिप्तिसे ही नहीं जाती थीं बल्कि वे पटना और बनारससे भी यात्रा प्रारंभ करती थीं। भरुकच्छ (भड़ौंच)से नावें बेबीलोन और स्वर्णभूमि (दक्षिण बर्मामें) जाती थीं। मिसर[१]के साथ व्यापारिक संबंध लाल सागरसे होकर स्थापित किया गया था। अफ्रीकाके पूर्वी तटके सभी देशोंसे व्यापार किया जाता था। भारतवर्षका चीनसे व्यापारिक संबंध प्राचीन कालसे चला आ रहा है। ईसाके लगभग ५०० वर्ष पहिलेसे ही भारतवर्षी नावें पूर्वी द्वीप समूहोंसे होते हुए चीन जाती थीं। इस मार्गमें कई स्थानोंपर भारतवासी बस गये और वहांपर भारतीय विद्या और संस्कृतिका प्रचार करनेके लिये प्रगतिशील संस्थाओंको जन्म दिया। इस प्रकार चीन, हिन्दचीन (इण्डोचाइना), जावा, सुमात्रा, बाली आदि द्वीप-समूहोंमें भारतवर्षका व्यापार बढ़ता रहा। भारत-वर्षकी इस वैदेशिक नीतिके उन्नायक प्रायः दक्षिण भारतके व्यापारी और राजा रहे हैं।

---

[१] ईसासे लगभग ५०० वर्ष पहले मिश्रमें भारतीय व्यापारियोंकी एक नगरी मेम्फिसमें थी।

भारतवर्षका मध्य एशिया[1]से व्यापारके लिये खैबरके दर्रेसे होकर आने-जानेका मार्ग बना हुआ था। आक्सस नदीके किनारेसे होकर व्यापारी बलख़ देश तक आते थे और वहाँसे उन्हें पेशावर आनेका स्थलमार्ग मिलता था। इसी मार्गसे भारतवासी मध्य एशिया और योरपकी ओर व्यापार करनेके लिये जाते थे।

भारतवर्षमें आने-जानेके लिये सड़कोंकी अधिकता रही है। सिन्धु-सभ्यताके लोगोंने नगरमें पैदल आने-जानेके लिये तथा गाड़ियोंके चलनेके लिये चौड़ी सड़कें बनवाई थीं, जो चालीस फीट तक चौड़ी थीं। रामायण और महाभारत-कालमें भी चौड़ी सड़कें बनती थीं जैसा कि इन ग्रंथोंके नगरोंके वर्णनसे ज्ञात होता है। 'मानसार'में दी हुई गृहरचनाकी प्रणालीमें भी चौड़ी सड़कोंकी आवश्यकता बताई गई है। गाँवोंकी प्रदक्षिणा करनेके लिये भी चौड़ी सड़क बनती थी। प्राचीन कालमें गाँवोंके लोग सामूहिक रूपसे एक गाँवसे होती हुई दूसरी गाँव तक सड़कें बना देते थे। कौटिल्यने लिखा है कि राजाको जल और स्थल मार्गसे व्यापार करनेके लिये सड़कें बनवा देनी चाहियें और पण्यपत्तनों (व्यापारिक गाँवों)की स्थापना करनी चाहिये। उसे सड़कोंकी सावधानीसे रक्षा करनी चाहिये, कहीं ऐसा न हो कि उसे लोग नष्ट कर दें या पशुओंके झुंड बिगाड़ दें।

मौर्योंके शासन-कालमें पटनासे तीन दिशाओंमें सड़कें जाती थी। एक सड़क वैशाली और श्रावस्ती होती हुई नेपाल जाती थी, दूसरी कौशाम्बी और उज्जैन होती हुई भड़ौंच जाती थी और तीसरी सड़क मथुरा और सिन्ध होती हुई बैक्ट्रियाना तक जाती थी। बैक्ट्रियानासे एक सड़क पामीरके पठारसे होकर चीनी तुर्किस्तान, यारकंद और तारिम तक जाती थी। इसके उत्तरमें एक सड़क समरकन्दसे होकर काशगर तक जाती थी। भारतवर्षकी सड़कोंपर प्रायः दूरी निर्देश करनेके लिये स्तंभ लगे होते थे। कुछ सड़कोंके खंभोंपर आसपासके नगरों और सड़कोंको मिलानेवाली सहायक सड़कोंका नाम भी रहता था।

सिन्धु-सभ्यताके निवासी व्यापार करनेके लिये नाव, गाड़ी तथा रथोंका प्रयोग करते थे। इनके रथोंकी आकृति पशु-पक्षियोंसे मिलती-जुलती थी। प्रायः रथ दो पहियेके होते थे किन्तु कुछ गाड़ियोंमें चार पहिये भी लगते थे। इनके रथों और गाड़ियोंको बैल खींचते थे। मोहेंजोदड़ोमें बहुतसे ऐसे मकान

---

[1] मध्येशियाके खोतान नगरमें भारतवासियोंकी एक बस्ती थी।

मिले हैं जो प्रत्यक्ष रूपसे दूकान ज्ञात होते हैं। यहांके निवासियोंके बहुतसे बटखरे भी मिले हैं जो पत्थरके बने हुए हैं। बटखरे तौलमें पूर्ण रूपसे ठीक हैं। इनमेंसे एक बटखरा तौलमें २५ पौंड है। इस बटखरेको उठानेके लिये इसके छेदोंमें रस्सी बाँधी जाती होगी। संभवतः नापनेके लिये मोहेंजोदड़ोके निवासी पटरीका प्रयोग करते थे। यहाँकी खुदाईमें कोई सिक्का नहीं प्राप्त हुआ है।

महाभारत-कालमें व्यापारकी वस्तुओंको इधर-उधर ले जानेके लिये गोमियों-को नियुक्त किया जाता था; उनके पास सैकड़ों या सहस्रों बैल होते थे। जातककी कहानियोंमें भी कई सौ बैलगाड़ियोंका माल लादकर इधर-उधर आने-जानेका वर्णन मिलता है। नदियोंसे होकर नावोंके द्वारा भी माल इधर-उधर आया-जाया करता था। बड़ी-बड़ी नदियों और समुद्रोंमें बहुत बड़ी-बड़ी नावें या जहाज चलते थे जिनमें सैकड़ों व्यापारी अपने सामानके साथ आते-जाते थे। प्रायः इन नावोंपर सामान बेचनेके लिये अन्य देशोंमें लोग ले जाते थे और जहाँ सामान बिक जाता था वहींसे अपने देशमें बेचनेके लिये भी सामान लादकर व्यापारी लौट आते थे।

कौटिल्यके समयमें जलमार्गकी अपेक्षा स्थलमार्ग और द्वीपोंकी अपेक्षा समुद्र-तट व्यापारके लिये अच्छे समझे जाते थे। उत्तर भारत कम्बल, घोड़े और चमड़ेके लिये तथा दक्षिण भारत शंख, रत्न, हीरे, बहुमूल्य पत्थर, मोती और सोनेके लिये अच्छे व्यापारिक क्षेत्र माने जाते थे। वे मार्ग, जिनपर रत्नोंकी खानें होती थी, व्यापारके लिये अधिक चुने जाते थे। व्यापारका अध्यक्ष नगरोंमें सभी वस्तुओंके क्रय-विक्रयका निरीक्षण करता था। वह नाप और बटखरोंकी जाँच करता था। यदि कोई व्यापारी पुरानी वस्तुओंको बेचना चाहता तो उसे पहिले अध्यक्षको विश्वास दिलाना पड़ता था कि वस्तुयें मेरी हैं। जो लोग नापने या तोलनेमें गड़बड़ी करते थे उन्हें दंड भुगतना पड़ता था। खोटी वस्तुओंको उत्तम वस्तुओंके भावपर बेचना अपराध था। इसी प्रकार, जो लोग घटिया वस्तुओंको अच्छी वस्तुओंमें मिलाकर बेचते थे, उन्हें भी दंड देना पड़ता था। अध्यक्ष वस्तुओंका विक्रय-मूल्य भी नियत करता था। स्थानीय वस्तुओंके मूल्य-पर पाँच प्रतिशत और विदेशी वस्तुओंपर दस प्रतिशत लाभ लेना उचित था। इससे अधिक लाभ लेनेवाला दंडका भागी ठहराया जाता था।

कौटिल्यके समयमें देहातोंमें व्यापार करनकी पूरी सुविधा थी। गाँवके मुखियाको अपने सामानोंका मूल्य बताकर व्यापारी सायंकालमें ठहर जाता

था। यदि रातमें कोई सामान गुम हो जाता तो मुखियाको उसका मूल्य देना पड़ता था। यदि दो गाँवोंके बीचमें कोई वस्तु गुम हो जाती तो विवीताध्यक्ष (घासके मैदानोंके निरीक्षक)को उसका मूल्य देना पड़ता था। यदि कोई घास-का मैदान उस स्थानपर न होता तो चोररज्जुक[1]को मूल्य देना पड़ता था। यदि संयोगवश चोररज्जुक भी न होता तो उस सीमाके भीतरके लोगोंको मूल्य देना पड़ता था। यदि ऐसे लोग भी न होते तो निकटके पाँच या दस गाँवोंके लोगोंको मिलकर मूल्य देना पड़ता था।

राजाकी ओरसे राजकीय वस्तुओंका क्रय-विक्रय करनेके लिये पण्याध्यक्ष होते थे। वे प्रजाकी वस्तुओंके क्रय-विक्रयका भी प्रबन्ध करते थे। राजाकी वस्तुओंपर भी उचित लाभ लिया जाता था। अध्यक्ष उन व्यापारियोंकी सहा-यता करता था जो बाहरसे माल मँगाते थे और राजकरसे उनको मुक्त कर देता था। राजकीय वस्तुओंको बेचनेवाले व्यापारी एक लोहेकी पेटीमें मूल्य रखते जाते थे और प्रतिदिन दोपहरके समय अध्यक्षको दे आते थे। अध्यक्ष राजाकी ओरसे विदेशोंसे माल मँगाने और भेजनेका प्रबन्ध भी करता था।

वैदिक कालमें सिक्कोंका प्रचलन कम था। क्रय-विक्रयमें गायोंके माध्यम द्वारा मोल-भाव होता था। निष्कका कभी-कभी सिक्केकी भाँति उपयोग होता था। धीरे-धीरे सिक्केका प्रचलन बढ़ा। पाणिनिने ई० पू० सातवीं शतीके सिक्कोंके नाम कार्षापण, निष्क, पण, पाद, माष और शाण दिये हैं। उनपर छाप भी पड़ती थी। जातकोंके अनुसार कार्षापण सोने- चाँदी और ताँबेके बनते थे और अर्द्ध कार्षापण, पाद कार्षापण, माषक, अर्ध माषक तथा काकणिका नामके सिक्कोंका प्रचलन था। मनुने सोनेके सिक्के सुवर्ण और चाँदीके कृष्णल, माषक, धरण, शतमान और ताँबेके सिक्के पणका उल्लेख किया है। कौटिल्यके समयमें व्यापारके लिये सिक्कोंका प्रबन्ध लक्षणाध्यक्ष करता था। सिक्के चाँदीके बनते थे, किन्तु उनमें चार भाग ताँबा और सोलहवाँ भाग तीक्ष्ण, त्रपु, सीसा इत्यादिका होता था। सिक्के एक पण, आधे पण, चौथाई पण और पणके आठवें भाग होते थे। ताँबेके बने हुए सिक्के माषक, आधे माषक, काकणी और आधी काकणी होते थे। ईसवी शतीके प्रारंभमें ग्रीक सिक्का दीनार[2] भी भारतवर्षमें प्रचलित

---

[1] चोरोंसे सुरक्षित रखनेवाले पदाधिकारी।

[2] दीनार सिक्केका सर्वप्रथम प्रचलन रोममें २०७ ई० पू० में हुआ।

हुआ। गुप्तकालमें चन्द्रगुप्त प्रथम, समुद्रगुप्त और चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके विविध प्रकारके सोने, चाँदी और ताँबेके सिक्कोंका प्रचलन हुआ। इन सिक्कों-पर प्रायः राजाकी मूर्ति अंकित है। सिक्कोंपर राजा धनुर्धर, मंचस्थ, छत्रधारी और सिंहसंहारकके रूपमें दिखाये गये हैं। धनुर्धर सिक्कोंपर एक ओर खड़े राजा और दूसरी ओर लक्ष्मीका चित्र अंकित है। मंचस्थ सिक्कोंमें रत्नोंको पहिने हुए राजा ऊँचे मंचपर बैठा है, उसका सिर बाईं ओर मुड़ा है और उसके ऊँचे उठे हुए दाहिने हाथमें फूल है। छत्रवाले सिक्कोंमें राजा बाईं ओर खड़ा है और अपने दाहिने हाथसे एक वेदिकापर धूपदान कर रहा है। उसका बायाँ हाथ तलवारकी मुठियापर रुका हुआ है और उसके पीछे एक बौना छत्र लिये हुए खड़ा है। सिंहसंहारक सिक्कोंमें राजा एक सिंहका बाणसे शिकार कर चुका है और उसको एक पैरसे कुचल रहा है। विक्रमादित्य अश्वारोही सिक्कोंपर एक घोड़ेपर चढ़ा हुआ अंकित किया गया है। सभी सिक्कोंपर राजाओंके नाम और योग्यताका विवरण है। ह्वेनसांगने भी अपने समयके सिक्कोंका उल्लेख किया है। उसके समयमें मोती भी वस्तुओंको क्रय करनेमें सिक्कोंका काम देते थे, किन्तु साधारणतः सोने और चाँदीके सिक्के और कौड़ियोंका प्रचलन था।

अन्य व्यवसाय

खेती, पशुपालन और व्यापार—यही तीन व्यवसाय प्रधान रूपसे अपनाये गये थे। इन व्यवसायोंके द्वारा लगभग सभी वैश्यों और शूद्रोंको जीविका प्राप्त हो जाती थी। इनके अतिरिक्त भी भारतवासियोंके अनेकों व्यवसाय प्राचीन कालसे ही रहे हैं। लोगोंकी रहन-सहन बहुत उच्च कोटिकी रही है। उनके जीवनकी आवश्यकतायें नाना प्रकारके व्यवसायोंसे ही पूरी हो सकती थीं। सदासे ही भारतवर्ष वस्त्र और अलंकारोंके उत्पादनमें बहुत आगे रहा है। इस देशमें प्राचीन कालमें भी वस्त्रोंके बनानेमें मशीनोंकी सहायता नहीं ली जाती थी। सिन्धु-सभ्यताके युगमें कताई बुनाईके दमकड़े धनी और निर्धन सभी लोगोंके घरोंमें मिले हैं। उसी समयसे लेकर वस्त्र बनानेके व्यवसायमें इस देश-की एक बड़ी संख्या सदा लगी रही है। अलंकारोंको बनानेका व्यवसाय सदा बढ़ा-चढ़ा रहा है। सिन्धु-सभ्यताके युगमें सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, पत्थर मोती, मणि, शंख, मिट्टी इत्यादिके विविध प्रकारके आभूषण बनाये जाते थे।

इन धातुओंको प्राप्त करनमें भी बहुतसे लोग खानोंमें, समुद्र तटपर और पर्वतोंपर काम करते होंगे। अलंकारोंके अतिरिक्त धातु, मिट्टी और हाथीदाँतके भाँति-भाँतिके खिलौने और मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। गृहनिर्माणमें भी सिन्धु-सभ्यताकी बहुत बड़ी जन-संख्या व्यस्त रहती होगी। यहाँकी जनताके उच्च वर्गमें पुरोहित, वैद्य, ज्योतिषी और ऐन्द्रजालिक थे और नीच जातियोंमें मछुवे, मल्लाह, खेतिहर, व्यापारी, भिश्ती, गाड़ीवान, चरवाहे और कुम्हार थे। प्रायः ये सभी जातियाँ उस समयसे लेकर आजतक अपने व्यवसायोंमें लगी रही हैं। सिन्धु-सभ्यताके लोगोंमेंसे बहुत कम ही अस्त्र-शस्त्र बनानेका काम करते होंगे। वैदिक कालमें बढ़ई, कुम्हार, लोहार, सोनार, चमार, जुलाहे, वैद्य, पुरोहित और कवि आदि विभिन्न कामोंमें लगे हुए थे। बढ़ई (त्वष्टा या तक्ष) रथ, पहिये, नाव और काठके बर्तन (द्रुण) आदि बनाते थे। कुम्हार मिट्टीके बर्त्तन—कलश, कुम्भ और पकानेके पात्र (उखा) बनाते थे। लोहार (कर्मार) खेतीके उपकरण और युद्धके अस्त्र-शस्त्र बनाते थे। सौनार गहनें तैयार करते थे। चमार (चर्म्मन) चमड़ेको रंगते थे और उसे सीकर जूते और पात्र बनाते थे। भेड़ोंका ऊन काता जाता था और उसे बुनकर वस्त्र बनाये जाते थे। बुननेका व्यवसाय करनेवाले लोगोंको वाय कहा जाता था। प्रत्येक कुटुम्बकी स्त्रियाँ रुईके साधारण कपड़े स्वयं बुन लेती थीं। वैद्य (भिषक्) जड़ी-बूटियोंके औषध बनाते थे। वे रोगियोंकी चिकित्साका व्यवसाय करते थे। चिकित्सा करनेके लिये उनको गाय, घोड़ा और वस्त्र आदि मिलते थे। माली फूलोंकी मालायें बनाते थे। नाई (वप्ता) बाल काटते थे। कुछ लोग कुयें और पोखरे खोदनेका व्यवसाय करते थे। संगीत और नृत्यके कलाविद् सार्वजनिक मनोविनोद करते थे। उपनिषद्-कालमें धातुका काम उन्नतिपर था। लोग सोने, चाँदी, टिन, सीसे, लोहे आदि धातुओंको शुद्ध करके उनको काममें लाते थे। इन धातुओंके अतिरिक्त विभिन्न प्रकारके मोतियों और मणियोंके अलंकार बनाये जाते थे। खनिज पदार्थोंके बाहुल्यके विषयमें मेगस्थनीजने लिखा है कि "पृथ्वीके ऊपर सभी प्रकारके फल तो उगाये ही जाते हैं, साथ ही इसके गर्भमें सोना चाँदी, ताँबा, लोहा, टिन आदि सभी धातुयें मिलती हैं जिनसे विविध प्रकारकी उपयोगी वस्तुयें, अलंकार, अस्त्र-शस्त्र और युद्धके सामान बनाये जाते हैं। जातकोंमें धातुओंके अतिरिक्त अंजन, मनःशिला, हरिताल, हिंगूलक आदि खनिज पदार्थोंका उल्लेख मिलता है। अर्थशास्त्रमें कौटिल्यने लिखा है कि राजाको खानोंका निरीक्षण करनेके

लिये एक अध्यक्ष नियुक्त करना चाहिये जो धातु और मणियोंको पहचाननमें निपुण हो। अध्यक्षके अधीन खान खोदनेवाले कर्मचारी होते थे। वह विभिन्न खानोंकी परीक्षा करता था और शंख, रत्न, मणि, मोती, नमक आदिका संचय करवाकर उनके विक्रयका प्रबन्ध करता था। कौटिल्यने विभिन्न खनिज पदार्थों-की विशेषताओंकी परख करने और उनको शुद्ध करनेकी विधियोंका सविस्तर वर्णन किया है।

ऊपर जिन व्यवसायोंका उल्लेख किया गया है उनकी शनैः शनैः प्रगति होती रही। जातकोंके अनुसार काशी वस्त्र-व्यवसायके लिये प्रसिद्ध रहा है। वहाँके वस्त्रोंकी कोमलता विख्यात थी। गन्धार और कोडुम्बर कम्बलोंके व्यव-सायके लिये प्रसिद्ध थे। काशीके रेशमी कपड़ोंपर सोनेके शिल्पका अलंकरण होता था। हाथियोंके लिये भी स्वर्ण-जटित वस्त्र बनाये जाते थे। जातक-कालमें हाथी दाँतका काम उन्नति कर चुका था। इस व्यवसायके लोगोंकी वसतिको दन्तकारवीथि कहते थे। हाथीदाँतके कड़े और चूड़ियाँ आदि विविध प्रकारके अलंकार, दर्पणकी मुठिया और रथके अलंकरण बनते थे। बढ़ई वास्तु-निर्माणके लिये काम करते थे और लकड़ीके आसन, पलंग, सीढ़ी, पेटियाँ, नाव, रथ और गाड़ियाँ बनाते थे। वे कई प्रकारके यंत्र भी बनाते थे। चमारोंका नाम जातकमें रथकार मिलता है। वे कई प्रकारके जूते, सैकड़ों परतके ढाल, चमड़ेकी पेटियाँ इत्यादि बनाते थे। वे धनी लोगोंके जूतोंको विभिन्न रंगोंके सूतोंसे अलंकृत करते थे। नाना प्रकारके फूलों और गन्ध देने वाले वृक्षोंको पुष्पाराममें उगाया जाता था। फूलोंसे मालायें बनाई जाती थीं और सुगन्धित तेल निकाला जाता था। चन्दनका चूर्ण बनाया जाता था और उससे तेल भी निकाला जाता था। प्रियंगु के फूलोंसे सर्वोत्तम गन्ध तैयार की जाती थी। सब्ब-संहारक (संस्कृत सर्वसंहारक) गन्ध सभी गन्धोंका मिश्रण होती थी। अगरु और तगरसे भी गन्ध उत्पन्न की जाती थी। गन्धिक सभी गन्ध-द्रव्योंका व्यापार करता था।

व्यावसायिक संघ

उद्योग-धन्धोंकी प्रगतिके लिये संघोंकी नींव संभवतः वैदिक कालमें ही पड़ चुकी थी। ऋग्वेदमें विभिन्न गोत्रोंके उल्लेख मिलते हैं जिनकी गायें अलग-अलग चरा करती थीं। प्रत्येक गोत्रमें कई कुटुम्ब होते थे जो पशुओंके एक साथ

चरन और रहनेका मिलकर प्रबन्ध करते थे। महाभारतमें सैनिकों, व्यावसायिकों और व्यापारियोंके संघोंके उल्लेख मिलते हैं। संघ राजकीय सत्ताके स्तंभस्वरूप माने गये हैं। राजाको संघोंकी रक्षा करनेकी शिक्षा दी गई है। जातक-कालमें ऐसे संघोंका पूर्ण विकास हो चुका था। उस समयके संघोंका नाम सेणी (श्रेणी) मिलता है। अठारह प्रकारके संघोंकी स्थापना औद्योगिक उत्पादन और विक्रय सम्बन्धी सुविधाओंकी दृष्टिसे की गई थी। उस समय विभिन्न व्यवसायोंके लोगोंके पूरे गाँवके गाँव बसे थे, अथवा नगरोंमें या उसके आसपास व्यावसायिकोंके मुहल्ले थे। सहस्रों कुम्भकार, सोनार, लोहार, बढ़ई, निषाद आदिके अलग-अलग एक-एक गाँव थे। इनके संघ होते थे। संघोंके प्रधान (जेट्ठक) चुने जाते थे। प्रधान संघोंके शासनकी व्यवस्था करता था। जातक-कालमें व्यापारी भी अपनी सुविधाके लिये कभी-कभी संघ बना लेते थे। कौटिल्यने संघोंके लिये राजकीय सहायता और सुरक्षाकी व्यवस्था दी है। उसने लिखा है कि राजा संघोंपर पूरा अधिकार रखे और उनके व्यवसाय और रीतियोंकी सूचना देनेके लिये अध्यक्ष नियुक्त करे। तीन कोषाध्यक्ष, जिनपर संघोंका विश्वास हो, उनके धन जमा करनेके लिये नियुक्त होने चाहियें। आवश्यकता पड़नेपर संघोंका धन उन्हें लौटा देना चाहिये। कौटिल्यके समयमें संघ काम करनेका ठीका लेते थे। यदि वे नियत समयमें काम नहीं कर पाते थे तो उनको सात दिनका अवसर और दिया जाता था। संघोंको ठीके पर लिया हुआ काम अवश्य पूरा करना पड़ता था। यदि वे ऐसा नहीं करते थे तो राजा उनको दंड दे सकता था। नासिक और जुन्नारके शिला-लेखोंसे तत्कालीन किसानों, जुलाहों, कुम्हारों, तेलियों, चित्रकारों, धातु और लकड़ीके काम करनेवालों तथा व्यापारियोंके संघोंके विवरण मिलते हैं। संघ बैंकोंकी भाँति लोगोंसे धन लेते थे और उसपर ब्याज देते थे। राजा भी संघोंको धन देता था। संघोंका लेन-देन प्रामाणिक ढंगसे होता था। जो धन जमा किया जाता था, उसकी रजिस्ट्री कभी-कभी नगरोंके सभा-भवनोंमें होती थी। गुप्त-कालके लेखोंसे ज्ञात होता है कि राजा संघोंका आदर करते थे और उनकी उन्नतिका ध्यान रखते थे। इस समयके रेशमी कपड़े बुननेवालों और तेलियोंके संघोंके उल्लेख मिलते हैं। संघोंकी अपनी मुद्रायें होती थीं। हर्षके शासनकालमें संघोंकी सबसे अधिक प्रगति हुई। संघोंका ध्यान धार्मिक और सामाजिक उन्नतिकी ओर विशेष रूपसे गया। वसन्तगढ़के लेखसे ज्ञात होता है कि एक संघ-समितिने मन्दिर निर्माण करनेकी

योजना तैयार की थी। इन संघोंमें कला-कौशल सीखनेके लिये नवसेवक रखे जाते थे। संघोंका आन्तरिक शासन उनकी चुनी हुई समितियोंके द्वारा होता था। न्यायके विषयमें वे स्वतंत्र थे। राजा भी उनके अन्य लोगोंके सम्बन्धके झगड़ोंका निपटारा करते थे और उनकी रीतियों और विधानोंका निरीक्षण करते थे।

सप्तम अध्याय

मनोविनोद

प्राचीन भारतमें लोगोंका जीवन आज-कलसे अधिक सुखी था। उनको जीवन-संग्राममें हम लोगोंकी भाँति अधिक व्यस्त नहीं रहना पड़ता था। ऐसी परिस्थितिमें लोगोंने समय-समयपर आनन्दकी सृष्टिके लिये मनोविनोदके रूपमें कलाओंका विकास किया था। यों तो दैनिक जीवनमें मनोविनोदको स्थान मिला ही था, किन्तु उसका विशद रूप पारिवारिक उत्सवों—संस्कार या अभिषेक आदि-के अवसरपर दिखाई पड़ता था। भारतीय प्रकृतिने भी मनोविनोदकी प्रगतिमें सहयोग दिया है। वह सभी ऋतुओंमें अपनी नित्य नूतन सुषमाके द्वारा मानव-हृदयको प्रफुल्ल और उल्लसित करके आनन्द मनानेके लिये प्रेरित करती है।

संस्कृतिके विकासके साथ-साथ नाना प्रकारके मनोविनोदोंका प्रचलन हुआ है। प्रारंभमें नृत्य, संगीत और मल्ल-युद्ध आदि मनोविनोदके रूपमें प्रचलित हुये। ये तीनों सदासे सभी प्राणधारियोंके मनोविनोदके स्वाभाविक क्षेत्र रहे हैं। धीरे-धीरे उद्यान-यात्रा, जलक्रीडा, काव्यमय मनोविनोद (नाटक, कथा-कहानी और कविता-पाठ आदि), मृगया, कन्दुक-क्रीडा, इन्द्रजाल, द्यूत-क्रीडा आदि का प्रचार हुआ। इन सभी मनोविनोदोंमें नाटकोंको सभ्य-समाजने सर्वप्रथम स्थान दिया है।

नाटक

यों तो मानव-व्यवहारमें प्रतिदिन नाटकका प्रदर्शन सभ्यताके आदि युगसे ही होता आया है, किन्तु इसका निश्चित रूप वैदिककालके यज्ञोंमें प्रकट हुआ। यज्ञ-की सारी क्रिया, जिसमें संगीत, भाव-प्रदर्शन और व्यंग्यात्मक नाट्यकी प्रचुरता होती थी, नाटकका प्रथम रूप है। सोम-यज्ञके अवसरपर सोमको क्रय करनेके लिये पाँच वार मोल-भावका संवाद रूपमें अभिनय किया जाता था। नाटकका यह प्रथम रूप कुछ-कुछ इस प्रकार था—

यजमान—(सोम विक्रेतासे) सोमराजा बेचोगे ?

विक्रेता—बेचूँगा।

यजमान—गायकी एक कला (सोलहवें भाग)से उसे लूँगा।

विक्रेता—सोमराजा इतने सस्ते नहीं हैं।

यजमान—गायकी महिमा बहुत अधिक है। वह मट्ठा, घी, दूध आदि देती है। उसका आठवाँ भाग लेकर सोम दे दो।

इस प्रकार मोल-भाव करके पूरी गाय देकर सोमक्रय होता था।

नाटकका यह प्रारंभिक रूप सरल था। जनतामें इसी सरल रूपका विकास हुआ, जो प्राचीन कालसे लेकर आधुनिक कालतक राम और कृष्ण आदिकी लीलाओंमें प्रचलित है। ये लीलायें सार्वजनिक मनोरंजनके लिये प्रायः गाँवोंमें होती थीं। नागरिकोंके मनोविनोदके लिये नाटकका विकास समृद्धिशाली लोगोंके संरक्षणमें हुआ है। राजा अथवा धनी लोग मिलकर नाटच-मन्दिर या रंगशालायें बनवाते थे। नाटचमन्दिरोंकी भित्तिपर मनोरम चित्रकारी होती थी। मंडपमें नाटक-सम्बन्धी नगर, उद्यान, ग्राम, वन, पर्वत, समुद्र और आश्रम आदिके चित्र होते थे। नाटचमन्दिर बहुत विशाल होते थे। रंगमंचपर रथ और बैलगाड़ीपर सवार पात्र देखे जा सकते थे। "अभिज्ञान शाकुन्तल"में दुष्यन्तकी मृगयाके दृश्यमें रथका दौड़ना बड़े रंगमंचपर ही दिखाया जा सकता था। रंगमंचपर लाख, अभ्रक, काठ, चमड़ा, कपड़ा आदिकी बनी हुई विविध प्रकारकी मूर्तियाँ भी प्रयुक्त होती थीं। सजीव पशु-पक्षी आदि भी आवश्यकता-नुसार दिखाये जाते थे। कभी-कभी अभिनेता अपनी चेष्टाओंसे भी कई वस्तुओं-की उपस्थिति सूचित करते थे।

नाटकके पात्र पुरुष और स्त्री दोनों ही होते थे। नर्तकियों या अन्य स्त्री और पुरुष पात्रोंको अभिनयकी शिक्षा देनेका प्रबन्ध किया गया था। रंगमंचपर प्रायः स्त्रियाँ ही गाती थीं। पुरुष पात्रोंका गायन स्त्रियोंके मधुर गानकी तुलनामें फीका पड़ता था। रंगमंचपर नर्तकियाँ कई प्रकारके सामूहिक नृत्य करती थीं। पुरुष-पात्र बनावटी केश, दाढ़ी और मुकुट लगाते थे। दैत्य और दानवोंकी दाढ़ी और मूछें कोयलके पंखोंसे बनाई जाती थीं। मुकुट और कंचुक आदि इतने हलके बनाये जाते थे कि अभिनयके समय असुविधा न हो। अभिनेता और अभिनेत्रियाँ अवसर, पद और मर्यादाके विचारसे विभिन्न प्रकारकी सजावटें करती थीं।

प्राचीन कालसे ही अभिनयके चार अंग—आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक रहे हैं। आंगिक अभिनयमें शरीरके अंगोंकी भंगिमासे अभिव्यक्ति की

जाती है। ये अभिनय पाद, कटि, हस्त और शिरकी गतियोंसे प्रकट किये जाते हैं। वाचिक अभिनयमें वचनके द्वारा मनोभावोंको व्यक्त करते हैं। व्याकरण और छन्दःशास्त्रके नियमोंके अनुसार शुद्ध शब्द, वाक्य और श्लोक पाठ इस अभिनयमें आते हैं। आहार्य अभिनय रंगमंचपर लाये हुए पशु-पक्षियों और मूर्तियोंके द्वारा होता है। सात्त्विक अभिनयके द्वारा रसों और भावोंका प्रदर्शन होता है। नाटकमें सात्त्विक अभिनय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है।

नाटकोंकी कथा-वस्तु प्रायः शृंगाररसकी रहती थी। ऐसी कथाओंमें नायक और नायिकाका कुछ कठिनाइयाँ झेलकर वर और वधू बन जानेका वर्णन मिलता है।

संगीत

प्रायः सभी जीवधारी अपने मानसिक उल्लासकी अभिव्यक्ति संगीतमय शब्दोंमें करते हैं। प्राकृतिक सुषमाको देखकर मयूर और कोकिल अपनी मधुर स्वरलहरीसे स्वाभाविक संगीतका परिचय देते हैं। संगीत सभ्य समाजका मनोविनोद आदि कालसे ही रहा होगा। इस कलाका प्रथम शास्त्रीय रूप साम-वेदकी स्तुतियोंमें मिलता है। वेदोंका पाठ संगीतमय होता था। उनकी विभिन्न छन्दोंमें रचना और उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित ध्वनियाँ गानके उपयुक्त हैं। यजुर्वेद और ब्राह्मण साहित्यमें स्त्रियोंकी संगीतके प्रति अभिरुचिका उल्लेख मिलता है। वे संगीतके मर्मज्ञ पतिकी कामना करती थीं। उस समय राजाओं-की प्रशंसामें दान-स्तुतियाँ गाई जाती थीं। महाभारत-कालमें राजपरिवारकी कुमारियोंको संगीतकी शिक्षा देनेके लिये आचार्य रखे जाते थे। अर्जुनने राजा विराटके परिवारकी कन्याओंको संगीतकी शिक्षा दी थी। जातकोंमें राजाओंके गन्धर्वोंसे घिरे रहनेका प्रायः उल्लेख मिलता है। साधारण जनता भी गानेमें अथवा संगीतका आनन्द लेनेमें पीछे नहीं थी। धनी और दीन-हीन सभी कुमा-रियाँ अपना काम करते समय गाती रहती थीं। एक कुमारीके मनोविनोदका वर्णन इस प्रकार किया गया है—'उसने सभी प्रकारके फूलोंको चुनकर माला बनाई और मंजरीसे अलंकृत आमके पेड़पर चढ़ गई। उस पेड़के नीचे एक नदी बहती थी। पेड़परसे मधुर स्वरमें गा-गाकर वह नदीके जलमें फूल फेंकती जाती थी।' उस समयके संगीताचार्य गुत्तिल, मुसिल और सग्गका नाम जातकोंमें आया है।

भारतीय संगीतके उन्नायक कवि होते आये हैं। गीतोंमें श्रद्धापूर्वक ईश्वरकी

स्तुति अथवा मानवीय या दिव्य प्रेमकी वर्णना होती है। शब्दोंके द्वारा तीव्र रागकी अभिव्यक्ति की जाती है। आलापमें प्रत्यक्षतः निरर्थक ध्वनियोंके प्रयोगसे मनोभावोंकी अभिव्यक्ति की जाती है।[१] सारा विश्व ब्रह्मके द्वारा संगीतमयी गतिमें नियोजित है, मानव भी अपनी वाणीके संगीतको समष्टिगत संगीतकी संगतिमें मिलाकर ब्रह्ममय विश्वसे अपनी एकता सन्तुलित करता है। मानव संगीत ब्रह्मकी आराधनाका साधन-मात्र है।

प्रत्येक राग लय रूपमें किसी रस—शृंगार, वीर, करुण आदि और किसी तत्त्व या प्राकृतिक दृश्य जैसे अग्नि या अर्धरात्रिका वन अथवा वर्षाकी झड़ीकी ओर संकेत करता है। छः राग छः ऋतुओंके अनुकुल होते हैं। प्रत्येक रागकी छः रागिणियाँ हैं, प्रत्येक रागिणीके आठ पुत्र हैं। राग और उसके भेदोंके द्वारा गायकके विषय, ऋतु, और कालकी ओर संकेत किया जाता है। इनकी सहायतासे वह विभिन्न प्रकारके वातावरणोंकी सृष्टि करता है।

वाद्य

संगीतका वाद्यसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। गीतके राग और लयका सामञ्जस्य बाजेके राग और लयसे होता है। सिन्धु-सभ्यताके समयसे लोग विविध प्रकारके बाजोंसे मनोविनोद करते आ रहे हैं। उस समय लोग ढोल, मृदंग, वीणा और कांसताल जैसे बाजोंसे पूर्ण परिचित थे। संभवतः मृगया करते समय लोग ढोल पीटते थे जैसा कि एक हड़प्पाकी ताबीजसे ज्ञात होता है, जिसपर बाघके सामने ढोल पीटनेका चित्रांकन है। ऋग्वेद-कालके लोग विभिन्न प्रकारके ढोल, वीणा और वेणु बजाते थे। दुन्दुभि प्रायः युद्धमें बजाई जाती थी। कर्करि नामक बाजा वीणाकी भाँति होता था। क्षोणी या वीणा मरुतोंके प्रिय वाद्य थे। आघाती संभवतः एक प्रकारकी झल्लरी होती थी, जो नृत्यके समय बजाई जाती थी। इनके अतिरिक्त ऋग्वेदमें गर्गर, गोघ और पिंग आदि बाजोंके नाम मिलते हैं। जातकोंमें प्रायः वीणा बजानेके उल्लेख मिलते हैं। इसमें सात तन्त्रियाँ लगाई जाती थीं, जो एक दूसरेके ऊपर होती थीं। वीणा गीतके साथ या स्वतंत्र रूपसे भी बजाई जाती थी। वीणाको बाईं बाँहके नीचे लेकर अथवा गोदमें रखकर नखोंसे ध्वनि उत्पन्न की जाती थी। इसकी तीन मूर्च्छनायें—उत्तम, मध्यम

---

[१] सा, रे, ग, म, प, ध, नि, सा के विभिन्न समूहोंका उच्चारण आलाप है।

ग्रौर शिथिल एक साथ बजाई जाती थीं। हाथियोंको मुग्ध करनेके लिये हस्थि-कन्ता (हस्तिकान्ता) वीणाकी तीन तन्त्रियोंसे मधुर स्वर-लहरी उत्पन्न की जाती थी। जातकोंमें ग्रन्य बाजों—पाणिस्सर, सम्मताल कुम्भथूण, भेरी, मूर्तिगा, मुरज, ग्रालम्बर, ग्रानक, शंख, पनवदेण्डिमा, स्वरमुख, गोधापरिवादेन्तिका, कुटुम्बतिण्डिमके उल्लेख मिलते हैं। फूंककर बजाये जानेवाले वाद्योंमें वेणु सबसे ग्रधिक लोकप्रिय था। ईसाकी प्रथम शतीके प्रचलित वाद्योंके नाम ग्रश्व-घोषके बुद्धचरितमें मिलते हैं। ग्रश्वघोषने लिखा है कि स्त्रियाँ तूर्य, सोनेके पत्तोंसे मढ़ी वीणा, वेणु, मृदंग, परिवादिनी (बड़ी वीणा), पणव (छोटा ढोल) ग्रादि बाजोंसे सिद्धार्थका मनोरंजन करती थीं। गुप्तकालमें संगीतकी बहुत उन्नति हुई। सम्राट समुद्रगुप्त स्वयं गायन ग्रौर वाद्यकलामें निपुण था। इस कालका सर्वप्रिय वाद्य वीणा है। पाँचवीं शतीके बने हुए भूमराके मन्दिरमें तीन प्रकारके ढोलोंकी मूर्तियाँ मिलती हैं। उनमेंसे एक बड़ा ग्रौर दूसरा छोटा था। ये दोनों रस्सी या फीते लगाकर गर्दनसे लटका लिये जाते थे। तीसरे प्रकारका ढोल बीचमें पतला होता था ग्रौर दोनों ग्रोर चौड़ा होता था। झल्लरी, शंख, काहल ग्रौर श्रृंग बाजोंकी मूर्तियाँ भी मिली हैं। इन बाजोंके ग्रतिरिक्त कालिदासके ग्रंथोंसे गुप्तकालके बाजोंके नाम तूर्य, वल्लकी, ग्रातोद्य, मृदंग, वीणा, वंशकृत्य, वेणु, दुन्दुभि ग्रादि मिलते हैं। सातवीं शतीमें भी प्रायः ये ही वाद्य प्रचलित रहे, जैसा कि वाणके ग्रंथोंसे ज्ञात होता है। जब हर्ष स्नान करने जाता था, उस समय ग्रनेकों बाजे बज उठते थे।

नृत्य

सिन्धु-सभ्यताके लोगोंको नृत्यका चाव था। उस समयका नृत्य मूर्त रूपमें ग्रबतक दर्शनीय है। मोहेंजोदड़ोमें काँसेकी बनी हुई नर्तकियोंकी ग्रौर मिट्टीकी बनी हुई नर्तकोंकी मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। तत्कालीन नृत्यके साथ-साथ बाजे बजाये जाते थे। खुदाईमें एक ऐसी ताबीज मिली है जिसपर एक मनुष्य ढोल बजा रहा है ग्रौर कई ग्रादमी नाच रहे हैं। ऋग्वेद-कालमें पुरुष ग्रौर स्त्री दोनोंके नाचनेका वर्णन मिलता है। पुरुष हाथमें काष्ठ-दंड लिये हुए उसे ऊपर उठाकर नाचते थे। नर्तकको नृत ग्रौर नर्तकीको नृतु नाम दिया गया था। श्राद्धके ग्रवसरपर नृत्य ग्रौर हास्यका ग्रायोजन होता था। महाभारत-कालमें कुमारियों-को संगीत ग्रौर वाद्यके साथ नृत्यकी शिक्षा दी जाती थी। जातकोंमें वीणा ग्रौर

वेणुकी संगतिमें नृत्य करनेके उल्लेख मिलते हैं। नृत्यमें हाथ, पाँव आदि शरीरके अंगोंकी भाव-भंगिमाका प्रदर्शन होता था। गुप्तकालीन भूमराके शिवके मन्दिरमें, जो बौनोंकी मूर्तियाँ मिलती हैं, उनमें वे शृंग बजाते हुए हाथ और पाँवकी भंगिमाओंसे नृत्यका प्रदर्शन करते हैं। इन मूर्तियोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि नृत्यकी संगति ढोल, झल्लरी, शंख और शृंग बाजोंसे होती थी। जैसा कि कालिदासके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है, संगीतशालामें नाट्याचार्य संगीत, वाद्य और नृत्यकी शिक्षा देता था। कालिदासने लिखा है कि नृत्य सभी लोगोंके मनोरंजनका साधन है, चाहे उनकी रुचि भिन्न-भिन्न क्यों न हो।

उपर्युक्त मनोविनोदोंके सिद्धान्तोंका विशद वर्णन भरतके नाट्यशास्त्रमें मिलता है। नाटकमें संगीत, वाद्य, और नृत्य तीनोंका समावेश हो जाता है। इस ग्रंथकी रचना ईसवीकी तीसरी शतीके पहले हो चुकी थी।

कथा

अनन्तकालसे कथायें सार्वजनिक मनोविनोदका साधन रही हैं। यही एक ऐसा मनोविनोद है, जिसका प्रसार बच्चे और बूढ़े, राजा और रंक एवं मूर्ख और दार्शनिकोंके बीच समान रूपसे रहा है। रातमें सोनेके पहिले, चित्तके उद्विग्न होनेपर, कामसे छुट्टी मिलनेपर, यात्रा करते समय प्रायः प्रत्येक अवसरपर लोग कथायें कहते-सुनते आ रहे हैं। वैदिक कालसे लेकर आजतक महापुरुषों और देवताओंकी चरितगाथाका कथाके रूपमें कहना-सुनना पुण्यका हेतु माना गया है। इस देशमें कथाओंके द्वारा नीति, आचार-व्यवहार, धर्म, दर्शन और विविध प्रकारके अन्य ज्ञानके विषयोंकी शिक्षा देनेका प्रचलन रहा है। प्राचीन भारतमें कथासाहित्यके आचार्य गाँवों या नगरोंमें भ्रमण करते हुए महापुरुषोंकी अथवा आश्रयदाता राजाओंकी कहानियाँ सुनाते थे। बाणने हर्षचरितकी और वाक्पतिराजने गौडवधकी कथा नागरिकोंके मनोरंजनके लिये सुनाई थी। ऐसी कथा-सभाओंका आयोजन विस्तारपूर्वक होता था और इनका सारा वातावरण गंभीर, शान्त और भव्य होता था।

कविता-पाठ

वैदिक कालसे कविता-पाठ मनोरंजनके रूपमें होता आ रहा है। प्रारंभमें लोग एकत्र होकर देवताओंका स्तुति-पाठ करते थे। उस समय सांसारिक विषयोंपर भी कवितायें की जाती थीं। इस प्रकारकी कुछ कवितायें मेढक, जुआरी

और गौओंके विषयमें बनी हैं। आगे चलकर यज्ञोंके अवसर नाराशंसके द्वारा राजाओंकी चरितगाथा सुनानेकी प्रथा चल पड़ी। इन गाथाओंको गाथानाराशंसी कहते हैं। इनका विकास ऋग्वेदकी दानस्तुतियोंसे हुआ था। रामायण, महाभारत और पुराणोंके कालमें भी इस प्रकारकी प्रशंसात्मक कविताओंके पाठका प्रचलन रहा है। धीरे-धीरे राजाओंकी सभामें प्रशंसा करनेवाले कवियोंको स्थान मिला। राजाओंके यहां कई कवि रहा करते थे, जो समय-समय पर अपनी कविताओंसे राजाका मनोरंजन करते थे। राजाके साथ ही साथ अन्य सभासदोंका भी मनोरंजन होता था। कभी-कभी महाकवि दिग्विजयके लिये निकलते थे और राजाओंकी सभामें जाकर वहाँके राजकवियोंकी प्रतियोगितामें खड़े होते थे। ऐसे अवसरों पर राजाकी अध्यक्षतामें कवि-सम्मेलनकी योजना होती थी, जिसमें नगरके प्रतिष्ठित लोग भी सम्मिलित होते थे। कवि लोग बहुत स्पर्धापूर्वक कविता पाठ करते थे। विजयी कविका बहुत सम्मान होता था। राजा स्वयं विजयी कविका रथ खींच कर उसे सम्मानित करता था। कवियोंके ललाट पर विजयसूचक स्वर्णपट्ट स्वयं राजा बाँध देता था। राजाओंकी सभामें प्रति दिन नये-नये कवि आते रहते थे और अपनी उत्तम कविताओंके लिये उचित पुरस्कार पाते थे। कभी-कभी समस्याओंकी पूर्त्ति भी कवियोंको करनी पड़ती थी और असफल होने पर लज्जित होना पड़ता था।

समाज और गोष्ठी

नागरिक, मनोविनोदके लिये, सरस्वतीके मन्दिरमें नियत तिथिको एकत्र होते थे। ऐसी सभाओंको समाज[1] कहते थे। इसमें सभी नागरिक भाग ले सकते थे। कभी-कभी नगरके कुछ प्रधान लोग गिने-चुने लोगोंकी ही सभायें करते थे, जिन्हें गोष्ठी कहते थे। वैदिक कालमें, जब गायोंके चरानेका काम सार्वजनिक था, गोष्ठ गायोंके चरनेका स्थान था। यहीं पर चरवाहे विविध प्रकारसे मनोरंजन करते थे। गोष्ठीका प्रारंभ यहींसे हुआ। नागरिक सभ्यताके युगमें गोष्ठी गिने-चुने लोगोंकी सभा रह गई। समाज और गोष्ठीमें नगरके सभी संगीत,

---

[1] समाजका पूर्व रूप ऋग्वेद-कालका समन प्रतीत होता है। समन एक प्रकारकी प्रतियोगिता थी जिसमें कवि, धनुर्धर और घुड़सवार अपनी कलाओंका प्रदर्शन करते थे तथा स्त्री और पुरुष सम्मिलित होकर आनन्द मनाते थे।

नृत्य और नाट्यके आचार्य सम्मिलित होते थे और अपनी उत्कृष्ट कलाओंसे नागरिकोंका मनोरंजन करते थे। गोष्ठियोंमें पुराण, इतिहास और आख्यानके द्वारा भी मनोविनोद होता था।

राज-सभा

प्राचीनकालमें व्यवसाय, कला और विज्ञानोंकी उन्नति की ओर भी राजाओं-का ध्यान जाता था। वे वर्षमें कई बार इन विषयोंकी प्रगतिके लिये इनके आचार्यों-को बुलाते थे और उनकी नई-नई कृतियों और अनुसंधानोंकी सार्वजनिक घोषणा करते थे। ऐसी राजसभायें बहुत विशाल होती थीं। इनमें अन्तःपुरकी स्त्रियाँ, राजाके मंत्री और उच्च अधिकारी और सारी प्रजाके प्रतिनिधि भाग लेते थे। सभी श्रेणियोंके लोगोंके बैठनेके लिये दिशायें और आसन नियत होते थे।

इन सभाओंमें राजाके आनेके पहले और जानेके पश्चात् सभामें बैठने वाले कलाविद् अपनी-अपनी उत्तम कलाओंका परिचय देते थे। राजसभाओंमें कविता-पाठ, पुराण और इतिहासकी व्याख्या, पहेलियाँ और परिहास इत्यादि अनेक विषयोंके द्वारा लोगोंका मनोविनोद होता था। राजसभाओंके पास ही कौतुका-गार होता था जहाँ पर दुर्लभ पशु-पक्षी और वस्तुओंका संग्रह होता था।

साहित्यिक मनोविनोद

मनोविनोदके क्षेत्रमें साहित्यके मर्मज्ञोंका अद्वितीय स्थान रहा है। वे राज-सभा, गोष्ठी और समाज सबमें भाग लेते और अपनी काव्यकलाका परिचय देते थे। साहित्यिक मनोविनोदके कविता-पाठमें प्रतिमाला, दुर्वाचन, मानसी कला, अक्षरमुष्टि और विन्दुमती इत्यादिकी प्रतियोगिता होती थी। प्रतिमाला आजकलकी अन्त्याक्षरी जैसी प्रतियोगिता थी। दुर्वाचन-योगमें कठिनाईसे पढ़ने योग्य श्लोकोंको पढ़ना पड़ता था। मानसीकलामें अक्षरोंके स्थानपर पुष्प रख दिये जाते थे और उचित मात्रायें लगाकर उनको पढ़ना पड़ता था। अक्षरत्रुटिमें किसी श्लोकके पदोंके प्रथम अक्षर लिख दिये जाते थे और उनके योगसे पूरा श्लोक ज्ञात करना पड़ता था। विन्दुमतीमें विन्दुओं पर अपेक्षित मात्रायें लगा दी जाती थीं और इसकी सहायतासे अभीष्ट श्लोक बनाना पड़ता था।

उद्यान-यात्रा

जब बड़े-बड़े नगर भारतवर्षमें बनने लगे, उस समय नगरके समीप ही उद्यान या उपवन लगाये जाने लगे। उपवनोंके आस-पास वन भी होते थे। रामायणमें

एक ऐसे ही उपवनका वर्णन वाल्मीकिने किया है, "इसमें वसन्त ऋतुके प्रारंभमें विविध वृक्ष—साल, आम, अशोक, चंपक, उद्दालक, नाग, कपिमुख इत्यादि—पुष्प भारसे लद रहे थे। वृक्षोंपर लतायें चढ़ी हुई थीं, पक्षी मधुर ध्वनि करते थे। मृगोंके झुंडोंसे वह उपवन रँगासा जा रहा था। कोकिल, मयूर, भ्रमरकी मधुर ध्वनिसे वन निनादित हो गया था। वहाँपर वृक्षोंसे गिरे हुए पुष्पोंसे अवकीर्ण होकर पृथिवी प्रमदाकी भाँति सुन्दर लग रही थी। वनमें समय-समयपर प्रमुदित लोग आकर उसकी शोभा बढ़ाते थे।" अश्वघोषने लिखा है कि जिस वनमें सिद्धार्थने विहार-यात्रा की, वह नन्दन वनके समान था। उसमें बालवृक्ष कुसुमित हो चुके थे, आनन्दमें मग्न होकर कोकिल घूम रहे थे। पोखरोंमें मनोहर कमल खिले हुए थे। प्रायः वसन्त ऋतुमें, जब इन वनोंकी अतिशय शोभा होती थी, लोग आनन्दोत्सवके लिये उद्यान-यात्रा करते थे। इस यात्रामें कभी-कभी केवल राजघरानेके लोग जाते थे, अन्यथा इसका सार्वजनिक रूप होता था और नगरके प्रायः सभी नवयुवक और नवयुवतियाँ एक साथ ही उपवनोंमें जाती थीं। उपवनोंमें लतागृह बने हुए थे, इन्हीं घरोंमें प्रेमी लोग एकत्र होकर भाँति-भाँतिके मनोविनोद करते थे। लोग मुर्गे, लावपक्षी और भेड़ोंको लड़ाते थे और झूला झूलनेका आनन्द लेते थे।[1] आँखमिचौनी भी खेली जाती थी। काव्य-कलाके पंडित समस्यापूर्ति, आख्यायिका और पहेलियोंका रस लेते थे और संगीताचार्य अपने गीतोंसे सबको प्रमुदित करते थे। स्त्रियाँ अपने प्रियतमोंके साथ पुष्पावचय करती थीं और नाना प्रकारके हाव-भाव और विलासोंके द्वारा वे एक दूसरेका मनोविनोद करते थे।

जल-क्रीडा

पुष्पावचयके पश्चात्, या कभी-कभी स्वतंत्र रूपसे, जल-क्रीडा की जाती थी। समृद्धिशाली लोग केवल अपनी प्रियतमाओंके साथ क्रीडा करते थे किन्तु सार्वजनिक जल-क्रीडाका भी उल्लेख मिलता है, जिसमें एक गाँव या नगरके सभी

---

[1] भारतवर्षमें पशु-पक्षियोंके पालने और लड़ानेकी रुचि बहुत प्राचीनकालसे दिखाई पड़ती है। सिन्धु-सभ्यताके लोग पिंजड़ोंमें पक्षी पालते थे और मुर्गों और बाघों की लड़ाई में आनन्द लेते थे। वैदिक काल में लोगों को घुड़दौड़ का बड़ा चाव था।

लोग जल-क्रीडाके द्वारा मनोविनोद करते थे। कभी-कभी कई देशोंके राजा और नागरिक भी मिलकर जल-क्रीडा करते थे। जल-क्रीडाके लिये नदी, झील या जलाशय चुने जाते थे, जिनके समीप प्राकृतिक छटा विराजती थी। नदियोंके किनारेपर लता-वितान उपजाये जाते थे और मनोहर पशु-पक्षी पाले जाते थे। जल-क्रीडा प्रारंभ होनेके पहिले भयानक जल-जन्तु जालसे पकड़ लिये जाते थे। झीलोंका तट इस क्रीडाके लिये नदी-तटसे अधिक मनोरम समझा जाता था। झीलोंमें कमल खिलते थे और उनके तटपर पक्षियोंका कलरव सुननेको मिलता था। जो जलाशय जल-क्रीडाके लिये बनाये जाते थे, उनके तट मणि जटित होते थे। उन जलाशयोंमें कमल खिलते थे, भौंरे गुंजन करते थे, मछलियाँ उछलती और तैरती थीं तथा कमलोंके बीच हंस सुशोभित होते थे।

जल-क्रीडाका मनोविनोद बहुत आमोदपूर्ण होता था। इसमें प्रेमी लोग अतिशय उत्साहित रहते थे। स्त्रियाँ अपने प्रियतमोंके सहारे जलमें उतरती थीं। जलमें लोग तैरते, पानी पीटते अथवा प्रेमीजनोंपर जलके छींटे उछालते थे। यह क्रीडा प्रायः शृंगार-रससे आप्लावित होती थी।

मृगया

मृगया बहुत प्राचीन कालसे कुछ लोगों की जीविकाके लिये आवश्यक वृत्ति रही है। सिन्धु-सभ्यताके लोग पशु-पक्षियोंका शिकार करते थे। मोहेंजोदड़ोकी दो ताबीजों पर एक बड़े हरिण और जंगली बकरेको तीरसे मारनेवाले कुछ व्यक्तियोंका चित्र मिलता है। यहाँके निवासी मछलियोंका भी शिकार करते थे। बहुत संभव है कि ये मनोविनोदके लिये भी मृगया करते हों। इनको खाने-पीनेके लिये बहुत सरलतासे भोजन मिल जाता था और ये वन्य-जीवनसे बहुत आगे बढ़ चुके थे। इनको अपनी जीवनवृत्तिके लिये शिकार करना आवश्यक नहीं रहा होगा। हड़प्पामें एक ताबीज मिली है, जिसको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँके लोग धूम-धामसे बाघोंका शिकार करते थे। इस ताबीज पर एक बाघके सामने ढोल बजाया जा रहा है। संभवतः इसी प्रकार बाघको डराकर लोग उनका शिकार करते थे। सिन्धुके प्राचीन निवासी तीर, धनुष, गुलेली, गोली, भाले, तलवार और कटारसे शिकार करते थे और संभवतः साथमें कुत्ते भी ले लेते थे।

वैदिक कालमें जीविकाके लिये मृगया करना प्रायः शूद्रोंका काम था। किन्तु

मांसाहारी लोग उस समय भी जंगली पशु-पक्षियोंका शिकार करते थ। रामायण और महाभारत कालमें आमोद-प्रमोदके लिये मृगया करनेका प्रचार था। दशरथ व्यायाम करनकी इच्छासे धनुष और वाण लेकर रथमें सरयू नदीके तट पर मृगया करनेके लिये गये थे। राम भी स्वर्ण-मृगके चर्मके लिये मारीचके पीछे-पीछे तीर और धनुष लेकर दौड़ते रहे। मृगयाके गुण और अवगुणोंका विवेचन करते हुए अर्थशास्त्रमें कहा गया है कि मृगयाके व्यायामसे वात, कफ, पित्त और स्वेदका शमन होता है, चल और अचल लक्ष्योंको बेधनेका अभ्यास होता है, उद्विग्न पशुओंके रूप निरीक्षण करनेका अवसर मिलता है और लम्बी दौड़ हो जाती है। कभी-कभी लोग मृगया करते हुए डाकुओंके हाथमें पड़ जाते हैं, उनको शत्रुओं और वन्य पशुओंका सामना करना पड़ता है, दावाग्निसे घिर जाना पड़ता है, दिशाभ्रम हो जाने पर चक्कर काटना पड़ता है और मृत्यु, भूख-प्यास इत्यादिका भय रहता है। कालिदासने भी मृगयाके गुणोंका इसी प्रकार उल्लेख करते हुए कहा है कि इसके द्वारा श्रम पर विजय प्राप्त होती है किन्तु 'अभिज्ञान-शाकुन्तल'में मृगयाके कष्टोंका वर्णन भी उन्होंने विदूषकके शब्दोंमें किया है—'अपने मृगयाशील मित्र राजाके स्नेहसे मैं तो ऊब गया। ये मृग, यह सूअर, वह चीता निकला, इस चक्करमें दोपहरको भी इस वनसे उस वनमें ढूँढ़ना पड़ता है। ग्रीष्म ऋतुमें वनराजियोंमें छाया भी विरल ही है। पीनेके लिये पहाड़ी नदियोंका जल मिलता है, जो गिरे हुए पत्तोंके पड़ जानेसे कटु हो गया है। खाने-पीनेका कोई ठिकाना नही। किसी समय लोह-शलाका पर पका कर मांस दे दिया जाता है और बस वही भोजन है। घोड़ोंके पीछे दौड़नेके कारण रातमें अंग टूटते हैं। नींद थोड़े ही आती है और अभी अधिक रात रहते ही चिड़ीमारोंके कोलाहलसे नींद टूट जाती है। अभी शरीरकी पीड़ा न गई।' बिचारा विदूषक क्या जाने शिकारियोंके मजे। वन-पशुओंको विश्वास दिलानेके लिये शिकारी लोग वनमालासे अपनी मौलि गूँथ लेते थे और शरीर पर पलाशके रंगके वस्त्र पहिनते थे। धनुष और वाण लेकर शिकारी मृगोंके पीछे रथों पर भी दौड़ते थे। दण्डी ने मृगयाकी प्रशंसाका पुल बाँध दिया है। वह कहता है कि मृगयाकी भाँति लाभकर कुछ भी नहीं है। इसमें पैरोंका अच्छा व्यायाम हो जाता है। इससे पाचनशक्ति बढ़ती है, जिसका स्वास्थ्य पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। शरीरकी मुटाई घट जाती है और स्फूर्ति आ जाती है। शीत, उष्णता, वायु, वर्षा, भूख और प्यास सहनेकी क्षमता प्राप्त होती है। अकालके समय बहुतसे पशु-पक्षियोंके मांससे भोजनकी कमी

पूरी पड़ती है। वन्य पशुओंके संहारसे मार्ग सुरक्षित हो जाता है। जंगली जातियों से मेल-मिलापके द्वारा विश्वास बढ़ता है और बल बढ़नेसे शत्रुओंकी सेना पर धाक जमती है।

द्यूत-क्रीडा

द्यूत-क्रीडाका चाव भारतीय इतिहासमें सिन्धु-सभ्यताके समयसे ही दिखाई पड़ता है। संभवतः यहाँके निवासी चौपड़, पासा और शतरंजके विविध प्रकारके खेलोंसे मनोरंजन करते थे। उस समयके पासेकी गोटियों पर संख्यायें भी अंकित हैं। पासे मिट्टी, पत्थर और हाथीदाँतके बनते थे। प्रायः पासे लकड़ीके पटरों पर खेले जाते थे, किन्तु घरोंके आंगनमें भी चौकोर ईंटोंको जोड़ कर इस खेलके लिये प्रबन्ध कर लिया जाता था। वैदिक कालमें विभीतक नामी विशाल वृक्षके फलोंके पासे बनाये जाते थे और सभागृहोंमें जूआ खेलनेका प्रबन्ध किया जाता था। कुछ मनचले जुआरी अपना सर्वस्व इस खेलमें होम कर देते थे। इस खेलमें मनोविनोदके साथ ही साथ हार-जीतका भी प्रश्न रहता था। ऋग्वेदके समयमें जुआ खेलना निन्दनीय समझा जाता था। इस ग्रंथमें एक जुआरीकी दशा चित्रितकी गई है। उसका हृदय जुएके विचार-मात्रसे अथवा पासे फेंकनेकी ध्वनि सुनकर काँप उठता है। वह अपने ऊपर अधिकार खो बैठता है और जुआ खेलकर अपना सब कुछ गवाँ देता है। सारा समाज उससे घृणा करने लगता है, कोई उससे सहानुभूति नहीं रखता और पत्नी भी उसको घरसे निकाल देती है। उसकी स्त्री भी अपनी नहीं रह जाती। उसके माँ-बाप और भाई कहते हैं कि उसे बाँध कर ले जा सकते हो। अन्तमें उपदेश दिया गया है कि जुआ न खेलो, अपनी खेती संभालो, अपने धनसे संतुष्ट रहो उसीको अधिक समझो, इसीमें तुम्हारा कल्याण है। जुएका खेल इतना निन्दनीय होने पर भी सदा चित्ता-कर्षक और लोकप्रिय रहा है। महाभारतमें नलकी दुर्दशाका कारण द्यूत-क्रीडा ही बताई गई है। धर्मराज युधिष्ठिरको भी जुआ खेलनेका अद्‌भुत चाव था। वे अपने पाँचों भाइयों और द्रौपदीको भी दावँमें निस्संकोच हार गये। अर्थशास्त्रमें जुएके दुर्गुणोंका उल्लेख किया गया है। कौटिल्यके अनुसार जुएमें प्रायः धोखे-धड़ीसे खेल होता है। जुआरियोंको उस समय धोखा देनेके लिये दण्ड भी दिये जाते थे। इसके लिये राजाकी ओरसे निरीक्षक नियुक्त किये गये थे और जुआ-घरमें पासे बेचे जाते थे, लाइसेंस दिये जाते थे और खेलनेवालोंसे शुल्क लिया जाता था। जीतनेवालोंसे उनके प्राप्त धनका पाँच प्रतिशत राज्यकरके रूपमें

ले लिया जाता था। गुप्तकालमें भी लोग द्यूत-क्रीडाका व्यसन करते थे। कालिदासने द्यूत-क्रीडाका उल्लेख मात्र किया है, किन्तु दण्डीने इसके गुणों पर पूरा अनुसंधान करके पता लगाया है कि इससे उदारता बढ़ती है, क्योंकि तृणकी भाँति अपना कोष दावँ पर रखते हिचक नहीं होती, हार-जीतके क्रमसे मनुष्यको सुख और दुःखमें सम रहनेका अभ्यास पड़ जाता है, मनुष्यका साहस बढ़ जाता है और यही सारे पुरुषार्थोंकी जड़ है। इसके द्वारा बुद्धिकी प्रखरता, ध्यानकी एकाग्रता, निश्चयकी दृढता, आत्मविश्वास और उदारवृत्तिकी अनायास प्राप्ति हो जाती है!

इन्द्रजाल

इन्द्रजालके द्वारा असंभवको संभव कर दिखाया जाता है।[1] शब्द-शक्ति, विज्ञान और हस्तकौशलसे अलौकिक और चमत्कारपूर्ण काम करनेकी विधियोंका वर्णन वैदिक साहित्यमें प्रायः मिलता है। इसका सर्वप्रथम रूप आशीर्वाद और शापकी शक्तियोंके प्रदर्शनमें दिखाई पड़ता है। प्राचीनकालसे ही लोग तप और पूजाविधानसे दिव्य-शक्तियोंको प्राप्त करके उनका उपयोग करते आये हैं। इंद्रजाल-विद्याके आचार्य कापालिक होते थे।

इन्द्रजालके द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देवताओंका भूतल पर दर्शन हो सकता था और जलमें अग्नि, आकाशमें पर्वत, दोपहरमें संध्या आदि दिखाये जा सकते थे, मनुष्यको पशु या पक्षी बना कर तद्वत् आचरण कराया जा सकता था, चलती हुई नावको रोका जा सकता था, झूठी आग लगाई जा सकती थी अथवा आग पर चला जा सकता था। 'जसहरचरिउ'में एक कापालिकका वर्णन है जो अपने विषयमें कहता है कि मैंने चारों युग देखे हैं, मैं बूढ़ा नहीं होता हूँ, मैंने नल, नहुष, मान्धाता आदि राजाओंको राज्य करते देखा है। मैंने राम-रावणका युद्ध देखा है और युधिष्ठिरको उसके भाइयोंके साथ देखा है। तुम लोग विश्वास करो, मैं सारे संसारमें शान्ति स्थापित कर सकता हूँ, सूर्यके चलते हुए विमानको रोक सकता हूँ और चन्द्रकी ज्योत्स्नाको ढक सकता हूँ। कापालिक आगे चल कर राजा मारिदत्तसे कहता है कि मैं तुमको आकाशमें उड़नेकी शक्ति दे सकता हूँ

---

[1] विद्वानोंकी सम्मति है कि हड़प्पा और मोहेंजोदड़ोमें भी इन्द्रजालके द्वारा लोगोंका मनोविनोद होता होगा। इन नगरोंमें ऐन्द्रजालिकोंकी संख्या अधिक थी।

यदि तुम कालीके लिये सभी जीवधारियोंके एक-एक जोड़ेकी बलि करो। इन कापालिकोंका जीवनक्रम बहुत घृणोत्पादक था। इनका सदाचार और धर्मसे कोई नाता नहीं था। 'येन केन प्रकारेण' सर्वभोग करना ही इनके जीवनका चरम लक्ष्य था। अपनी धूर्ततासे ये अन्धविश्वासी लोगोंको ठगते थे।

मल्ल-युद्ध

लोग अपने मनोविनोदके लिये बहुत प्राचीन कालसे पशु-पक्षियोंकी लड़ाई देखते आ रहे हैं। वे इतनेसे ही सन्तुष्ट न होकर स्वयं भी पशुओंसे लड़ाई ठान कर लोगोंका मनोविनोद करते आये हैं। पाश्चात्य देशोंमें लोग प्रायः इस प्रकारके मनुष्यों और पशुओंके युद्धोंका आनन्द लेते थे। भारतवर्षमें मनुष्य आपसमें ही युद्ध करके मनोरंजन करते आये हैं। प्राचीनकालमें जिस प्रकार कलाकार अपनी-अपनी सर्वोत्तम कलाओंका प्रदर्शन करते थे, उसी प्रकार बाहुशाली लोग भी मल्लयुद्धमें अपने शारीरिक बल और कौशलका परिचय देते आये हैं। मल्ल-युद्धका प्रारंभ मानव सृष्टिके आदिकालसे ही हुआ होगा, क्योंकि प्रकृतिके सभी जीवधारियोंका आपसमें युद्ध करना स्वाभाविक है। यह युद्ध उस समयसे मनो-रंजनका रूप धारण कर सका होगा जब लोगोंमें दूसरोंकी कलाओंको परखनेकी योग्यता आ गई होगी। मल्ल-युद्धके लिये रंगशालायें बनती थीं, जिनके चारों ओर दर्शकोंके लिये आसनका प्रबंध होता था। महाभारतमें मल्लयुद्धके प्रसिद्ध आचार्य भीमके कौशलका प्रायः उल्लेख मिलता है।

पारिवारिक उत्सव

प्राचीन भारतमें आजकलकी ही भाँति लोग अपनी सफलताओंके अवसर पर धूम-धामसे उत्सव मनाते थे। सभी संस्कारोंको सम्पन्न करते समय भाँति-भाँतिके मनोविनोदोंका आयोजन होता था, जिसमें प्रायः नागरिक और संबंधी भाग लेते थे। प्रत्येक उत्सवके अवसर पर मंगल-रचनासे घरोंकी सजावट होती थी और नृत्य, गायन और वाद्यसे उपस्थित जनताका मनोरंजन होता था। विवाहके अवसर पर विशेष रूपसे मनोविनोदोंका प्रबंध होता था। चारों ओर सन्तोष और सौभाग्यकी झलक मिलती थी। वर-वधूके नगरमें प्रवेश करते समय, अथवा किसी राजाके दर्शनके समय, विशेषकर स्त्रियोंका मनोरंजन होता था। कालि-दासने अज और इन्दुमतीके नगर-प्रवेशका वर्णन करते हुए लिखा है कि नगरकी रमणियाँ सभी काम छोड़ कर वर और वधूको देखने लगीं। कोई स्त्री जब सहसा

देखनेके लिये जा रही थी। उस समय उसका केशबंध खुल गया। किन्तु उसको इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं हुई। एक स्त्री ऐसे अवसरपर आँखोंमें अंजन लगा रही थी। वह अभी एक ही आँखमें अंजन लगा पाई थी कि वर और वधूको देखनेके लिये हाथमें शलाका लिये हुए खिड़कीके पास दौड़ गई। उस समय स्त्रियाँ अजके रूप-सौन्दर्यका पान कर रही थीं, उनको और किसी वस्तुकी सुध नहीं थी, मानों उनकी सभी ज्ञानेन्द्रियोंका प्रवेश आँखोंमें ही हो गया था।

वसंतोत्सव

प्रकृतिका सौन्दर्य वसन्त ऋतुमें अन्य सभी ऋतुओंसे बढ़ कर होता है। इस ऋतुमें देशके भिन्न-भिन्न भागोंमें प्रायः प्रतिदिन उत्सव मनाये जाते थे। वसन्तके प्रारंभ होनेके दिन सुवसन्त नामका उत्सव मनाया जाता था। इसमें वसन्तके शुभागमनमें लोग प्रसन्नता प्रकट करते थे। सभी नागरिक अपनी सजा-वट विशेष रूपसे करते थे और स्त्रियाँ आम्रमंजरीसे शृंगार करती थीं। वसंतमें कई दिनों तक मदनोत्सव मनाया जाता था और सभी नगर और ग्राम संगीत और वाद्यसे गूँज उठते थे। नगरोंमें धनी लोगोंकी अध्यक्षतामें धारायंत्रसे अनेक प्रकारके मनोहर रंगोंके फौवारे छूटते थे। सभी बालक, नर और नारी शृंगोंसे एक दूसरे के ऊपर वर्णोदक फेंकते थे। इस उत्सवमें नागरिक मदनो-द्यानमें एकत्र होकर कामदेवकी पूजा करते थे।

इन मनोविनोदोंके अतिरिक्त अनेक प्रकारके अन्य मनोविनोदोंका भी प्रचलन भारतवर्षमें रहा है। स्त्रियाँ और कुमारियाँ सन्ध्याके समय गाँवके समीप उप-वनमें जाकर क्रीडा करती थीं। प्राचीन भारतमें कुमारियोंका प्रिय खेल गेंद खेलना रहा है। गाँवोंके बालक संध्याके समय पाठशालासे छुट्टी पाकर प्रसन्न होते थे और अपनी-अपनी गायें चरानेके लिये घासके मैदानोंमें चले जाते थे। वहाँ पर वे हाकी की भाँति कोई खेल गेंद और लाठीसे खेलते थे।

शिशुओंके मनोविनोद

प्राचीन भारतमें बच्चोंके मनोविनोदके लिये भाँति-भाँतिके साधन उपस्थित थे। बच्चे स्वयं सारे परिवारका मनोविनोद करते हैं और सदासे माता-पिता उनकी रुचिके अनुसार नाना प्रकारके खिलौनोंसे उन्हें प्रसन्न करते आये हैं। सिन्धु-सभ्यतामें बच्चोंके खिलौनोंका बाहुल्य था। ये खिलौने बहुत अधिक संख्यामें हड़प्पा और मोहेंजोदड़ोकी खुदाईमें प्राप्त हुए हैं। इनमेंसे बहुतसे खिलौने

जो काठ जैसी वस्तुओं से बने थे, कुछ दिनों में ही नष्ट हो गये किन्तु मिट्टी, घोंघे, हाथी-दाँत और धातुओंके खिलौने अभी भी वहाँके शिशुओंकी विनोद-प्रियताके प्रमाण रूपमें वर्तमान हैं।

बहुत अधिक संख्यामें बच्चोंकी छोटी-छोटी मिट्टीकी बनी हुई गाड़ियाँ मिली हैं। इसी प्रकारकी बड़ी गाड़ियोंका उपयोग वहाँके निवासी अपने दैनिक जीवनमें करते होंगे। इन मिट्टीके खिलौनोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि ये नौसिखुओंकी कृति हैं। बच्चे स्वयं अपने लिये खिलौने बना और पका लेते थे जैसा कि वे आज भी करते देखे जाते हैं। यहाँपर बैलोंकी भी कुछ मूर्तियाँ मिली हैं, जिनके साथ गाड़ी भी है। उस युगमें भी बैलोंको ही गाड़ी खींचनी पड़ती थी, ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है। चिड़ियोंकी मूर्त्तियोंमें टाँगें डंडोंकी बनाई जाती थीं। कुछ चिड़ियोंकी चोंचें खुली हुई हैं और वे पिंजड़ोंमें बन्द हैं। संभवतः वे गाती हुई दिखाई गई हैं। एक पिंजड़ेमें संभवतः बुलबुल चिड़िया मिली है। पिंजड़े ओखल या नाशपातीकी आकृतिके हैं।

खिलौने बनानेमें सिन्धु-सभ्यताके लोगोंने अद्‌भुत कौशलका परिचय दिया है। कुछ मूर्तियोंमें सिर हिलाने वाले बैल बनाये गये हैं। इनके सिर अब भी ज्योंके त्यों हिलते है। हाथीके खिलौनेको दबानेसे विचित्र शब्द होता है।

एक पशुकी मूर्ति मिली है, जिसके सींग और सिर तो पशु जैसे हैं, किन्तु पूँछ चिड़ियाके समान है। इसके दोनों ओर छेद बने हुए हैं, संभवतः यह लकड़ी या रस्सी डाल कर झुलाया जाता था। सबसे अधिक संख्यामें बच्चोंकी सीटियाँ मिली हैं, जिनमें बहुत सी मुर्गी या नाशपातीसे मिलती जुलती हैं और जिनके कई छेदोंमेंसे एक या दोको एक साथ बन्द करके ऊपरसे फूँकने पर विचित्र ध्वनियाँ उत्पन्न होती हैं। बच्चोंके बहुतसे झुनझुने भी प्राप्त हुए हैं, जिनमें एकसे तीनतक दाने पड़े हुए हैं। कुछ मनुष्यों और बौनोंकी मूर्तियाँ भी यहाँ मिली हैं। जिन पशु-पक्षियोंसे बच्चोंका मनोविनोद होता था और परिणामतः जिनके चित्र और मूर्तियाँ मिलती हैं, उनमेंसे मुख्य गिलहरी, कुत्ते, मुर्गे, बन्दर, तोते, भालू, बिल्ली, मोर, नेवले, बतख, उल्लू इत्यादि हैं। इनके अतिरिक्त अनेक खिलौने ऐसे हैं जिनको आधुनिक लोग पहचान नहीं पाते।

सदासे ही सबके बच्चे समान ही प्रवृत्ति वाले होते आये हैं। ऊपर लिखे हुये खिलौनोंसे मिलते-जुलते खिलौने सदैव बच्चोंके प्रिय रहे हैं। ईसाकी प्रथम

शतीमें अश्वघोषने महाराज शुद्धोदनके शिशुके योग्य खिलौनोंका नाम यों गिनाया है :—

वयोऽनु रूपाणि च भूषणानि हिरण्मयान् हस्तिमृगाश्वकांश्च
रथांश्च गोपुत्रकसंप्रयुक्तान् पुत्रीश्च चामीकररूप्यचित्राः

(शैशवावस्थाके योग्य अलंकार, सोनेके बने छोटे-छोटे हाथी, मृग, घोड़े, बछड़ा जुता हुआ रथ और चाँदी सोनेकी रंग-विरंगी पुतलियाँ।) ये खिलौने सिन्धु-सभ्यताके खिलौनोंके निकट पड़ते हैं।

बच्चोंके स्वाभाविक मनोविनोदका परिचय श्रीमद्भागवतकी बालकृष्ण-लीलाओंसे लगता है। कृष्ण और बलराम अपने बचपनमें बछड़ोंकी पूँछ पकड़ लेते थे और बछड़े उनको घसीटते हुए लेकर भागते थे। वे कभी दाँतोंसे काटने वाले कुत्तोंके पास पहुँच जाते थे, धधकती हुई अग्निसे खेलनेके लिये कूद पड़ते थे, आँख बचा कर तलवार उठा लेते थे, कभी रखा हुआ पानी ढरका देते थे, कभी गड्ढेमें छपका खेलने लगते थे, कभी किसी पक्षीको पकड़नेके लिये धीरे-धीरे चलकर उस पर लपकते थे और जब वह उड़ जाता था तो उसकी छायाके साथ-साथ घुटनोंके बल दौड़ते थे। छः वर्षके होने पर कृष्ण गाय चराने लगे और उस समय भौरोंकी सुरीली गुनगुनाहटमें अपना स्वर मिलाकर गाना, राजहंसोंके साथ कूजना, मोरोंके साथ नाचना, पशु-पक्षियोंकी बोलीका अनुकरण करते हुए नाना प्रकारकी बोलियाँ बोलना, बड़े-बड़े लोगोंका नाटक उतारना, कुश्ती लड़ना इत्यादि मनोविनोदके साधन हुए।

शिशुओंके मनोविनोदके साधन बहुत कुछ बड़े-बूढ़ोंके अनुकरण मात्र होते आये हैं। उनके मनोविनोदका विकसित रूप सुसभ्य समाजके नृत्य, संगीत, नाटक, कवि-सम्मेलन, उद्यान-यात्रा, जलक्रीडा इत्यादिमें दिखाई पड़ता है।

अष्टम अध्याय

राजनीतिक जीवन

मानव-समाजके प्रारंभिक कालमें सुव्यवस्थित शासनका अभाव था। जैसे वनमें आज भी पशु-पक्षी बिना किसी शासनके स्वच्छन्द विचरते हैं, वैसे ही सभ्य होनेके पहले लोग शासनका नाम नहीं जानते थे। ऐसी परिस्थिति में शक्तिका ही राज्य था, न्याय करने वाला कोई नहीं था और बलवान्के हाथ विजय थी। ज्यों-ज्यों मनुष्यकी बुद्धि विकसित होती गई, उसे यह प्रतीत होने लगा कि पशुओं-की भाँति जीवन बितानेसे यह अच्छा है कि सामूहिक रूपसे संगठन करके अपनी रक्षा की जाय। संगठनके साथ ही नियमकी व्यवस्था होती है। किसी भी समूह-को एकमुख चलानेके लिये शासनकी आवश्यकता पड़ती है। यहींसे सामाजिक जीवनकी नींव पड़ती है और शासन-पद्धति आरंभ होती है। साथ ही मनुष्यकी व्यक्तिगत स्वतंत्रतामें कमी पड़ती है, किन्तु मनुष्यके पीछे सारे समाजकी शक्ति रहती है जो उसकी रक्षा करती है और आगे बढ़नेमें सहायक होती है।

शासनका आरंभ कुटुम्बसे होता है। आज भी कुटुम्बमें, जो सबसे अधिक बलवान्, बुद्धिमान् और अनुभवी होता है, उसके हाथमें कुटुम्ब-संचालनका भार रखा जाता है। प्राचीन कालसे ही कौटुम्बिक शासनमें माता-पिता और बड़े भाईका प्रधान हाथ रहा है। महाभारतमें बड़े भाईका गौरव प्रमाणित करते हुए अर्जुनने भीमसे कहा है कि बड़ा भाई ईश्वरके समान होता है। कौटुम्बिक शासनके पश्चात् ग्राम-शासनकी व्यवस्था चली, जिसके अनुसार किसी भी मनुष्य-की रक्षाके लिये, उसके गाँवके सभी लोग उत्तरदायी होते थे। गाँवका सबसे अधिक योग्य पुरुष कुटुम्बोंके प्रधान व्यक्तियोंके साथ सारे गाँवके हितके लिये योजनायें बनाता था। इसी प्रकार धीरे-धीरे शासन व्यवस्थाका सदा विकास होता आया है और आज सारा विश्व समुचित शासनके लिये एक सूत्रमें गुंथ जाना चाहता है। शासन-पद्धतिका यह विकास प्राकृतिक है।

आजसे लगभग ५००० वर्ष पहले भारतवर्षमें शासन-पद्धतिका अच्छा विकास हो चुका था। उस समय मोहेंजोदड़ो नगरका प्रबंध कोई संस्था या समिति

करती थी। संभवतः इस नगरका शासन राजाका कोई प्रतिनिधि करता था। नगरके प्रबंधके लिये कई भाग किये गये थे। प्रत्येक भागमें एक रक्षक रहता था। रक्षकोंके लिये सड़कोंके कोनों पर मकान बनाये गये थे। सड़कों पर रात्रि-के समय प्रकाशका प्रबंध किया जाता था। कूड़ा रखनेके लिये पीपे रखे जाते थे, नालियाँ ठीक समय पर साफ की जाती थीं, घर बनानेके लिये उचित स्थान चुने जाते थे और जलके लिये सुन्दर प्रबंध किया जाता था। नगरकी ये व्यव-स्थायें सार्वजनिक हितकी दृष्टिसे की गई थीं। इनको देखनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि सारे नगरका शासन-प्रबंध कोई प्रवीण समिति करती होगी। विद्वानोंका अनुमान है कि मोहेंजोदड़ोमें राजा नहीं था। संभवतः यहाँपर प्रजातंत्र शासन था और प्रजाके प्रतिनिधि नगरका शासन करते थे।

राजा

भारतवर्षमें प्राचीनकालसे ही शासनके सर्वोच्च अधिकारी प्रायः राजा रहे हैं। ऋग्वेद कालमें प्रत्येक जातिका नेता राजा होता था। राजाके अधीन कई गाँव होते थे, जिनको जन कहा जाता था। वह प्रजाका रक्षक और शासक होता था। राजाका नियन्त्रण सारी प्रजाको मान्य होता था। वह समाजमें सर्वत्र प्रतिष्ठित माना जाता था और उसकी रहन-सहनसे शान्ति और सम्पन्नताकी झलक मिलती थी। वह प्रजाकी रक्षा करनेके लिये युद्ध-क्षेत्रमें सेना-नायक भी बनता था। वैदिक कालमें राजसूय यज्ञके अवसर पर राजाका अभिषेक होता था। अभिषेकके समय वह प्रजाको सुखी रखनेका व्रत लेता था और प्रतिज्ञा करता था कि यदि मैं प्रजाको सताऊँ तो मेरे जीवन भरके सुकर्म निष्फल हो जायँ, मेरा स्वर्ग मेरा जीवन और सन्तान सब कुछ छिन जाय। कुछ राजा अपने समय-के बहुत बड़े दार्शनिक हुये हैं। उपनिषदोंमें जनक और प्रवाहण आदि ऐसे राजाओं-के उल्लेख मिलते हैं।

राजाका धीरे-धीरे राज्य पर सर्वाधिकार हुआ। उसे अपना राज्य दूसरेको दे देनेका भी अधिकार माना जाने लगा। ऐसी परिस्थितिमें राजाकी मृत्यु होने पर उसके राज्यका स्वामी राजकुमार हो जाता था। महाभारत-कालमें राजाके चुनावमें प्रजाका विशेष अधिकार दिखाई पड़ता है। राजाको अपना उत्तरा-धिकारी सबसे बड़े राजकुमारको बनानेके लिये प्रजाकी सम्मति लेनी पड़ती थी। वह किसी अयोग्य व्यक्तिको अपना उत्तराधिकारी नहीं बना सकता था। वास्त-

विक अधिकारीको शासक बनानेके लिये प्रजा राजाका विरोध तक करती थी। धृतराष्ट्रने जब युधिष्ठिरको राजा न बना कर दुर्योधनको उत्तराधिकारी बनानेका विचार प्रकट किया, तो प्रजामें बड़ी खलबली मची। उस समय विभिन्न स्थानों पर प्रजाकी सभायें हुई और धृतराष्ट्रके विचारोंका विरोध किया गया। विशेष परिस्थितिमें प्रजा स्वयं राजाका चुनाव करती थी। इस प्रकार संवरणके पुत्र कुरुको प्रजाने गुणी होनेके कारण राजा चुना और बालकपनमें ही जनमेजय नागरिकोंकी सर्व-सम्मतिसे राजा बना दिया गया।

महाभारत-कालमें, सिद्धान्त रूपमें, तो राजा गुणी, उदार और वीर होता था। किन्तु जैसा कि इस ग्रंथकी कथाओंसे ज्ञात होता है, साधारणतः राजा इस आदर्शसे बहुत नीचे थे। वे प्रायः भोग-विलास, मृगया और जुएके व्यसनी थे। नल और युधिष्ठिरने सारा राज्य जुएके खेलमें खो दिया। उस समयके राजा युवावस्थामें अस्त्र-शस्त्रोंकी कलामें तो पूर्णरूपसे प्रवीण होते थे, किन्तु उनको शास्त्रोंका ज्ञान बहुत कम हो पाता था। रामायणके अनुसार राजा राष्ट्रमें सत्य और धर्मकी सृष्टि करता है। वह प्रजाके लिये माता-पिताके समान है और सभी लोगोंका हित करता है।

जातकोंके अनुसार राजकुमारोंको लगभग सोलह वर्ष तक घरपर अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा दी जाती थी। इसके पश्चात् वे विद्यापीठोंमें ब्राह्मण-बालकोंके साथ तीनों वेद और चौदह या अठारह कलाओंका अध्ययन करते थे। राजकुमार कलाकारोंके नवसेवक होकर विभिन्न कला-कौशलोंकी शिक्षा भी ग्रहण करते थे। राजा बनानेके लिये राजकुमारोंके गुणोंकी परीक्षा भी होती थी। केवल न्यायप्रिय राजकुमार ही राजा नियुक्त हो सकते थे।

यदि राजा प्रजाका हित नहीं करता था अथवा उसके भोग-विलास तथा अत्याचारसे प्रजा संतप्त हो जाती थी, तो प्रजा प्रायः उसका बहिष्कार कर देती थी। कभी-कभी ऐसे राजाओंकी बड़ी दुर्गति होती थी। प्रजा उनको दंड देती थी। इस प्रकार कई राजाओंकी हत्या तक कर दी जाती थी। ऐसे राजाओंके स्थान उनको हटानेवाले लोगोंके नेता ले लेते थे। कुछ राजा प्रजाको धर्मकी शिक्षायें भी देते थे। एक राजा प्रतिमास प्रजाकी दो सभायें कराता था और उनमें कहता था, "दान दो, सच्चरित्र बनो, अपने कर्तव्योंका पालन करो, युवावस्थामें अध्ययन करो, धन अर्जन करो, धोखा-धड़ीका व्यवहार न करो। कभी

निर्दय न बनो। सदा माता-पिताकी सेवा करो और अपने कुटुम्बके गुरुजनोंका आदर करो।"

अशोक सारी प्रजाको अपनी सन्तानकी भाँति मानता था। वह तोसलिके कर्मचारियोंसे कहता है कि प्रजामें विश्वास उत्पन्न करना चाहिये। उनके मनमें यह बात जमा देनी चाहिये कि मैं उनका पिता हूँ, मैं उनको उतना ही प्यार करता हूँ जितना अपनेको और वे मेरी सन्तानके तुल्य हैं। अशोककी दया केवल मनुष्यों तक ही सीमित नहीं रही, बल्कि पशु-पक्षियों और जलचरोंको भी उससे सुख मिला। उसने पशु-वध बहुत कुछ कम करा दिया। वह अपने विषयमें कहता है कि मुझे अपने श्रम और कामसे कभी सन्तोष नहीं होता है। सारे संसारका हित करना मेरा मुख्य कर्तव्य है। जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें सभी साधनोंके द्वारा मुझे सारे संसारका हित करना है। उसने प्रजाकी आध्यात्मिक उन्नतिके साथ ही उनके शारीरिक सुखोंकी व्यवस्था भी की। उसने सड़कोंपर वृक्ष लगवाये और कुयें खुदवाये ताकि लोगोंको छाया और जल मिल सके। मनुष्यों और पशुओंको जल-वितरण करनेके लिये अशोकने स्थान-स्थानपर पौसले स्थापित किये और जड़ी-बूटियों, फलों और मूलोंकी खेतीकी उन्नति करनेके लिये लोगोंको उत्साहित किया। उसने लोगोंको धार्मिक सहिष्णुताकी शिक्षा दी और सभी धर्मोंके अनुयायियोंको आश्रय दिया। अशोकने प्रजाके चरित्रके विकासकी ओर पूरा ध्यान दिया। उसने अपने शिला-लेखोंके द्वारा प्रजाको सच बोलने, भाषणपर नियंत्रण रखने, अल्पसंचय और मितव्यय करनेका आदेश दिया और लोगोंसे शुद्ध और सदाचारी होनेके लिये कहा। उसने तत्कालीन भारतीय समाजको भोग-विलास, व्यसन और अन्धविश्वाससे ऊपर उठाकर कर्मण्य, धार्मिक और परोपकारी बनानेकी चेष्टा की।

अशोक विचारशील राजा था। वह नित्य योजनायें बनाता था और अपने कर्मचारियोंको उन योजनाओंके अनुसार चलनेके लिये उत्साहित करता था। वह धर्मका प्रचार करनेके लिये नित्य यात्रायें करता था। यों तो वह सारे भारतका राजा था, किन्तु प्रायः मगधका शासन विशेष रूपसे करता था। वह अपनेको 'देवानां प्रिय प्रियदर्शी' राजा, कहता था।

लंकाका राजा, जैसा कि प्लीनीने लिखा है, प्रजाके द्वारा चुना जाता था। राजाका बूढ़ा, दयालु और निःसन्तान होना आवश्यक था। यदि राजा चुन जाने-

पर उसे सन्तान होती, तो वह गद्दीसे उतार दिया जाता था जिससे राजपद उत्तराधिकारसे प्राप्त करनेकी प्रथा न चल पड़े।

स्मृतिकारोंने राजाको बहुत उच्च और गंभीर व्यक्तित्वका पुरुष बताया है। मनुके अनुसार राजा दूसरोंकी निन्दा नहीं करता है, वह दिनमें नहीं सोता है तथा विद्वान् और बड़े-बूढ़ोंकी संगति करता है। राजा कर्तव्यपरायण, सत्यवादी, विचारशील, पवित्र, शास्त्रोंका पण्डित और न्यायप्रिय होता है। विनय राजाका सर्वोपरि गुण है। अविनयके ही कारण वेन, सुदाः और नहुष आदि शक्तिशाली राजा नष्ट हो गये। विनयके बलपर पृथुको राज्य मिला। यदि राजा अपने कर्तव्यका पालन नहीं करता अथवा भोग-विलासमें अनुरक्त होता है तो उसका पतन होते देर नहीं लगती। कर्तव्यपथसे विचलित राजा प्राकृतिक दंडका भागी होता है और बन्धु-बान्धवों सहित उसका नाश हो जाता है। मनुने राजाको प्रजाके पिताकी भाँति माना है।

राजपदके मोहसे कुछ राजकुमार नाना प्रकारके नीच उपायोंका अवलंबन करते आये हैं। कौटिल्यने लिखा है कि राजा होनेके लिये राजकुमार राजद्रोह, धोखा-धड़ी और षड्यंत्र करते थे। जिन राजकुमारोंकी दुष्प्रवृत्तिका पता राजाको चल जाता था, वे कारागारमें बन्द कर दिये जाते थे। उनको छुड़ानेका प्रयत्न करनेवाले लोगोंको देशसे निकाल दिया जाता था। जो राजकुमार विद्रोह करता था, उसकी हत्या कर दी जाती थी। राजा भी कभी-कभी राजकुमारको भोग-विलासी और व्यसनी बना देते थे ताकि वे विरोध न कर सकें।

गुप्तकालसे स्वतंत्र राजाओंकी उपाधि परमेश्वर, महाराजाधिराज, परम-भट्टारक, सम्राट्, एकाधिराज, राजाधिराज, चक्रवर्ती और परमदैवत मिलती हैं। उस समय राजा शासनकी व्यवस्था करनेके लिये भ्रमण करते थे। उनके साथ कुछ मंत्री भी जाते थे। वे विद्वानों और धार्मिक संस्थाओंका आदर करते थे। ब्राह्मणों, विद्यार्थियों और धार्मिक संस्थाओंको राजाकी ओरसे दान मिलते थे। कालिदासने रघुवंशमें तत्कालीन अच्छे राजाओंका आदर्श-वर्णन किया है। रघुके विषयमें कविने कहा है :—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः॥

(प्रजाको विनयकी शिक्षा देने और उनका भरण-पोषण और रक्षा करनेके कारण वह सारी प्रजाका वास्तविक पिता था, उनके अपने पिता तो केवल जन्म देनेवाले

थे।) इस समयके राजा प्रायः प्रजाकी सुख-शान्ति, सच्चरित्रता, शिष्टता, शिक्षा और उन्नतिके लिये उत्तरदायी होते थे।

सातवीं शताब्दीमें हर्ष चक्रवर्ती राजा हुआ। वह अपनी बहन राज्यश्रीके साथ शासन करता था। जैसा कि ह्वेनसांगने लिखा है, राजा वर्षा ऋतुको छोड़कर सदा ही भ्रमण करता रहता था। ये यात्रायें युद्धके लिये अथवा धार्मिक या शासन सम्बन्धी आवश्यकताओंके लिये होती थीं। राजा एक स्थानपर कभी देर तक नही ठहरता था। उसके ठहरनेके लिये घास-फूस, डालों और टहनियोंकी कुटी बना दी जाती थी। हर्ष बहुत परिश्रमी शासक था। ह्वेनसांग लिखता है कि वह अच्छे कामोंको करते समय भूख और निद्राकी उपेक्षा कर देता है।

मंत्रि-परिषद् और प्रजाकी सभायें

ऋग्वैदिक कालसे ही राजाओंको मत देनेवाले पुरोहितों और प्रजाकी सभाओंके उल्लेख मिलते हैं। पुरोहित कभी-कभी राजाके साथ युद्ध-भूमिमें भी जाते थे और युद्ध करते थे। इनके यज्ञोंसे राजाओंको विजय प्राप्त होती थी। सभा और समितियोंके सदस्योंको विषयमें कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। संभवतः ये सभायें राजाके शासन-प्रबन्ध और न्यायके विषयमें अपना विचारपूर्ण मत देती थीं। धीरे-धीरे सभा और समितियोंका महत्त्व बढ़ा। अथर्ववेदमें एक राजा कामना प्रकट करता है कि सभा और समिति दोनों मेरे अनुकूल रहें। सभाओं और समितियोंमें तर्क और व्याख्यान प्रायः होते थे। इनके निश्चयका महत्त्व था। सभासद् इस बातका प्रयत्न करते थे कि सर्वसम्मतिसे ही कुछ निर्णय किया जाय। सभा और समितियोंकी बैठकोंमें युद्ध, संधि, अर्थ और प्रजाकी हित संबंधी योजनाओंपर विवाद होते थे। छान्दोग्य-उपनिषद्में पांचालोंकी समितिका उल्लेख मिलता है, जिसका सभापति प्रवाहण जैवलि उस देशका राजा था। ज्यों-ज्यों राज्य बड़े होते गये, राजाके अधीन कई सामन्त होने लगे और राजकीय व्यवस्थाओंके संचालनके लिये मंत्रियोंकी आवश्यकता हुई, जो केवल शासन प्रबंधके विषयमें ही सदैव चिन्तन करते थे। मंत्रियोंमें पुरोहितको सर्वप्रथम स्थान मिला। पुरोहित प्रायः सभी शास्त्रोंके पंडित होते थे। पुरोहितका शासनमें प्रमुख हाथ रहता था। ऐतरेय ब्राह्मणके अनुसार पुरोहित आधा क्षत्रिय होता था। राजाकी सफलता बहुत कुछ उसीपर निर्भर थी। उसको राष्ट्रगोपकी उपाधि मिली थी।

महाभारतके अनुसार राजाको ३७ मंत्रियोंका मंत्रिमंडल बनाना चाहिये। इस मंत्रि-मंडलमें चार विद्वान् ब्राह्मण, आठ क्षत्रिय वीर, इक्कीस धनी वैश्य, तीन विनयी और आचारवान शूद्र और एक पुराणोंका पंडित सूत होना चाहिये। किसी भी मंत्रीकी आयु पचास वर्षसे कम नहीं होनी चाहिये। सारा मंडल निर्भीक, किसीकी निन्दा न करनेवाला, विनयशील, समदर्शी, लोभरहित और व्यसनोंसे दूर रहनेवाला होना चाहिये। इनमेंसे आठ प्रधान मंत्रियोंको चुनकर राजाको उनके साथ गुप्त मंत्रणा करनी चाहिये। रामायण और महाभारत कालमें पुरोहित राजाके प्रधान सहायक होते थे और निरन्तर उन्हें अपना मत देते थे। रामायणके अनुसार राजाके आठ मंत्री होते थे। वे विचारशील उपदेशक, योग्य शासक, राजभक्त, राज्यकी रक्षा करनेमें तत्पर और प्रजाके हितैषी थे।

जातकोंमें पुरोहितके अतिरिक्त अनेक मंत्रियोंके उल्लेख मिलते हैं। ये मंत्री प्रायः सभी विद्याओंके पंडित होते थे। राजा उनका आदर करता था। राजाके मरनेके पश्चात् मंत्रियोंको शासनका काम भी करना पड़ता था। सेनापति सभी मंत्रियोंमें प्रधान गिना जाता था। सेनापतिके अधिकार बहुत अधिक थे। प्रजाका सेनापतिमें कभी-कभी राजासे भी अधिक विश्वास होता था। सेनापति केवल सेनाका ही प्रबंध नहीं करता था, वरं वह न्यायका काम भी करता था। न्याय-विभागका मंत्री विनिश्चयामात्य होता था। वह न्याय करनेके अतिरिक्त धर्म और आचार-संबंधी मंत्रणा देता था। राज-कोषका प्रबंध-मंत्री भांडागारिक होता था। भूमिकी माप करानेका काम रज्जुक-अमात्य-को दिया गया था।

राजा अधिकसे अधिक विद्वानोंकी सम्मति लेते थे और उनके ज्ञानका लाभ उठाते थे। बौद्ध साहित्यमें प्रायः गौतमबुद्धके राजकीय विषयोंपर सम्मति देनेके उल्लेख मिलते हैं। स्ट्रैबोने लिखा है कि राजा वनवासी मुनियोंकी सम्मति लेनेके लिये दूत भेजता था। मेगस्थनीजने लिखा है कि राजा अपने राज्यके विद्वानोंकी एक परिषद् बनाता था। यह परिषद् नये वर्षके प्रारंभमें बुलाई जाती थी। जो विद्वान् खेती या पशुपालन संबंधी कोई खोज करता था, अथवा प्रजाके हितके लिये कोई सफल उपाय सोचता था, उसकी प्रतिष्ठा होती थी। उसकी खोजोंका सार्वजनिक प्रचार करनेके लिये घोषणा कर दी जाती थी।

मौर्यकालमें प्रजाकी सभाओंका शासन-क्षेत्रमें बहुत अधिकार था। मेगस्थ-नीजने लिखा है कि भारतीय राजाओंकी शक्तियों और अधिकारोंका नियंत्रण

प्रजाकी पाँच बड़ी सभाओंके द्वारा होता था। अशोक और उसके प्रान्तीय शासकोंको मंत्रणा देनेके लिये परिषदें बनी हुई थीं। इन परिषदोंमें शासनके उच्च अधिकारी होते थे, जो निस्संकोच भावसे केवल एक दूसरेके विरुद्ध ही नहीं, अपितु राजाकी इच्छाओंके विरोधमें भी, अपने मतका प्रतिपादन करते थे। जब कभी राजाकी इच्छाओंका विरोध होता था, उसे शीघ्र ही प्रतिवेदकोंके द्वारा सूचित किया जाता था। अशोकने नियम बनाया था कि यदि कभी मेरी आज्ञाओं अथवा घोषणाओंको परिषद् न माने अथवा कुछ लोग विरोध करें, तो मैं जहाँ-कहीं भी रहूँ, किसी भी समय मुझे अवश्य सूचना दी जाय। राजा परिषद्के विचार जाननेके लिये उत्सुक रहता था। इस समय लंकाका शासन, जैसा कि प्लीनीने लिखा है, राजा ३० मंत्रियोंकी सहायतासे करता था।

मनु, बृहस्पति और उशनाने मंत्रियोंकी संख्या क्रमशः १२, १६ और २० बतलाई है। कौटिल्यने लिखा है कि राजाको आवश्यकतानुसार मंत्रियों की संख्या रखनी चाहिये, मंत्रिपरिषद्के व्यापार यथासंभव गुप्त रखने चाहियें, सदस्योंको एक-एक करके अपने मत प्रकट करने चाहियें और स्वतंत्रतापूर्वक विवाद करना चाहिये। कौटिल्यके समयमें राजा परषिद्की सम्मति जानकर अन्तिम निर्णय करता था। वह परिषद्में अधिकांश लोगोंकी सम्मति स्वीकार कर लेता था। सभी मन्त्रियोंसे एक साथ सम्मति लेना आवश्यक नहीं था। कभी-कभी राजा तीन या चार अथवा केवल एक मंत्री की ही सम्मति लेता था।

कौटिल्यके अनुसार इने-गिने कुलोंसे ही मंत्री चुने जा सकते थे। इन कुलोंको अमात्य-कुल कहा जाता था। मंत्री-पदके लिये विद्वान्, सच्चरित्र, विवेकशील, कर्तव्यपरायण और लोकप्रिय पुरुष चुने जा सकते थे। विदेशी मनुष्योंको राज्यमें उच्च पद नहीं दिये जाते थे। कौटिल्य केवल स्वदेशके अभिजात लोगोंको मंत्री पदके योग्य समझता था। मंत्रियोंमें सबसे अधिक अनुभवी व्यक्ति प्रधान चुना जाता था। सेनापति और प्रणिधि भी राजाके मन्त्री होते थे। सबसे अधिक सफल मंत्रीको ही राजा प्रणिधि बनाकर विदेशोंमें भेजता था। मंत्रियोंको किसी विभागका अध्यक्ष स्थायी रूपसे नहीं बनाया जाता था। समय-समयपर मंत्रियोंके विभाग आपसमें बदलते रहते थे।

कौटिल्यके समयके मंत्रियोंके विभाग आगे भी प्रायः उसी रूपमें मिलते हैं। गुप्तकालमें महासंधिविग्रहिक वैदेशिक विभागका मंत्री होता था। यह पद हर्षके शासन-कालमें भी था।

शासन

ऋग्वेद-कालमें शासनकी सुदृढ व्यवस्था चल पड़ी थी जिसके अनुसार राजा और उसके कर्मचारी आचरण करते थे। उस समय राजाओंके द्वारा दूत नियुक्त किये जाते थे, जो सर्वत्र भ्रमण करते थे और निरन्तर सभी परिस्थितियोंका निरीक्षण करते थे। वे खेतों और पौधोंकी देख-भाल करते थे और दुराचारी लोगोंको खोज निकालते थे। राजाके ये कर्मचारी बुद्धिमान, सत्यवादी, पवित्र और समाजमें प्रतिष्ठित होते थे। इनके अतिरिक्त सेनानीको राजा अपनी सेनाका नेता नियुक्त करता था। गाँवोंका शासन करनेके लिये प्रत्येक गाँवमें ग्रामणी नियुक्त होता था। ग्रामणी गाँवका नेता होता था। संभवतः वह गाँवकी रक्षा करता था और वहाँ शान्तिकी व्यवस्था करता था।

ऋग्वेद-कालमें लोग प्रायः गाँवोंमें बसते थे। कई गाँवोंको मिलाकर एक जन होता था। प्रत्येक जनका अधिपति राजा होता था। सारी जनता विभिन्न वर्गोंमें बँटी हुई थी, जिनके नाम पुरु, तुर्वश, यदु, अनु, द्रुह्य, भरत, गन्धारी और उशीनर इत्यादि थे। प्रत्येक वर्गका एक नेता होता था जो उसपर शासन करता था। धीरे-धीरे जन अधिक बड़े होने लगे। आगे चलकर वैदिक कालमें सम्राट् और अधिराजके उल्लेख मिलते हैं। इनके पद राजाके पदसे ऊँचे थे। राजाओंके साथ ही एक सामन्तोंका वर्ग भी बन गया। उपनिषद्-कालमें राज्योंकी विभिन्न कोटियाँ—राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमस्थ्य, माहाराज्य, आधिपत्य और स्वावश्य मिलती हैं।

सूत्रोंकी रचनाके समय शासन-पद्धति विकसित रूपमें मिलती है। उस समय गाँवों और नगरोंका शासन करनेके लिये कर्मचारी होते थे। नगरके पदाधिकारीका शासन-क्षेत्र अपने स्थानसे आठ मील चारों ओर था। गाँवके पदाधिकारीका क्षेत्र केवल दो मील चारों ओर था। इस क्षेत्रमें शान्ति और सुरक्षाका उत्तरदायित्व इन्हीं पदाधिकारियोंपर था।

महाभारत-कालमें शासनके लिये राजा मंत्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक, काराध्यक्ष, द्रव्यसंचयकर्ता, अर्थ-विनियोजक, प्रदेष्टा, नगराधिपति, कार्य-निर्माणकृत्, धर्माध्यक्ष, सभापति, दंडपाल, दुर्गपाल, सीमापाल और अटवीपाल नियुक्त करते थे। ये पदाधिकारी नित्य राजाके संपर्कमें रहते थे। इनके अतिरिक्त खानोंकी देखभाल करनेके लिये, नमक, चुंगी और घाटोंके प्रबंधके

लिये, कर्मचारी नियुक्त किये जाते थे। राजा अपना प्रतिनिधि बनाकर राजदूतको अन्य राजाओंके पास भेजता था।

महाभारत-कालमें प्रत्येक गाँवमें एक ग्रामाधिपति रहता था, जो गाँवमें शासनकी व्यवस्था करता था और भूमिकर संचय करता था। दस, बीस, सौ और हजार गाँवोंके भी एक-एक अधिपति होते थे। इनमेंसे प्रत्येक अधिपति अपने ऊपरके अधिपतिको अपने क्षेत्रकी शासन-व्यवस्थाका विवरण देता था। सभी अधिपतियोंके काम-काजका निरीक्षण करनेके लिये राजा एक मंत्री नियुक्त करता था। राजा गुप्तचरोंके द्वारा इन अधिपतियोंके व्यवहारकी परीक्षा कराता रहता था। प्रजाको चूसने वाले, घूस लेने वाले, दूसरोंके धनको हड़पने वाले और दुष्ट अधिकारियोंको राजा शीघ्र ही हटाकर प्रजाकी रक्षा करता था। नगरोंका शासन करनेके लिये 'सर्वार्थचिन्तक' नियुक्त किये जाते थे, जो नगरके संबंधमें सभी विषयोंकी चिन्ता करते थे। गाँवों और नगरोंकी भाँति प्रान्तोंकी रक्षा भी की जाती थी। राजा प्रजाकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति मानता था। साधारणतः प्रजा राजाको पिताके समान समझकर उसका आदर करती थी।

जातकोंमें रात्रिके समय नगरकी रक्षा करनेके लिये नगर-गुत्तिक नामके कर्मचारियोंके उल्लेख मिलते हैं। चोरघातक नामके कर्मचारी संभवतः चोरोंको दंड देते थे। नगरमें पुलिसका अच्छा प्रबन्ध था। नागरिक भी मिलजुलकर इन पदाधिकारियोंकी सहायता करते थे और शान्ति व्यवस्थामें भाग लेते थे। जातककी कहानियोंसे ज्ञात होता है कि राज्य कई विभागोंमें बँटे होते थे। प्रत्येक विभागका शासन करनेके लिये राजकुमारोंको नियुक्त किया जाता था। प्रत्येक विभागमें बहुत से गाँव होते थे। प्रायः प्रत्येक गाँव शासनके विषयमें स्वतंत्र था। गाँवों का शासन-प्रबंध 'ग्रामभोजक' करते थे। गाँवोंके प्रधान व्यक्ति ही राजाके द्वारा ग्रामभोजक नियुक्त किये जाते थे। ग्रामभोजक गाँवोंमें न्यायका काम करता था, गाँवोंकी पारस्परिक समस्याओंको सुलझाता था और अपराधियोंसे दंड लेता था। वह गाँवमें मादक वस्तुओंका नियंत्रण करता था, झगड़ालू लोगोंको दबाता था और पशु-वधपर रोक लगाता था। ग्रामभोजक अकाल पड़नेपर लोगोंको अन्न उधार देता था। राजा ग्रामभोजकोंके आचरणकी देखभाल करता था। वह अयोग्य ग्रामभोजकोंको गाँवसे बाहर निकाल देता था। जो ग्रामभोजक दुराचारी होता था, उसे प्रजा स्वयं दंड भी देती थी। ग्रामभोजक गाँवका शासन करनेमें पूर्ण रूपसे स्वतंत्र नहीं था। प्रत्येक गाँवमें प्रायः ३० मुख्य लोगोंकी पंचायत

होती थी जो गाँवके लाभके लिये योजनायें बनाकर ग्रामभोजकके सामने रखती थी। पंचायतके लिये गाँवमें पंचायत घर बनते थे। गाँवके लोग हाथमें छुरे, कुल्हाड़ियाँ और मूसल लेकर स्वयं सड़कोंके कंकड़-पत्थर हटा देते थे, पेड़ोंकी उन डालोंको काट देते थे जो सड़कोंपर चलनेवाले रथोंको रोकती थीं, ऊँची-नीची भूमिको समतल कर देते थे, पुल बनाते थे और सामूहिक रूपसे पोखरे या पंचायत-घर बनाते थे। इन कामोंके लिये राजकीय सहायता नहीं ली जाती थी। एक पंचायतने यह निश्चय किया कि गाँवका कोई आदमी अब मद्यपान नहीं करेगा।

मौर्यकालके शासनका विवरण ग्रीक लेखकोंके ग्रंथोंसे ज्ञात होता है। स्ट्रैबोने लिखा है कि नगर और सेना के अतिरिक्त गाँवोंके शासनके लिये पदाधिकारी नियुक्त किये जाते थे। गाँवोंके पदाधिकारी भूमिकर, सिंचाई, वन, और आने-जानेकी सुविधाओंका प्रबंध करते थे। वे किसान, बढ़ई, लकड़िहारों और खान खोदनेवालोंके व्यवसायोंकी उन्नतिके लिये विशेष रूपसे प्रयत्नशील रहते थे और आने-जानेके लिये सड़कें बनवाते थे। सड़कोंपर दूरी तथा शाखा-मार्गोंको सूचित करनेवाले खंभे भी गड़े रहते थे।

मौर्यकालमें पाटलिपुत्रका शासन करनेके लिये पाँच-पाँच सदस्योंकी छः समितियाँ बनी हुई थीं। पहली समिति कला-कौशल का प्रबंध करती थी। दूसरी समिति विदेशी लोगोंकी देख-भाल करती थी। विदेशियोंको रहनेका स्थान दिया जाता था और उनकी सहायता करनेके लिये कुछ लोग नियुक्त किये जाते थे, जो समितिको उनके आचार-व्यवहारके विषयमें सूचना देते थे। देश छोड़नेके समय तक लोग उनके साथ रहते थे, बीमार होनेपर उनकी चिकित्सा की जाती थी, मर जानेपर उनको गाड़ दिया जाता था और उनका सामान उनके संबंधियोंके पास भेज दिया जाता था। तीसरी समिति जन्म-मरणका लेखा रखती थी। राजा प्रजाके जन्म-मरणके विषयमें बहुत सावधानीसे जाँच करवाता था। चौथी समिति व्यापारका प्रबंध करती थी, और तोल तथा मापके परिमाणोंका निरीक्षण करती थी। कोई वस्तु चोरी-चोरी नहीं बेंची जा सकती थी। पाँचवीं समिति उद्योग-धंधों-से बनाई हुई वस्तुओंको बेचनेका प्रबंध करती थी। नई और पुरानी वस्तुओंको अलग-अलग रखकर बेचना आवश्यक था। छठी समिति बिकी हुई वस्तुओंके मूल्यका दसवाँ भाग संग्रह करती थी। यही व्यापारिक कर था और इस करको न देनेवालेको मृत्यु-दंड तक दिया जा सकता था। सम्मिलित रूपसे ये समितियाँ सार्वजनिक हितके लिये प्रयत्नशील रहती थीं और सामाजिक भवनोंकी मरम्मत,

मूल्य-निर्धारण, बाजारका प्रबंध, तथा मन्दिरों और घाटोंकी देख-रेख करती थीं। पाटलिपुत्र नगरकी शासन-व्यवस्था सुदृढ़ प्रतीत होती है।

अशोकका साम्राज्य कई प्रदेशोंमें विभक्त था। उसके शिलालेखोंमें उज्जयिनी, तक्षशिला, कलिंग या उड़ीसा और संभवतः दक्षिण भारतमें सुवर्णगिरिके प्रान्तोंके उल्लेख मिलते हैं। इन प्रान्तोंका शासन प्रायः राजवंशके राजकुमार ही करते थे। प्रान्तोंके शासकोंके नीचे कई महामात्र होते थे जो ज़िलोंका शासन प्रबंध करते थे। नगरोंका शासन भी महामात्र नामके कर्मचारीको ही दिया जाता था। महामात्रों के नीचे राजुक या लाजुक काम करते थे। राजुक संभवतः भूमिकर संग्रह करते थे और न्यायका काम करते थे। राजुकोंका कार्य-भार बहुत उत्तरदायित्व-पूर्ण माना जाता था। अशोकने अपने शिला-लेखमें बताया है कि मैं प्रजाको राजुकोंके ऊपर वैसे ही छोड़ रहा हूँ जैसे माता-पिता अपनी प्रिय सन्तानको कुशल धाईके ऊपर छोड़ देते हैं। मैंने राजुकोंको आदेश दिया है कि वे प्रजाके लिये अधिक से अधिक सुख और शान्तिकी व्यवस्था करें। महामात्र और राजुकोंके नीचे युत नामके कर्मचारी होते थे, जो राजकीय कार्यालयोंमें काम करते थे और शासन संबंधी आज्ञाओंका संग्रह करते थे। महामात्र, राजुक और युत अपने-अपने कार्यक्षेत्रमें भ्रमण करते हुये शासन संबंधी काम करते थे। विरुथ या व्युठ नामके कर्मचारी भी इसी प्रकार भ्रमण करते थे। शासन-संचालनके लिये इन कर्मचारियोंके अतिरिक्त बहुत से लिपिकार, लेखक और दूत भी नियुक्त किये जाते थे।

उपर्युक्त कर्मचारियोंके साथ ही अशोकने 'पुरुष' नामके कर्मचारियोंको नियुक्त किया था, जो गुप्तचर, संवाददाता और निरीक्षकका काम करते थे। वे राजाको उसके सभी कर्मचारियोंके विषयमें सूचना देते थे। 'पुरुषों' की भाँति प्रतिवेदक नामके कर्मचारी होते थे, जो राजाको प्रजाके विषयमें सूचना देते थे। इनकी नियुक्तिके विषयमें अशोक कहता है कि ये मुझे प्रजाका समाचार देंगे, चाहे कोई भी समय क्यों न हो जबकि मैं भोजन करता रहूँ, अन्तःपुरमें पड़ा रहूँ, गोशालामें रहूँ, यात्रा करता रहूँ अथवा उपवन में रहूँ।

कौटिल्यके अर्थशास्त्रसे तत्कालीन भारतकी शासन-व्यवस्थाका पूरा परिचय मिलता है। कौटिल्यके अनुसार शासनके द्वारा प्रजाके सारे कार्य-व्यापारपर नियंत्रण होना चाहिये—यहाँ तक कि कोई मनुष्य अपनी इच्छानुसार संसार त्यागकर संन्यासी भी नहीं बन सकता था। कौटिल्य संन्यासी होनेकी योग्यता और अवस्था भी निर्धारित करता है और यदि कोई मनुष्य उसका विधान न मानते

हुए संन्यास ले लेता है तो वह दंडनीय होता है। कौटिल्यके अनुसार राजाको देखना चाहिये कि पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिन गुरु-शिष्य, चाचा और भतीजे इत्यादि एक दूसरेके प्रति स्नेह और आदर-भाव रखते और एक दूसरेको धोखा नहीं देते। राजाको दीन, असहाय, बूढ़े, दुर्बल, दुःखी पुरुषोंका और गर्भवती स्त्रियों और बच्चोंका पालन करना चाहिये। इस प्रकार कौटिल्यके शासन-विधानमें सामाजिक सुधारके लिये नियम रखे गये हैं। उसने जनताके मनोरंजनके लिये खेल-तमाशे, जुए और मद्यपानपर भी नियंत्रण करनेके लिये नियम बनाये हैं। विभिन्न व्यवसायोंको उचित ढंगपर चलानेके लिये अर्थशास्त्रमें नियम दिये गये हैं। वैद्योंको असाध्य रोगोंसे पीडित लोगोंकी सूची भेजनी पड़ती थी। यदि वैद्यके हाथसे किसी ऐसे रोगीकी मृत्यु हो जाती थी, जिसकी सूचना उसने राजाके पास न भेजी हो, तो उसे दंडका भागी बनना पड़ता था। यदि वैद्यकी असावधानीसे रोगीकी मृत्यु हो जाती थी, तो उसे और अधिक दंड पाना पड़ता था। इसी प्रकार सोनार, जुलाहे और धोबियोंके विषयमें भी कौटिल्यने नियम बनाये हैं। अर्थशास्त्रके प्रायः सभी नियम प्रजाके लिये लाभकर हैं, किन्तु साथ ही राजाकी सुविधाओंके लिये कौटिल्यने विशेष ध्यान रखा है।

कौटिल्यने मंत्रियोंके अतिरिक्त समाहर्त्ता,[१] निधायक,[२] सौनिधाता[३] व्यावहारिक,[४] कर्मान्तिक,[५] और नायक[६] नामक कर्मचारियोंके कार्यक्षेत्रका विवरण दिया है। वह शासनके नीचे लिखे विभागोंके लिये एक-एक अध्यक्षका उल्लेख करता है :—सुवर्ण,[७] कोष्ठागार,[८] पण्य,[९] कुप्य,[१०] आयुधागार,[११] शुल्क,[१२] सूत्र,[१३] सीता,[१४] सुरा,[१५] सून,[१६] गणिका,[१७] नौ,[१८] गो,[१९] अश्व,[२०] हस्ती,[२१] रथ, मुद्रा, विवीत।[२२]

कौटिल्य राज्यको चार भागोंमें बाँटता है। प्रत्येक विभागका शासन करनेके लिये राजाको अपने प्रतिनिधि नियुक्त करने चाहिये। अन्तपाल नामक अधिकारी

---

[१]कर संचय करनेवाला, [२]कोषाध्यक्ष, [३]कोषाध्यक्ष, [४]प्रधान न्यायाध्यक्ष, [५]उद्योग-धंधोंका अध्यक्ष, [६]पुलिस विभागका प्रधान, [७]सोना, [८]अन्न संग्रह करनेका घर, [९]व्यापार, [१०]उत्पत्ति, [११]अस्त्र-शस्त्र, [१२]माप-तोल, [१३]बुनाई, [१४]खेती, [१५]मद्य, [१६]पशु-वध, [१७]वेश्या, [१८]नाव, [१९]गाय-बैल, [२०]घोड़े, [२१]हाथी, [२२]गोचर।

सीमान्त प्रदेशोंकी देख-भाल करते थे और आटविक वन-प्रदेशपर शासन करते थे। दुर्गपाल किलोंके अधिकारी होते थे। शासनकी सुविधाके लिये आठ सौ, चार सौ और दो सौ गाँवोंके विभाग बने हुए थे। जिलोंके अधिकारी प्रदेष्टा होते थे। 'गोप' नगरके दस- बीस या चालीस घरोंका हिसाब-किताव रखता था। वह लोगोंकी जाति, गोत्र, नाम और व्यवसाय आदिका पूरा ब्यौरा लिखता था और साथ ही उनके आय-व्ययका भी निरीक्षण करता था। 'नागरक' नगरका अध्यक्ष होता था। गाँवोंकी देख-भाल करनेके लिये प्रत्येक गाँवमें एक मुखिया नियत किया जाता था। कौटिल्यके समयमें राजाकी ओरसे बहुतसे गुप्तचर नियुक्त किये गये थे, जो प्रजाके सारे काम-काज और विचारोंकी सूचना राजाके पास भेजते थे। गुप्तचर राजाके कर्मचारियोंका भी निरीक्षण करते थे। पुरुष और स्त्री दोनों गुप्तचर बनाये जाते थे। वे वेशविन्यासके परिवर्तन द्वारा प्रजाके प्रत्येक कार्यक्षेत्रमें प्रवेश पा जाते थे।

गुप्तकालमें शासन-प्रबंधके लिये राज्य भुक्तियों (प्रान्त)में, भुक्तियाँ विषय (जिला)में और विषय गाँवोंमें बँटे हुए थे। भुक्तियोंके प्रधान शासकके नाम भोगिक, भोगपति, गोप्ता, उपरिकमहाराज और राजस्थानीय मिलते हैं। ये राजाके प्रतिनिधि होकर शासन करते थे। प्रायः राजकुमार भुक्तियोंके शासक बनाये जाते थे। इनके मंत्रियोंको कुमारामात्य कहा जाता था। भुक्तियोंके शासक विषयोंके लिये शासक चुनते थे। गाँवोंका शासन ग्रामिक करते थे। गाँवोंके प्रमुख व्यक्ति, जिनको महत्तर कहा जाता था, शासन-प्रबंधमें ग्रामिककी सहायता करते थे। नगरोंका शासन द्रांगिक नामके कर्मचारी करते थे। इनकी नियुक्ति भुक्तियोंके शासक करते थे। राजकुमार भी इस पदपर नियुक्त किये जाते थे। द्रांगिक नागरिकोंका नेता होता था। गुप्तकालमें पुलिस विभागके कर्मचारियोंके नाम दंडपाशिक, दंडिक तथा चौरोद्धरणिक मिलते हैं। इनके अतिरिक्त चाट और भाट भी अपराधोंकी खोज करते थे। भूमिकी माप करनेके लिये प्रमाता नामक कर्मचारी नियत थे। सीमाप्रदाता सीमायें नियत करते थे। खेतोंके झगड़ोंका निपटारा संभवतः न्यायकरणिक नामके कर्मचारी करते थे। उपरिकर, ध्रुवाधिकरण और उत्खेतयिता नामके कर्मचारी भूमिकरका प्रबंध करते थे। पुस्तपाल, अक्षपटलिक, और महाक्षपटलिक भूमि संबंधी लेखोंका प्रबंध करते थे। करणिक आजकलके रजिस्ट्रारकी भाँति काम करते थे।

सेना और युद्ध

ऋग्वेद-कालसे ही भारतवर्षमें वीरोंके युद्ध होते आये हैं। ऋग्वेदमें प्रायः राजाओंके उल्लेख मिलते हैं, जो युद्ध-भूमिमें हाथियों या रथों पर बैठ कर अपनी सेनाका नेतृत्व करते थे। राजा शत्रुओंके नगर उजाड़ देते थे और उनके दुर्गोंको तोड़ डालते थे। शत्रुको पराजित करके विजयी राजा उसकी गायें छीन लेते थे और धन लूट लेते थे। ऋग्वेदमें प्रायः सभी लोगोंके युद्ध करनेका उल्लेख मिलता है। धीरे-धीरे कुछ लोगोंने युद्ध-कलामें दक्षता प्राप्त की। आगे चलकर इन्हींका नाम क्षत्रिय पड़ा। राजा क्षत्रियोंकी सेना रखते थे, जिसमें सहस्रों सैनिक होते थे। सेनाका नेतृत्व करनेके लिये सेनानी या सेनापतिकी नियुक्ति की जाती थी। राजा सेनाकी सहायतासे दिग्विजय करते थे। दिग्विजयके पश्चात् अश्व-मेध किया जाता था। इस यज्ञके लिये एक घोड़ा छोड़ दिया जाता था और उसकी रक्षा करनेके लिये बहुतसे क्षत्रिय वीर अस्त्र-शस्त्र धारण करके उसके पीछे-पीछे जाते थे। यदि कोई राजा अश्वमेधके घोड़ेको रोक देता था, तो क्षत्रिय वीर उससे युद्ध करने लगते थे। वैदिक कालके वीरोंमें युद्धके लिये अद्भुत उत्साह दिखाई पड़ता है। वे युद्ध-भूमिमें कवच पहन कर उतरते थे और बाण, धनुषसे प्रायः घोड़े पर या रथमें बैठ कर युद्ध करते थे। उनके अन्य अस्त्र-शस्त्र भाले, कुल्हाड़ी और तलवार थे। युद्धमें ढोल पीटे जाते थे और ध्वजायें फहराई जाती थीं।

सूत्र-साहित्यमें युद्धके नियमोंके उल्लेख मिलते हैं। बौधायनके अनुसार किसी राजाको विषैले तीरोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये और न तो स्त्रियों, बच्चों, बूढ़ों और ब्राह्मणों पर प्रहार करना चाहिये। प्रमत्त, पागल और डरे हुये मनुष्य पर शस्त्र नहीं उठाना चाहिये। जिस योद्धाका कवच नष्ट हो गया हो, उसे भी नहीं मारना चाहिये। महाभारत-कालमें युद्धके नियम प्रचलित थे। यदि शत्रु धोखा देता हो, तो उसके साथ धोखा-धड़ीका व्यवहार चल सकता है। किन्तु जहाँ पर न्यायका युद्ध होता हो वहाँ अन्यायपूर्वक युद्ध करना क्षत्रिय वीरोंको शोभा नहीं देता। रथी योद्धाका घुड़सवारसे युद्ध करना अथवा कवच पहिन कर बिना कवच पहने हुए वीरसे लड़ना अनुचित ठहराया गया था। किसी ऐसे योद्धा पर प्रहार नहीं किया जा सकता था, जो गिर गया हो, परास्त हो गया हो, जो भूखा-प्यासा हो, जिसके धनुषकी प्रत्यंचा टूट चुकी हो, जिसका पुत्र मर गया हो या रथ

बेकाम हो गया हो। युद्धके नियमके अनुसार घायल शत्रुको घर पहुँचा देना चाहिये अथवा कुशल वैद्यसे उसकी चिकित्सा करानी चाहिये। यदि घायल योद्धा पकड़ जाय तो चिकित्सा द्वारा स्वस्थ कर लेने पर उसको मुक्त कर देना चाहिये। जो विपक्षी शरणमें आ गया हो, असावधान हो या अस्त्र-शस्त्र फेंक चुका हो, उसको नहीं मारना चाहिये। सोये हुए, थके हुए, भोजन करते हुए या आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए मनुष्य पर हाथ नहीं उठाना चाहिये। दूतोंको या सेनाके भृत्योंको नहीं मारना चाहिये। यदि कोई कन्या युद्धमें पकड़ी गई हो, तो विजयी राजा उसे एक वर्ष तक ही अपने पास रख सकता था। यदि वह विवाहके लिये स्वीकृति दे दे तो वह रखी जा सकती थी, अन्यथा लौटा दी जाती थी। एक वीरसे अनेक योद्धाओंका युद्ध करना अन्यायपूर्ण माना जाता था। अधर्मसे युद्ध करके विजय पानेकी निन्दा होती थी। एक वर्ष तक कारागारमें रहनेके पश्चात् युद्ध-भूमिका शत्रु विजयी राजाके पुत्रके समान माना जाता था और मुक्त कर दिया जाता था। शत्रुका धन भी विजयी राजा अपने पास नहीं रख सकता था। उसे भी एक वर्षके पश्चात् लौटा देनेका नियम था। युद्धके समय यदि कोई सन्धि कराने वाला ब्राह्मण बीचमें आ जाता तो युद्धको बन्द कर देना ही उचित माना जाता था। राजाका कर्तव्य होता था कि पराजित शत्रुकी प्रजाको भी सन्तुष्ट और सुखी रखनेके उपाय करे।

महाभारत-कालमें क्षत्रियोंको युद्ध करनेका चाव था। क्षत्रियोंके लिये धर्मयुद्ध सबसे अधिक श्रेयस्कर कर्म समझा जाता था। युद्ध करते समय मर जाने वाला क्षत्रिय वीर स्वर्गमें पहुँचता है, ऐसी लोक-धारणा थी। कभी-कभी तो क्षत्रिय युद्धमें भाग लेनेके स्वर्ण-अवसरकी प्रतीक्षा करते थे। युद्ध-भूमिमें अद्भुत कौशल दिखाने वाले वीरोंको दूने वेतन, अच्छे भोजन और पान, पदवृद्धि और राजाके समान आसन पानेका प्रलोभन रहता था। घरके भीतर मरने वाले क्षत्रियोंकी निन्दा होती थी। युद्ध-भूमिसे भागने वाले डरपोक क्षत्रिय प्रायः मार्गमें ही मार डाले जाते थे।

महाभारतके समय प्रत्येक राजाके अधिकारमें एक बड़ी सेना स्थायी रूपसे रहती थी, जिसका व्यय राजकोषसे दिया जाता था। सेनाके चार विभाग—पैदल, घुड़सवार, रथी और हाथी-सवार थे। सेनाको ठीक समय पर अन्न और धनके रूपमें वेतन दिया जाता था। प्रत्येक सेना कई भागोंमें बँटी रहती थी और प्रत्येक भागके अलग-अलग अधिपति होते थे। दस, सौ और हजार सैनिकोंका

एक अधिकारी होता था। राजा सेनाके प्रमुख अधिकारियोंका बहुत आदर करता था। सारी सेनाका एक सेनापति होता था जो शीत और उष्णताको सहने वाला, सेनाका संघटन करनेमें निपुण और संहारक यंत्रोंके निर्माण करनेमें कुशल होता था। सेनाके उपर्युक्त चार अंगोंके अतिरिक्त उसकी सहायता करनेके लिये विष्टि (बोझ ढोने वाले), नाव, गुप्तचर और देशिक (मार्ग-प्रदर्शक) होते थे।

पैदल सेना प्रायः तलवारसे युद्ध करती थी। तलवारके अतिरिक्त प्रास, परशु, भिन्दिपाल, तोमर, ऋष्टि और शूल आदि शस्त्रोंका प्रयोग युद्ध-भूमिमें होता था। पैदल योद्धा प्रायः गदाका व्यवहार नही करते थे। इसका उपयोग हाथी पर लड़ने वाले बड़े-बड़े वीर ही करते थे। अश्वारोहियोंके प्रधान अस्त्र तलवार और भाले थे। सभी योद्धा कवच पहिनते थे। प्रायः कवच लाल और पीले रंगके होते थे। पंजाब और सिंधके लोग प्रास-युद्धमें निपुण थे। उशीनर जाति किसी भी अस्त्र-शस्त्रका प्रयोग कुशलता पूर्वक करती थी। पूर्वी लोग प्रायः हाथियोंकी सहायतासे युद्ध करते थे। मथुराके निकटवर्ती लोग नंगे अस्त्र-शस्त्रसे लड़ते थे। दक्षिण भारतके निवासी तलवारके युद्धमें विशेष चतुर थे।

वैदिक कालसे ही भारतीय युद्धमें हाथियोंका स्थान महत्त्वपूर्ण रहा है। इनके आकार-प्रकार और शक्तिसे ही लोगोंके मनमें भयका संचार होता था। महाभारत-कालमें हाथियोंको महावतकी आज्ञाओं पर चलने और शत्रु पर आक्रमण करनेकी शिक्षा दी जाती थी। हाथीके सिर और सूँड़की रक्षा करनेके लिये उन्हें कवच पहिनाये जाते थे। सैनिकोंको भी हाथियोंसे लड़नेकी शिक्षा दी जाती थी। विना किसी शस्त्रकी सहायताके ही सैनिक हाथियोंसे भिड़ जाते थे और उनको व्याकुल करके युद्ध-भूमिसे भगा देते थे। हाथियोंकी पीठ पर सैनिक और महावत बैठते थे। सैनिक अपने पैने तीरोंसे दूरसे ही शत्रुओंको मारते थे।

रथी सैनिक प्रायः धनुष और बाणसे लड़ते थे। धनुष लगभग छः फीट लम्बे होते थे और बाण लगभग पाँच फीट लम्बे होते थे। बाणोंसे लोहेके मोटे पत्तर छेदे जा सकते थे। धनुष और बाणका सफल प्रयोग करनेके लिये योद्धा सतत अभ्यास करते थे। रथ पर युद्धके लिये पर्याप्त सामग्री रखी जाती थी, जो युद्ध-भूमिमें अभीष्ट स्थान पर शीघ्र पहुँचाई जा सकती थी। कभी-कभी योद्धाओंके पीछे सात या आठ रथ युद्धके लिये आवश्यक अस्त्र-शस्त्र लेकर चलते थे। युद्धमें कभी-कभी दिव्य अस्त्रोंका भी प्रयोग होता था, जिनके द्वारा अग्नि, वर्षा, वायु, अन्धकार इत्यादि उत्पन्न करके शत्रुओंको पराजित किया जाता था।

रथमें चार पहिये होते थे और इसको खींचनेके लिये प्रायः चार घोड़े जोते जाते थे। वीर सैनिक उत्साह-पूर्वक रथ और घोड़ोंको सजाते थे। रथका ऊपरी भाग गोलाकार शिखर होता था और इसके ऊपर विभिन्न योद्धाओंकी अपनी-अपनी ध्वजायें लहराती थीं। प्रत्येक रथमें एक ढोल होता था, जिसको युद्धके समय पीटा जाता था। रथोंमें मृदंग भी लगाये जाते थे जो यंत्रकी सहायतासे आप ही आप बजते रहते थे। रथ को सारथि हाँकता था। सारथिके अतिरिक्त रथके पहियोंकी देख-भाल करनेके लिये दो चक्ररक्ष बैठते थे। रथका धनुर्धर वीर अपने शत्रुओंको उनका नाम लेकर ललकारता था और अपने कुलकी ऐतिहासिक वीरताका उल्लेख करके उनके हृदयमें भयका संचार करता था। दोनों दलोंके वीर एक दूसरेके समीप आकर लड़ते थे और शंखकी उच्च ध्वनिसे शत्रुओंके हृदयको दहला देते थे। वीरोंका उत्साह बढ़ानेके लिये युद्धके पहले सेनापतियोंके व्याख्यान भी होते थे।

महाभारतके समय युद्धकी कला पूर्ण रूपसे विकसित हो चुकी थी। उस समय सेना को विभिन्न प्रकारके व्यूहोंमें खड़ा किया जाता था, जिससे अधिकसे अधिक सफलता पूर्वक शत्रुका सामना किया जा सके। बाणोंको छोड़नेकी कला तो और भी अद्भुत थी। बाण सीधे, टेढ़े-मेढ़े या चक्कर काटते हुए छोड़े जाते थे। एक ही बाणसे शत्रुका सिर काट कर उड़ाया जा सकता था। क्षत्रिय वीरोंके लिये सारा युद्धका काम उत्सवके रूपमें होता था। वे निर्भीक होकर युद्ध-भूमिमें जाते थे और आनन्द और उत्साहसे युद्ध करते थे।

सैन्य-संचालनके लिये पहले मार्गकी भली-भाँति परीक्षा होती थी। फल, मूल और ठंडे जलसे भरपूर मार्ग ही सेनाके चलनेके लिये उत्तम माना जाता था। कुशल सेनापति प्रायः आगे चलते हुए मार्गकी परीक्षा करते थे। सेनाकी सुविधायें धीरे-धीरे बढ़ती गई। जातकोंके अनुसार सेना-पथमें सैकड़ों गाँव बसाये जाते थे, उन गाँवोंमें वस्त्र, अलंकार और भोजनकी सामग्री संचितकी जाती थी और हाथी, घोड़े और गाड़ियाँ इकट्ठी रखी जाती थीं। सेनाके चलते समय गाँवोंमें, जो गाड़ियाँ या पशु बेकार हो जाते थे, छोड़ दिये जाते थे और उनके स्थान पर अन्य पशु और गाड़ियाँ ले ली जाती थीं।

सेनाका परिमाण, अस्त्र-शस्त्र, व्यूह-रचना और युद्ध-कलाकी योजनायें बहुत कुछ महाभारत-कालके समान ही आगे भी मिलती हैं। सिकन्दर और पुरुकी लड़ाईकी रूप-रेखा महाभारतसे मिलती-जुलती है। सिकन्दरके समयमें

मगधके राजाके पास २०,००० घोड़े, २,००,००० पैदल, २,००० रथ और ४,००० हाथियोंकी सेना थी। कई यूनानी लेखकोंके अनुसार यह सेना इससे भी अधिक बड़ी थी। चन्द्रगुप्त मौर्यकी सेनामें ६०,००० पैदल, ३०,००० घुड़सवार, ६००० हाथी और ८००० रथ थे। हाथियों और रथोंके साथ क्रमशः ३६००० और २४००० की सेना थी। इस प्रकार सेनामें कुल ६६०,००० सैनिक थे। मेगस्थनीजने कलिंगके राजाकी सेनाके विषयमें लिखा है कि इसमें ६०,००० पैदल, १,००० घुड़सवार और ७०० हाथी थे। अशोकने लिखा है कि कलिगके युद्धमें १,००,००० लोग मारे गये और १,५०,००० लोगोंको बन्दी बनाया गया।

अर्थशास्त्रके अनुसार राजा पैदल, रथ, घोड़े और हाथीकी सेनायें रखते थे। पैदल सेनाका अध्यक्ष अपनी सेनाकी शक्तिसे पूर्णरूपसे परिचित होता था। वह जानता था कि कैसे प्रदेशमें किस प्रकारका युद्ध करनेमें हमारी सेना सफल हो सकती है। रथ-सेनाका अध्यक्ष रथोंको बनवाता था। उस समयके बड़े रथोंकी ऊँचाई साढ़े सात फीट, और चौड़ाई ६ फीट होती थी। इससे छोटे भी रथ बनाये जाते थे। अध्यक्ष सेनाकी बाण-विद्या, गदा, दंड, कवच-धारण, रथ-वाहन इत्यादिके अभ्यासका भी निरीक्षण करता था। घोड़ोंका अध्यक्ष उनकी लड़ाईके योग्य शिक्षाका प्रबंध करता था। घोड़ोंको विविध प्रकारकी दौड़का अभ्यास कराया जाता था और संकेतके अनुसार व्यवहार करनेकी शिक्षा दी जाती थी। हाथियोंको उपस्थान (ड्रिल), संवर्त्तन (मुड़ना), संयान (आगे बढ़ना), वधावध (कुचल कर मार डालना), हस्तियुद्ध (हाथियोंसे लड़ना), नागरायण (नगरोंपर चढ़ाई करना) और युद्ध करना सिखाया जाता था। प्रधान सेनापति चारों प्रकारकी सेनाओंकी परिस्थितिसे परिचित रहता था। वह अपनी सेनाके योग्य भूमि, अवसर और शत्रुकी शक्तिसे अभिज्ञ होता था तथा शत्रुकी सेनामें फूट डालने, अपनी तितर-बितर सेनाको एकत्र करने, शत्रुकी सेनाको तितर-बितर करने, दुर्गो पर आक्रमण करने और प्रयाण करनेमें निपुण होता था। वह अपनी सेनामें सदैव उचित अनुशासनकी व्यवस्था करता था। सेना कई भागोंमें बँटी होती थी और प्रत्येक भागके परिचयके लिये अलग-अलग ध्वजायें, ढोल, शंख और तूर्य होते थे। महाभारत-कालके समान कौटिल्यके समय भी सेनाके लिये चिकित्सक शस्त्रों और औषधियोंके साथ उपस्थित रहते थे। युद्ध-भूमिमें घायल वीरोंकी देख-भाल करते थे।

कौटिल्यके अर्थशास्त्रके अनुसार सेनाके प्रयाण करनेके पहले मार्गके गाँवों और वनोंकी सूची बनाई जाती थी, जिससे यह ज्ञात हो सके कि कहाँ पर कितनी घास, लकड़ी, पानी इत्यादि मिल सकते हैं। सेनाके उपयोगकी सामग्री आवश्यकतासे दूनी रखी जाती थी। आगे-आगे सेना-नायक चलता था और केन्द्रमें अन्तःपुरके लोग होते थे। बगलमें घुड़सवार और पैदल सेना चलती थी। चारों ओर हाथियोंकी सेना होती थी। नदियाँ नाव, पुल और हाथियोंकी सहायतासे पार की जाती थीं। सेनाको प्रयाण करते समय विभिन्न प्रकारकी कठिनाइयोंसे सुरक्षित रखा जाता था। युद्ध प्रारंभ होनेके पहिले धार्मिक राजा अपनी सेनाको बुला कर सारी परिस्थितिका परिचय देते हुए कहते थे, "मैं आप ही लोगोंकी भाँति वेतनभोगी सेवक हूँ। आप लोगोंके साथ ही हमें अपने राज्यको भोगना है। आप लोगोंको शत्रु पर प्रहार करना है।" इसी प्रकार मंत्री और पुरोहित भी शास्त्रोंके आधार पर वीरताकी प्रशंसा करते हुए सैनिकोंको उत्साहित करते थे। स्त्रियाँ भोजन और पेय लिये हुए सैनिकोंके पीछे खड़ी रहती थीं और उनका उत्साह बढ़ानेके लिये उत्तेजक बातें कहती थी।

कौटिल्यने सेनाके उपयोगके लिये नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंका उल्लेख किया है। 'सर्वतोभद्र' एक प्रकारकी गाड़ी होती थी जो शीघ्रतासे चक्कर कर सकती थी और चक्कर करते समय चारों ओर कंकड़-पत्थर फेंकती थी। 'जामदग्न्य' या महाशर यंत्रसे बाण फेंके जाते थे। 'बहुमुख' या 'अट्टालक' दुर्गकी चोटी पर होता था जहाँसे चारों ओर तीर फेंके जाते थे। विश्वासघाती एक लट्ठा होता था जो दुर्ग-द्वारसे होकर खाईके आरपार जाता था। जब शत्रु इससे होकर खाई पार करते थे तो गिर कर मर जाते थे। 'संघाती'के द्वारा दुर्गमें आग लगाई जाती थी। 'परजन्यक'से आग बुझाई जाती थी। 'अर्द्धबाहु' दो स्तंभ होते थे जो शत्रुओं के निकट आनेपर गिरा दिये जाते थे और इस प्रकार शत्रुओंकी मृत्यु होती थी। इनके अतिरिक्त अन्य अस्त्र-शस्त्रों और संहारक उपायोंका वर्णन कौटिल्यने अर्थशास्त्रमें दिया है। महाभारत-कालके शक्ति, प्रास, भिन्दिपाल, शूल इत्यादि कौटिल्यके समयमें भी प्रचलित थे। कौटिल्यके समय युद्ध-कला महाभारत-कालकी युद्ध कलाके समान ही विकसित रूपमें पाई जाती है। इस समय अस्त्र-शस्त्रोंकी रचनाकी विशेष प्रगति हुई।

हर्षके सिंहासन पर बैठते समय उसकी सेनामें ५,००० हाथी, २०,००० घुड़सवार और ५०,००० पैदल थे। ह्वेनसांगकी यात्राके समय तक घुड़सवारोंकी

संख्या १,००,००० और हाथियोंकी ६०,००० तक पहुँच चुकी थी। हर्षचरितसे ज्ञात होता है कि ऊँटोंकी भी एक सेना हर्षके पास थी। भारतवर्षके अन्य राजाओंके पास भी उस समय ऐसी ही सेनायें थीं। सेनाके लिये घोड़े सिंध, अफगानिस्तान और फारससे मंगाये जाते थे। उस समय सैनिकोंको पुलिसके काम भी करने पड़ते थे।

भारतवर्ष बहुत प्राचीन कालसे वीर सैनिकोंका देश रहा है। इस देशमें युद्ध करना केवल आत्म-रक्षा या विजयके लिये ही नहीं रहा है वरं इसके द्वारा वीरोंका मनोरंजन भी होता था। बहुतसे युद्ध तो उत्सवके रूपमें ही लड़े जाते थे। भारतीय वीरोंका यश बहुत प्राचीन कालसे ही विदेशोंमें फैला हुआ था। सैल्यूकसने भारतवर्षसे ५०० हाथी लेकर एशिया माइनरके राजा अन्तिगोनस-को पराजित किया था। महमूद गजनवीने भारतीय वीरोंकी एक सेना बनाई थी, जिसका अधिपति तिलक नामका एक भारतीय था। कभी-कभी राजा सारी प्रजाको युद्धके लिये आवश्यक शिक्षा देता था। युद्ध-भूमिमें स्त्रियाँ भी जाती थीं और वीर पुरुषोंको युद्धके लिये उत्साहित करती थीं। राजा प्रायः युद्ध-भूमिमें सारी सेनाका नेतृत्व करता था।

न्यायकी व्यवस्था

ऋग्वैदिक कालमें सभा या समितियोंके अतिरिक्त संभवतः राजा भी न्याय-का काम करता था। उस समय विश्वासघात या राजद्रोहके लिये मृत्यु-दंड दिया जाता था। विभिन्न अपराधोंके लिये अलग-अलग दंड निर्धारित किये गये थे। आगे चल कर धीरे-धीरे राजाके हाथमें न्यायकी व्यवस्था आती गई। छान्दोग्य-उपनिषद्के अनुसार अग्नि-परीक्षा इत्यादि उपायोंसे अपराधीके निर्दोष होनेके निर्णयका उल्लेख मिलता है। इस उपनिषद्के अनुसार वध, चोरी, मद्यपान इत्यादि घोर अपराध माने जाते थे।

गौतमके सूत्रोंसे ज्ञात होता है कि राजा स्वयं न्यायकी व्यवस्था करता था। प्रायः न्यायके नियम शास्त्रीय विधानोंके अनुसार नियत किये जाते थे, किन्तु देशिक, स्थानीय, जातीय और वंश-परंपरागत नियम, यदि शास्त्रकी दृष्टिसे प्रतिकूल नहीं पड़ते थे, तो वे भी न्यायालयोंमें माने जाते थे। किसान, व्यापारी, पशुपालक, ऋण-दाता और शिल्पी भी अपने-अपने वर्गोंके लिये न्यायके नियम बना सकते थे। इनके अभियोगोंका न्याय करते समय, राजा, वर्गके प्रतिनिधिकी सम्मति

लेकर ही, अपना मत नियत करता था। गौतमके समयमें न्यायके क्षेत्रमें गाँव स्वतंत्र प्रतीत होते हैं। गाँवकी जनताको अपने अभियोगोंके निपटारेके लिये बहुत कम अवसरों पर ही राजकीय न्यायालयोंकी शरण लेनी पड़ती थी। न्याया-लयमें साक्षी भी बुलाये जाते थे। साक्षियोंकी प्रामाणिकता निश्चित करनेके लिये भी नियम बने हुए थे। बौधायनके अनुसार न्यायके नियमोंके लिये वेद, स्मृति और शिष्ट पुरुषोंके आदर्श माने जाते थे। यदि इन आधारोंसे किसी अभि-योगका निपटारा करनेके लिये नियम नहीं मिलते थे, तो दस पुरुषोंकी एक सभा बैठाई जाती थी, जिसमें विभिन्न शास्त्रोंके आचार्य सम्मिलित होते थे। यदि ऐसी सभा नहीं बन पाती थी तो पाँच, तीन या केवल एक निर्दोष और विद्वान् पुरुषको उस अभियोगके लिये व्यवस्था देनेका अधिकार दिया जाता था। उप-र्युक्त प्रणालीसे ज्ञात होता है कि इस समय न्यायकी व्यवस्थापिका सभाओंका जन्म हुआ।

महाभारत-कालमें राजा प्रतिदिन न्याय-सभामें बैठकर अभियोगोंकी सुनवाई करता था। न्याय-सभामें चार विद्वान्, गृहस्थ और सच्चरित्र ब्राह्मण, आठ वीर क्षत्रिय, इक्कीस धनी वैश्य, तीन विनयी और पवित्र शूद्र और एक गुण-वान् पौराणिक बैठते थे। इनके अतिरिक्त आठ मंत्री भी राजाकी सहायता करते थे। भीष्मने युधिष्ठिरको न्याय करनेकी शिक्षा देते हुए कहा है, "कभी घूस लेकर अनुचित न्याय न करो, नहीं तो प्रजा तुम्हें छोड़ देगी। राजाको दीन-दुःखियोंका ही पक्ष लेना चाहिये, उनके विरोधी धनियोंका नहीं। यदि प्रत्यर्थी अपराध नहीं सकारता, तो साक्षियोंकी सहायतासे न्याय करना चाहिये। अप-राधके अनुकूल दंड देना चाहिये। धनियोंको अर्थदंड, दीन-दुःखियोंको कारा-गार और दुराचार करने वालोंको बेंत लगानेका दंड देना चाहिये। राजद्रोही, आग लगानेवाले और जाति दूषित करने वालेको मृत्यु दंड देना चाहिये। मन-माने दंड देकर प्रजाको दुःखी नहीं करना चाहिये। सदा इस बातका ध्यान रखना चाहिये कि अपराधीके बदले किसी अन्य व्यक्तिको दंड न भोगना पड़े।"

महाभारत-कालमें बहुत कम अभियोग राजाके सामने तक आ पाते थे। प्रायः लोग आपसमें ही न्याय कर लेते थे। न्यायका काम सरल था। प्रायः न्याय-सभाके सदस्योंको अभियोग संबंधी वास्तविकताका ज्ञान रहता था और राजा उनकी बात मान लेता था। चोरीको सबसे बड़ा अपराध माना जाता था। चोरोंको मृत्यु-दंड दिया जाता था या उनका दाहिना हाथ काट दिया जाता था।

कभी-कभी अपराधी स्वयं राजाके सामने जाकर अपनी चोरी या अन्य अपराध कह देते थे और उचित दंडके लिये प्रार्थना करते थे। साक्षी प्रायः सच बोलते थे। न्याय-सभाके लोग आपसमें तर्क करके अभियोगकी परीक्षा कर लेते थे। वकीलोंकी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। जातकोंमें भी इसी प्रकारकी न्याय-व्यवस्था मिलती है। राजा अकेले या मंत्रियोंकी सहायतासे न्याय करता था। अनुचित न्याय करने वालोंको राजा घोर दंड देता था। प्रजाको किसी प्रकार दुःख देने वाले व्यक्तिको कठोर दंड दिया जाता था। डाकुओंको अंग-विच्छेद या मृत्युका दंड दिया जाता था। कभी-कभी अपराधियोंको हाथीसे कुचलवा दिया जाता था या उनके हाथ पैर काट कर उन्हें नदीमें फेंक दिया जाता था।

मौर्यकालमें दंडकी व्यवस्था पूर्ववत् कठोर रही। अपराधको न स्वीकार करनेवाले लोगोंकी जल-परीक्षा होती थी। मेगस्थनीजने लिखा है कि राजा स्वयं न्यायालयमें आकर न्यायका काम दिन भर बैठ कर करता है। वह बीचमें न्यायका काम छोड़ कर उठता नहीं। अशोकने न्याय करनेके लिये राजुकोंको नियुक्त किया था और उनको आदेश दिया था कि न्यायके विषयमें किसी प्रकारका पक्षपात न हो। अशोकने राजुकोंको समझाया है कि प्रायः न्यायाधीश ईर्ष्या, क्रोध, शीघ्रता, आलस्य और थकावट इत्यादिके कारण उचित न्याय नहीं कर पाते हैं। तुम लोगोंको इन मनोविकारोंके ऊपर विजय पाना चाहिये। प्रत्येक राजुकको वर्षमें तीन बार राजाका यह आदेश ध्यानपूर्वक पढ़ना पड़ता था। अशोकने न्यायालयोंकी देख-भाल करनेके लिये महामात्रोंको नियुक्त किया था। अधिकसे अधिक पाँच वर्षोंमें एक बार इन न्यायालयोंका निरीक्षण होता था। अशोककी राजधानीसे प्रति पाँचवें वर्ष, उज्जयिनी और तक्षशिलासे प्रति तीसरे वर्ष, न्यायालयोंके निरीक्षक भेजे जाते थे। अशोकने नियम बनाया कि जिन लोगोंको मृत्यु-दंड दिया गया हो उनको तीन दिनका विश्राम दिया जाय। इस बीच अभियोगीके संबंधी राजुकसे कह सुन कर उसे छुड़ा सकते थे या उपवास आदि व्रतोंके द्वारा अपराधी अपनी शुद्धि कर सकते थे। अशोकने न्यायके विषयमें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं दिखाई।

भारतवर्षकी ही भाँति लंकामें भी न्यायालयोंकी कमी थी। प्लीनीने लिखा है, कि प्रजा तीस आदमियोंकी एक सभा चुनती थी जो राजाके मंत्री होते थे। यही सभा न्यायका काम करती थी। अधिकांश लोगोंका मत होने पर फाँसीका दंड दिया जाता था। दंड पाये हुए व्यक्तिको पुनर्विचारके लिये प्रार्थना करनेका

अधिकार था। इसके लिये प्रजा सत्तर प्रतिनिधियोंको चुनती थी। यदि उनका मत तीस मंत्रियोंके मतसे भिन्न होता था, तो उन मंत्रियोंको अपना पद त्याग देना पड़ता था। यदि राजा अपराध करता, तो प्रजा उसका बहिष्कार कर देती थी।

मनुस्मृतिके अनुसार अठारह प्रकारके अभियोग हो सकते थे—ऋण, धरोहर, दूसरेकी वस्तु बेंच देना, साझा, दान, वेतनका न देना, प्रतिज्ञाको पूरी न करना, क्रय-विक्रयको उलट देना, भृत्य और उसके स्वामीके झगड़े, सीमा, प्रहार, आक्षेप, चोरी, डाका और हिंसा, परस्त्री-गमन, पति-पत्नीके कर्तव्य, विभाजन और द्यूत। इनमेंसे प्रत्येक प्रकारके अभियोगोंकी व्याख्या करके मनुने दंड निर्धारित किये हैं। मनुने लिखा है कि साक्षियोंकी बात गाँवके निवासियोंकी भीड़के सामने सुनानी चाहिये। यदि साक्षी न मिलें तो आस-पासके चार गाँवोंके लोगोंको उस अभियोगका न्याय करनेके लिये नियुक्त कर देना चाहिये। मनुके समयमें भी राजा न्याय-सभाका सभापति होता था। उसकी सहायता करनेके लिये विद्वान् ब्राह्मण और नीतिनिपुण मंत्री भी साथ ही बैठते थे। राजाकी अनुपस्थितिमें कोई विद्वान् ब्राह्मण न्याय-सभाका सभापति होता था और तीन मंत्रियोंकी सहायतासे न्याय करता था। साक्षीकी प्रामाणिकताकी परीक्षा करनेके लिये मनुने नियम बनाये है। केवल निष्पक्ष और साधु प्रकृतिके लोग ही साक्षी बन सकते थे। साक्षियोंका पद ऊँचा माना जाता था और न्यायके निर्णयमें उनका मत लिया जाता था। उनमेंसे अधिक लोगोंकी बात ठीक मानी जाती थी। राजा स्वयं उनको ईश्वर और स्वर्गकी शपथ देकर सत्य बोलनेके लिये उत्साहित करता था। साक्षियोंके कथनके अतिरिक्त उनकी ध्वनि, रंग, गति, रूप, नेत्र और संकेतोंके अध्ययनसे भी वास्तविकताका निश्चय किया जाता था। कभी-कभी अग्नि और जल परीक्षाके द्वारा भी अपराधका निर्णय किया जाता था।

कौटिल्यके समयमें भी राजा ही न्यायका सर्वोच्च अधिकारी रहा। उसने लिखा है कि ८००, ४०० और २०० गाँवोंके बीच एक-एक न्यायालय होना चाहिये। कौटिल्यके अनुसार धर्मस्थीय और कंटकशोधन दो प्रकारके न्यायालय थे, जिनमें क्रमशः धनसंबंधी और हिंसा-संबंधी अभियोगोंके निर्णय होते थे। तीन न्यायाधीश एक साथ बैठकर अभियोगोंकी जाँच करते थे। कौटिल्यकी न्याय-व्यवस्था बहुत कठोर थी। लोगोंको शारीरिक दंड प्रायः दिये जाते थे। न्यायकी सारी प्रक्रियाको लेखक पूर्ण विवरण देकर लिखा करते थे। साक्षियोंकी योग्यता

और अयोग्यता, उनकी यात्रा और भोजनके व्यय, पूछे गये प्रश्नोंके उत्तर-प्रत्युत्तर और उसके असत्यवादी सिद्ध होनें पर जो दंड दिया जाता था, इन सब बातोंका पूरा विवरण रखा जाता था। जो लेखक अपने कर्तव्यका पालन नहीं करते थे, अथवा किसीका पक्ष लेते थे, उनको भी दंड देनेकी व्यवस्था थी। जो न्याया-धीश गाली देते थे, या किसी प्रकारका दुर्व्यवहार करते थे, अथवा घूस लेते थे, उनको दंड दिया जाता था। कभी-कभी अपराध स्वीकार करनेके लिये लोगोंको सताया जाता था। सत्यका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये गुप्तचरोंकी पूरी सहायता ली जाती थी।

गुप्तकालके न्याय-प्रबंधके विषयमें फाह्यानने लिखा है, "हिंसा-संबंधी न्यायके नियम कठोर नहीं हैं। प्रायः आर्थिक दंड दिये जाते हैं। विद्रोह और चोरी करने पर अंग-विच्छेदका दंड दिया जाता है। मृत्युका दंड प्रायः नहीं दिया जाता है।" गुप्तकालमें न्यायके ऊँचे अधिकारियोंके नाम दंडनायक, महादंडनायक, सर्वदंडनायक, महासर्वदंडनायक, दंडाधिप, दंडनाथ, दंडाभिनाथ, दंडाधिपति, दंडेश और दंडेश्वर मिलते हैं। संभवतः इनमेंसे पहिले चार सर्वोच्च अधिकारी होते थे। इस समयकी न्याय-व्यवस्थाका विवरण शूद्रकके मृच्छकटिक नाटकमें भी मिलता है। इस नाटकके अनुसार राजाकी ओरसे एक उच्च अधिकारी अभियोगोंका प्रतिपादन करता था। केवल एक सेठ न्यायालयमें न्यायाधीशके साथ बैठता था और एक लेखक अर्थी और प्रत्यर्थीके कथनको लिखता जाता था। साक्षियोंके कथन पर विवाद होता था और उनसे अनेक प्रश्न पूछे जाते थे। अन्तिम निर्णय न्यायाधीशका होता था। न्यायाधीशने अपने पदकी कठि-नाइयोंका वर्णन करते हुए कहा है कि न्याय-सभामें आकर अच्छे आदमी भी झूठ बोलने लगते हैं और अपने अपराधोंको छिपाते हैं। न्यायालयमें अर्थी और प्रत्यर्थी एक दूसरेसे प्रश्न पूछते थे और अधिकारी इन दोनोंसे प्रश्न पूछते थे। आग, जल, विष और तराजूसे परीक्षा करके भी अपराधका निर्णय किया जाता था। अपराध सिद्ध होने पर अभियुक्तको बन्दी बना लिया जाता था। अन्तिम निर्णय राजाका होता था। अभियुक्तकी दुर्दशा होती थी। उसके पीछे ढोल पीटा जाता था और वह नगरकी सड़कोंसे होता हुआ फाँसी देनेके लिये श्मशान-भूमि तक लाया जाता था।

बृहस्पतिने अपने समयके न्याय-प्रबंधका पूरा वर्णन किया है। न्यायालय प्रातःकालसे लेकर दोपहर तक, छुट्टियोंको छोड़कर प्रतिदिन, खुलते थे। उस

समय चार प्रकारके न्यायालय थे—स्थायी, भ्रमणशील, प्रधान न्यायाधीशकी सभा और राजाका न्यायालय। राजा न्यायालयमें तीन अन्य अधिकारियोंके साथ बैठता था। किसान, शिल्पी, व्यापारिक संघ, कलाकार, ऋण-दाता, नर्तक, भिक्षु और डाकू भी अपने-अपने वर्गोंके योग्य न्यायके नियम बना लेते थे और आपसमें ही न्याय कर लेते थे। कुछ कुटुम्ब, व्यावसायिक संघ और स्थानीय सभायें भी इस प्रकार न्यायके नियम बनाकर न्याय कर सकती थीं। बृहस्पतिने पुनर्विचारकी योजना भी बनाई है जिसके अनुसार कुटुम्बसे संघ, संघसे सभा और सभासे राजकीय न्यायाधिकारियोंके सामने पुनर्विचार हो सकता था। न्यायके नियम राजाकी आज्ञा, शास्त्र-पुराण और आचार-व्यवहारकी दृष्टिसे, नियत किये जाते थे। देश, जाति और कुटुम्बोंकी प्रथाका ध्यान न्याय करते समय रखा जाता था। बृहस्पतिने लिखा है कि केवल शास्त्रोंके विधानोंका शब्दशः पालन करते हुए ही दंड नहीं देना चाहिये, अपितु अभियोगकी परिस्थितियोंका अध्ययन करना चाहिये। भ्रमणशील न्यायालयोंकी व्यवस्था देते हुए बृहस्पतिने लिखा है कि वनमें भ्रमण करनेवाले लोगोंके लिये वनमें न्याय होना चाहिये, सैनिकोंका न्याय उनके शिविरमें होना चाहिये और व्यापारियोंका न्याय उनके व्यापारिक मंडलोंमें होना चाहिये।

यदि किसी अभियोगमें साक्षी नहीं मिलते थे, अथवा अन्य लेखोंके आधार पर न्याय नहीं हो सकता था, तो बृहस्पतिके अनुसार नव प्रकारकी परीक्षाओंसे अपराधीका दोष निर्णय किया जाता था। तुला परीक्षामें अभियुक्तको दो बार तौला जाता था। यदि दोनों बार उसका तोल बराबर होता तो वह निर्दोष माना जाता था और यदि दूसरी बार तोल बढ़ जाता तो उसको अपराधी माना जाता था। लोगोंकी धारणा थी कि दूसरी बार पापका बोझ बढ़ जाता है। यदि कहीं तुला टूट जाती तो भी अपराध सिद्ध माना जाता था। जल-परीक्षामें अभियुक्त पानीमें डुबा दिया जाता था और उसे तीन बाणोंसे मारा जाता था। विष-परीक्षामें उसको विष खाना पड़ता था। इसी प्रकार उष्ण तेल या घीसे सोनेका टुकड़ा निकालना, तपता हुआ लोहेका टुकड़ा जीभसे चाटना इत्यादि अन्य परीक्षायें भी होती थीं। स्त्रियोंकी परीक्षायें कुछ सरल होती थीं। प्राचीन कालमें लोगोंका विश्वास था कि ऐसी परीक्षाओंमें दैवी विधानके द्वारा अलौकिक रूपसे अपराधीका निर्णय हो जाता है। इसी प्रकारकी परीक्षायें आगे चल कर हर्षके शासनकालमें भी मिलती हैं जिनका वर्णन ह्वेनसांगके लेखोंमें मिलता है।

ह्वेनसांगने लिखा है कि न्यायमें दंडकी व्यवस्था कठोर थी। अपराधियों-को किसी प्रकारकी दया नहीं दिखाई जाती थी। कारागारका जीवन दुःखपूर्ण था। कभी-कभी उत्सवोंके अवसर पर सभी बन्दी छोड़ दिये जाते थे। एक बार पाँच सौ ब्राह्मणोंने हर्षके विरुद्ध राजद्रोह किया था। हर्षने उनको मृत्यु-दंड न देकर केवल देशसे बाहर निकल जानेका दंड दिया था।

राजकीय आय

ऋग्वेद-कालमें राजा प्रायः धनी लोगोंसे धन लेकर शासन प्रबन्ध करता था। राजाको उपहारके रूपमें भी धन मिलता था। वह प्रजाके सारे धनका स्वामी माना जाता था। शत्रुओंको पराजित करके भी राजा धन-संग्रह करता था। धीरे-धीरे प्रजासे कर लेनेकी व्यवस्था चली। राजा प्रजासे इच्छानुसार धन ले सकता था। संभवतः भूमि-करसे राजाकी मुख्य आय होती थी और इसको संचित करनेके लिये कर्मचारी नियुक्त किये गये थे। कभी-कभी कर इतना अधिक लिया जाता था कि राजाको प्रजाके भक्षककी उपाधि तक शतपथ ब्राह्मणमें मिली है। राजा प्रजासे बलि भी लेता था।

सूत्र-कालमें भूमि-कर उपजका छठा, आठवां या दसवां भाग लिया जाता था। कहीं-कहीं पशुओं और सोने पर पचासवां भाग करके रूपमें लिया जाता था। व्यापारकी वस्तुओं पर बीसवां भाग और फल, मूल, फूल, औषधि, शहद, मांस, घास और ईंधन पर साठवां भाग चुंगीके रूपमें लिया जाता था। शिल्पियों-को एक दिन राजाके लिये बिना वेतन लिये काम करना पड़ता था। बौधायनके अनुसार समुद्रके द्वारा विदेशोंसे मँगाई हुई वस्तुओं पर दश प्रतिशत चुंगी राजाको लेनी चाहिये। व्यापारियोंको किसी प्रकार सताना नहीं चाहिये। उनकी वस्तुओंके वास्तविक मूल्यके अनुसार ही कर लेना चाहिये।

महाभारत-कालमें भूमि-कर उपजका छठा भाग लिया जाता था। व्या-पारिक कर क्रय, विक्रय, लाभ और जीवन-व्ययका विचार रखकर निश्चित किये जाते थे। शिल्पियोंका कर उनकी बनाई हुई वस्तुओंके मूल्य और लागत तथा उनकी समृद्धिके अनुसार नियत होता था। न्याय-विभागसे भी राजाकी अच्छी आय हो जाती थी। आर्थिक दंडसे राजकीय कोषकी वृद्धि होती थी। जिस धनका कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था, वह राजकोषमें चला जाता था। वैश्योंसे सबसे अधिक धन राजाको मिलता था। महाभारतमें वैश्योंकी एक

उपाधि करप्रद भी थी। यदि कुछ लोग मिल कर राजकर देनेका विरोध करते, तो कुटिल नीति अथवा शक्तिसे उनको चट दबा दिया जाता था। राजाके लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी उपहारके रूपमें धन देते थे, जिसको प्रीत्यर्थ धन कहते थे। अर्द्ध सभ्य जातियाँ—वैरम, पारद, तुंग, कितव, जो जंगलोंमें या समुद्र तट पर रहती थीं, राजाके लिये विविध प्रकारके अनेक पशु देती थीं। विशेष परिस्थितिमें राजा अन्य कर लगा कर धन-संग्रह कर लेते थे। युद्ध और यज्ञके समय इस प्रकारके कर प्रायः लगाये जाते थे। दुराचारी और धनी लोगोंका धन ले लेना उन दिनों साधारण सी बात थी।

जातकोंके अनुसार राजाकी ओरसे भूमिकी माप कर दी गई थी और कर नियत किया गया था। कुछ खेतोंके लिये करकी छूट भी हो सकती थी। कर संचय करनेके लिये राजकर्मचारी नियत किये गये थे, जो ग्रामभोजकोंकी सहायतासे कर एकत्र करते थे। इन कर्मचारियोंके नाम बलिपति, गाहक, निगाहक और बलिसाधक मिलते हैं। कभी-कभी इन करोंका संचय करनेमें कर्मचारी बहुत कठोरताका व्यवहार करते थे और लोग घर छोड़ कर वनोंमें भाग जाते थे। जिस धनी मनुष्यका कोई उत्तराधिकारी नहीं होता था उसका धन उसकी मृत्यु के पश्चात् राजकोषमें चला जाता था। जो लोग राजाके पास कोई प्रार्थना लेकर जाते थे, उन्हें भी धन देना पड़ता था। उत्तराधिकारीके जन्मके समय भी लोगोंको राजाके लिये धन देना पड़ता था।

ग्रीक लेखकोंने भूमि-करके अतिरिक्त व्यापारिक करोंका पूरा विवरण दिया है। वस्तुओंके विक्रय-मूल्यका दशमांश राजकोषमें चला जाता था। जो इस करसे बचनेका यत्न करता था, उसे मृत्यु-दंड तक दिया जाता था। दूकानदारोंको किसी वस्तुके बेचनेके लिये राजाकी आज्ञा लेनी पड़ती थी और प्रत्येक प्रकारकी वस्तुको बेचनेके लिये शुल्क देना पड़ता था। राजाको भाँति-भाँतिके उपहार भी मिलते थे। राजाके केश-स्नानके दिन लोग अधिकसे अधिक अच्छी वस्तुओंका उपहार भेजते थे। प्रजाकी ओरसे राजाको हंस, मोर, बतख, मुर्गी, कबूतर, तीतर आदि पक्षियों और चीता, तेंदुआ और वानर आदि पशुओंका उपहार दिया जाता था।

अशोकके समयमें भूमिकरके अतिरिक्त प्रत्येक गाँवके लिये एक और कर भी नियत था। उसके शासन-कालमें चुंगीसे बहुत अधिक आय होती थी। केवल पटनाके चारों द्वारोंसे ४,००,००० कहापणकी आय होती थी और सभासे

१,००,००० कहापणकी आय होती थी। संभवतः यह आय शेष अन्य करोंसे होती होगी।

मनुने भूमि-कर उपजका चौथाई, छठा या आठवां भाग नियत किया है। इसके अतिरिक्त पशु और सोनेके मूल्यका पचासवाँ भाग राजाका होता था। मनुने वृक्ष, मांस, मधु, घी, गंध, औषधि, मसाले, फूल, मूल, फल, पत्र, घास, बेंत, चमड़े, मिट्टीके बर्त्तन और पत्थरकी वस्तुओं पर छठा भाग करके रूपमें नियत किया है। मनुके अनुसार व्यापारिक कर क्रय-विक्रयके भाव, आने-जानेके साधन और वस्तुओंको प्राप्त करनेके व्ययका ध्यान रख कर नियत करना चाहिये। व्यापारिक कर विक्रयकी वस्तुओंके मूल्यका बीसवाँ भाग लिया जा सकता है। जो लोग चुंगीके करसे बचनेका यत्न करते थे, उन्हें करका आठगुना देना पड़ता था। जो वस्तु असावधानीसे गुम हो जाती थी, उसके मिल जाने पर छठा, दसवाँ या कमसे कम बीसवाँ भाग राजाको देना पड़ता था। जो वस्तु गुम हो जाती थी, वह तीन वर्षों तक स्वामीके न मिलने पर राजाकी हो जाती थी। जो धन पृथ्वीसे निकलता था, उसका आधा भाग राजाको दे दिया जाता था। घाटों पर भी कर-संग्रह किया जाता था। रिक्त गाड़ीसे एक पण, बोझ लिये हुए मनुष्यसे आधा पण और बिना बोझके मनुष्यसे पणका आठवाँ भाग लिया जाता था। जिन गाड़ियों पर व्यापारकी वस्तु लदी होती थी, उनसे उस वस्तुके मूल्यके अनुपातसे कर लिया जाता था।

कौटिल्यके समयमें राजा स्वयं कृषि, व्यापार या अन्य उत्पादनके कामोंको राजकीय कोष भरनेके लिये करवाता था। सामन्तोंसे भी उसे बहुत अधिक धन मिलता था। भूमि-कर उपजका छठा भाग था। सिंचाईके लिये अलगसे कर लिया जाता था। इनके अतिरिक्त मधु-शाला, द्यूतशाला और वेश्याओं पर भी कर लगाये गये थे। न्याय-विभागसे आर्थिक दंड द्वारा आय होती थी। सिक्कोंके बेचनेमें क्रय-विक्रय करने वालोंको पाँच-पाँच प्रतिशत राजाको देने पड़ते थे। इस आयके लिये रूपदर्शक नामक विभाग बनाया गया था। इन करोंके अतिरिक्त विभिन्न उपायोंसे प्रजाका धन लेनेके उपाय कौटिल्यने बताये हैं।

गुप्त-कालमें भूमि-करकी व्यवस्था अच्छे प्रकार की गई थी। भूमिको नापने वाले, सीमा नियत करने वाले और कर इकट्ठा करने वाले कर्मचारी राजाकी ओरसे नियत थे। कई प्रकारके भूमि-कर किसानोंको देने पड़ते थे, जिनके नाम उद्रङ्ग और उपरिकर इत्यादि मिलते हैं। इस समय घासके मैदान, चमड़े,

कोयले, खान, मदिरा, गुप्तकोष, संचित धन, दूध, फूल और पशुओं पर भी राज-कर लगता था। इसी प्रकार धान्य (अन्न) और हिरण्य (सोना) भी राजकीय आयकी वस्तुयें थीं। वात और भूत नामक कर भी लिये जाते थे, जिनके संबंधमें कुछ भी निश्चय-पूर्वक नहीं कहा जा सकता। इन करोंके अतिरिक्त सेना और पुलिसके रखनेका व्यय भी प्रजाको करके रूपमें देना पड़ता था। अपराधियोंके आर्थिक दंडसे भी राजाकी आय होती थी। अधीन राजा सम्राटोंको उपहार रूपमें धन देते थे। समुद्रगुप्तको सामन्तोंसे कई प्रकारके कर भी मिलते थे।

हर्षके शासन कालमें भी उपर्युक्त करोंसे राजाकी आय होती रही। राजासे जो कोई मिलने आता था, वह कुछ न कुछ उपहार लाता था। गाँवके लोग भी राजाको उपहार देते थे, जब कभी वह गाँवोंसे होकर निकलता था। कभी-कभी राजकर इकट्ठा करने वालोंसे प्रजाको कष्ट होता था और जनताको उनके विरुद्ध निवेदन करना पड़ता था। साधारणतः कर बहुत अधिक नहीं लिया जाता था जैसा कि ह्वेनसांगने अपने लेखोंमें बताया है।

नवम अध्याय

दर्शन

बौद्धिक विकासके साथ ही साथ मनुष्यने अपने चारों ओरकी वस्तुओं और परिस्थितियोंका अध्ययन करना प्रारंभ किया। हम क्या हैं, हमारे जीवनका लक्ष्य क्या है, सृष्टि क्या है, इसका कौन रचयिता है—इत्यादि प्रश्नों पर बहुत प्राचीन कालसे लोग विचार करते आये हैं। इस प्रकारकी समस्याओं पर विचार करनेकी शैलीके आधार अनुभव, कल्पना और तर्क रहे हैं। विचार करते हुये लोग जिन परिणामों पर पहुँचे है उनको तथा विचार करने की प्रणालीको 'दर्शन' कहते हैं। दर्शनका मौलिक अर्थ देखना है। दर्शनके द्वारा हम किसी वस्तुके तात्त्विक या वास्तविक रूपको देख पाते हैं। प्रत्येक युगके पंडितोंने दार्शनिक चिन्तन करते हुए विविध प्रणालियोंका अवलंबन किया है और वे विविध परिणामों पर पहुँचे हैं। इस प्रकार एक ही दर्शनकी अनेक शाखायें होती आई हैं और विभिन्न दर्शनोंका स्वतंत्र रूपसे विकास भी हुआ है।

भारतवर्ष दार्शनिक चिन्तनके लिये प्राचीन कालसे ही प्रसिद्ध रहा है। विश्वको दार्शनिकताकी ओर प्रगतिशील करनेमें भारतका प्रमुख हाथ रहा है। दर्शनके आधार पर ही संस्कृतिके क्षेत्रमें भारत आज भी अग्रगण्य है। आजसे लगभग ५००० वर्ष पहले सिन्धु-सभ्यताके युगमें जो दार्शनिक विकास हुआ था, उसकी शृंखला किसी न किसी रूपमें भारतीय दर्शनके विकासमें प्रायः दिखाई पड़ती है। उस समय लोगोंने देवी-देवताओंकी कल्पना की थी और संभवतः प्रकृतिको सर्वोच्च देवी मानते थे। उनके आत्मा-परमात्मा विषयक विचारके संबंधमें कुछ भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता। संभवतः उन्होंने शक्तिमान् परमात्माको ही विश्वका रचयिता माना था। वे उसीका ध्यान करनेके लिये संसारकी ओरसे मनन-वृत्ति हटा कर चित्त एकाग्र करते थे जैसा कि एक समाधि लगाये हुए व्यक्तिके मूर्त्ति-खंडसे प्रतीत होता है जो मोहेंजो-दड़ोमें मिली है।

भारतीय दर्शनका क्रमबद्ध इतिहास वैदिक कालसे प्रारंभ होता है। वैदिक

दर्शन ऋग्वेदसे लेकर उपनिषदों तक विकसित हुआ है। भारतके प्रायः सभी दर्शनोंका उदय उपनिषदोंकी दर्शन-परम्पराओंसे हुआ है। वैदिक कालके पश्चात् जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा और उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) दर्शनोंका अभ्युदय प्राचीन भारतमें हुआ।

ऋग्वेद-दर्शन

ऋग्वेदमें सृष्टिकी रचनाका इतिहास इस प्रकार दिया हुआ है—"सृष्टिके पहिले सत् और असत् कुछ भी नहीं था। न तो कहीं मृत्यु ही थी और न अमरता ही। दिन, रात, वायु, आकाश इत्यादि कही कुछ भी नहीं थे। केवल "एक" (ब्रह्म) श्वास लेता था। चारों ओर अन्धकार और जल व्याप्त थे। उस समय ब्रह्म तपके कारण संवर्द्धित हुआ। उसमें काम उत्पन्न हुआ, यही मनुका बीज था। यही सत् और असत्का वन्धन था। उससे किरणें प्रस्फुटित हुई। उसी तपसे ऋत[1] और सत्यकी उत्पत्ति हुई। इसी क्रममें दिन, रात, समुद्र, सूर्य, चन्द्र, स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्षकी उत्पत्ति हुई।" ऋतसे ही विश्वका संचालन होता है। इसीसे सूर्य, चन्द्र, उषा, वायु, दिन-रात, ऋतु, वर्ष, नक्षत्र, जीवन और मरणकी गतिका नियन्त्रण होता है।

सृष्टिकी ऊपर लिखी कथासे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद ऋषियोंको "एक ब्रह्म" की सत्तामें विश्वास था और उसीसे वे चराचर जगत्की उत्पत्ति मानते थे। ऋग्वेदमें सृष्टि करनेकी अवस्थामें ब्रह्म 'हिरण्यगर्भ' कहा जाता है। सृष्टिकी रचना करनेवाले ब्रह्मको 'विश्वकर्मा' कहते हैं। ब्रह्मकी प्रजा उत्पन्न करने और पालन करनेकी विशेषतासे उसे प्रजापति भी कहते हैं। ब्रह्मसे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है। इस रूपमें उसे 'पुरुष' कहते हैं। ऋग्वेदके पुरुषसूक्तमें पुरुषसे सृष्टिकी उत्पत्तिकी मनोरम कथा इस प्रकार दी हुई है—"पुरुषके सहस्र सिर, सहस्र आँखें और सहस्र पाद हैं। वह सारी पृथ्वीको चारों ओरसे ढक लेनेपर भी दस अंगुल बड़ा है। जो कुछ हुआ है या होगा वह सब पुरुष ही है। वह अमरता-का स्वामी है। उसके चौथाई भागमें सारा चराचर विश्व आ जाता है और तीन चौथाईमें स्वर्गकी सब कुछ अमर वस्तुयें हैं। देवताओंने एक बार पुरुषको हवन सामग्री बनाकर यज्ञ किया। उस यज्ञमें वसन्त आज्य (घीका द्रव रूप) हुआ,

---

[1] नियम या विधान

ग्रीष्मका समिधाकी भाँति उपयोग हुआ और शरत् हवि बना। उस यज्ञमें जो आज्य बहा, उससे वायु, वन और ग्राम्य पशु उत्पन्न हुए। उस यज्ञसे ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और छन्द उत्पन्न हुए। पुरुषके मुँहसे ब्राह्मण, बाहुसे क्षत्रिय, ऊरु प्रदेशसे वैश्य और पदसे शूद्र उत्पन्न हुए। पुरुषके मनसे चन्द्र, आँखसे सूर्य, मुखसे इन्द्र, अग्नि तथा श्वाससे वायु, नाभिसे अन्तरिक्ष, सिरसे द्यौः, पदोंसे भूमि, और कानसे दिशायें उत्पन्न हुईं।" इस कथासे 'पुरुष'की सर्वमयताकी प्रतीति होती है जिसकी कल्पना वैदिक आर्योंने की थी।

वैदिक आर्योंने इसी ब्रह्मकी विभूतिसे सारे विश्वको अनुप्राणित पाया। उन्होंने 'सूर्य'को केवल एक चमकनेवाला गोला ही नहीं समझा, अपितु उसमें जीवन, विवेक और मंगलकारिणी शक्तियोंका आरोपण किया। इस रूपमें सूर्यका मानवीकरण हुआ। उसके उपकारसे प्रभावित होकर आर्योंने उसे देवता माना और विश्वास किया कि श्रद्धा और भक्तिपूर्वक प्रार्थना करनेसे 'सूर्यदेव' मानवलोकका अधिक उपकार कर सकते हैं। प्रकृतिकी अन्य कल्याणकारिणी शक्तियाँ—पृथ्वी, अन्तरिक्ष, उषा, आप (जल), अग्नि, मरुत् इत्यादि भी इसी प्रकार देवता माने गये।

उपनिषद्-दर्शन[1]

उपनिषद् कालमें ऋषियोंका ब्रह्मविषयक चिन्तन और अधिक बढ़ा। ब्रह्मका ज्ञान करानेवाली पराविद्या या आत्मविद्याका उस समय बहुत महत्त्व था। लोगोंकी धारणा थी कि जीवनका अन्तिम उद्देश्य जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त होकर ब्रह्ममें मिल जाना है और ब्रह्म-प्राप्तिकी पहिली सीढ़ी ब्रह्मज्ञान ही है। उपनिषदोंमें भी ब्रह्मसे विश्वकी उत्पत्ति बताई गई है। तैत्तिरीय उपनिषद्के अनुसार आत्मा (ब्रह्म) से आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथिवीसे वनस्पतियाँ, वनस्पतियोंसे अन्न और अन्नसे पुरुषकी उत्पत्तिकी कल्पना की गई है। ब्रह्मकी पूर्णता और उसकी सृष्टिकारिणी शक्तिका दिग्दर्शन कराते हुए उपनिषदोंमें प्रायः कहा गया है—

---

[1] उपनिषद्-दर्शनके विशेष विवरणके लिये 'भाषा और साहित्य' अध्यायमें उपनिषद्-खंड देखिये।

ओ३म् पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

(ब्रह्म पूर्ण है, यह चराचर विश्व भी पूर्ण है। पूर्णमेंसे पूर्ण निकाल लेनेपर भी पूर्ण ही बच जाता है।) उपनिषदोंमें प्रधान रूपसे परमात्मा और व्यक्तिगत आत्माकी एकताका विवेचन किया गया है और प्राणि मात्र, अथवा सारे विश्वकी प्रत्यक्ष विभिन्नताका निराकरण करनेके लिये सबमें एक ब्रह्मकी व्याप्ति ही आधार मानी गई है। बृहदारण्यक उपनिषद्के अनुसार 'स वा अयमात्मा सर्वेषां भूतानामधिपतिः, सर्वेषां भूतानां राजा । तद्यथा रथनाभौ च रथनेमौ चाराः सर्वे समर्पिता एवमेवास्मिन्नात्मनि सर्वाणि भूतानि सर्वे देवाः सर्वे लोकाः सर्वे प्राणाः सर्व एत आत्मानः समर्पिताः' (यह आत्मा (ब्रह्म) सभी प्राणियोंका अधिपति और राजा है। जिस प्रकार रथकी नाभि और नेमिमें उसके सभी डंडे लगे होते हैं, उसी प्रकार आत्मासे सभी प्राणी, सभी देव, सभी लोक और सभी प्राण इत्यादि सम्बद्ध हैं।) इसी आधारपर यह उपनिषद् इस परिणामपर पहुँच सका है कि 'इदं मानुषं सर्वेषां भूतानां मध्वस्य मानुषस्य सर्वाणि भूतानि मधु' (मनुष्य सभी प्राणियोंके लिये मधु है और सभी प्राणी मनुष्यके लिये मधु हैं।

गीता-दर्शन

गीताकी शिक्षायें बहुत कुछ उपनिषदोंकी शिक्षाओंसे मिलती-जुलती हैं। गीताके अध्यात्मज्ञानका आधार उपनिषद् हैं। उपनिषदोंके समान भगवद्गीतामें भी यज्ञ इत्यादि कर्मकाण्ड उपेक्षा करनेके योग्य माने गये हैं; परन्तु उपनिषदोंमें भक्तिको कोई भी स्थान नहीं मिल सका है। उपासनाके लिये प्राचीन उपनिषदोंमें जिन प्रतीकोंका उल्लेख किया गया है, उनमें मनुष्य-देहधारी परमेश्वरके स्वरूपका प्रतीक नहीं है। ईश्वरके अवतारके द्वारा विराट् रूपकी कल्पना गीतामें मौलिक है। अवतारवाद संभवतः उपनिषदोंकी सगुणोपासनासे ही विकसित हुआ है। सगुणोपासनाके द्वारा सर्वव्यापक ब्रह्मकी कल्पना की गई थी।

गीता-दर्शनकी सबसे बड़ी विशेषता निष्काम कर्म करनेकी शिक्षा है। यों तो कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी शिक्षा ईशोपनिषद्में भी मिलती है, किन्तु गीतामें कर्मको ही प्रधानता दी गई है। गीतामें कर्म करना लोकसंग्रहके लिये भी आवश्यक कहा गया है। उपनिषदोंका संन्यास गीताके लिये श्रेयस्कर नहीं है। गीताके अनुसार वास्तविक संन्यास तो कर्मका फल पानेकी आशा छोड़ देनेमें ही है।

गीता मनुष्यको सदैव कर्मनिष्ठ बननेके लिये उत्साहित करती है। गीताकी मुक्ति निर्भय होकर जीवन-संग्राममें लगे रहनेसे ही मिल सकती है।

जैन-दर्शन

जैन-दर्शनके ग्रंथोंके अनुसार समय-समयपर २४ तीर्थङ्करोंने दर्शनके सिद्धान्तों-के विषयमें सोच-विचार किया है। इनमेंसे ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इत्यादि प्रमुख हुए हैं। महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर हुए हैं। इन्होंने इस दर्शनकी रूप-रेखा निश्चित की थी।

अब तक जिन दर्शनोंका उल्लेख किया गया है, उनमें ब्रह्म विषयक ज्ञानकी प्रधानता रही है और आत्मा तथा परमात्माकी एकता वताई गई है। जैन-दर्शनमें आत्मा या जीवकी ऐसी विशेषता नहीं है। इस दर्शनके अनुसार प्रत्येक आत्मा स्वतंत्र है। ब्रह्म नामकी कोई वस्तु इस दर्शनमें नहीं मानी गई है। जैन-दर्शनका ईश्वर भी बहुत कुछ भिन्न है। वह सर्वशक्तिमान् होकर सृष्टिकी रचना और पालन नहीं करता है। प्रत्येक जीव शरीरबन्धसे मुक्त होने-पर ईश्वर हो जाता है और ऐसी परिस्थितिमें वह निष्क्रिय होकर पड़ा रहता है।

जैन-दर्शनके अनुसार संसारमें जो कुछ है, उसका नाम द्रव्य है। द्रव्यके दो भेद हैं—जीव और अजीव। जीव उपयोगमय (दर्शन और ज्ञानवाला), रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इत्यादिसे रहित, कर्त्ता, शरीरके बराबर परिमाणवाला, भोक्ता, सांसारिक और सिद्ध (जीवन्मुक्त) है। जीवकी स्वाभाविक गति उन्नति करनेकी है। व्यावहारिक दृष्टिसे जीव प्राणमय (इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासयुक्त) है किन्तु निश्चय दृष्टिसे वह चेतना रूप है। जीवको अपने शुद्ध स्वरूपको जान करके मुक्तिका उपाय करना चाहिये, जैसा कि नीचे लिखे श्लोकमें बताया गया है—

> अहमेकः खलु शुद्धश्च निर्ममः ज्ञानदर्शनसमग्रः
> तस्मिन्स्थितः तच्चित्तः सर्वानेतान् क्षयं नयामि ॥

(मैं एक, शुद्ध, निर्मम, ज्ञान और दर्शनवाला हूँ। इस रूपमें स्थित होकर मैं जीवके बन्धनोंको तोड़ फेंकूँगा।)

अजीवके पाँच भेद काल, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल हैं। काल निर-वयव पदार्थ है जिसको साधारणतः हम लोग समय कहते हैं। आकाशमें सबको अवकाश मिलता है। धर्मका अभिप्राय जैन-दर्शनमें पुण्य नहीं है, अपितु वह सब

प्रकारकी गतिका कारण है। यह स्वयं तो गतिहीन है, किन्तु इसके बिना किसी पदार्थमें गति नहीं हो सकती। धर्मका ठीक विलोम अधर्म है। इससे पदार्थोंकी स्थिरता होती है। पुद्गलका अर्थ परमाणु है। यह जड़ तत्त्व है और परमाणु रूपमें अनादि, अनन्त, नित्य और अमूर्त है। केवल मुक्त जीव ही परमाणुओंको देख सकते हैं। इन्हीं परमाणुओंसे पृथ्वी, जल, वायु इत्यादिकी रचना होती है। कर्मोंका सूक्ष्म रूप भी पुद्गल ही है।

जीव और अजीवकी सात विशेषतायें हैं—आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पाप और पुण्य। जिस प्रकार किसी छेदसे होकर जल नावमें प्रवेश करता है और उसकी प्रगतिको रोक देता है उसी प्रकार आस्रवके द्वारा कर्मका प्रभाव जीवपर पड़ता है और उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है। जीवका कर्मके द्वारा बँध जाना बन्ध है। आस्रवका अभाव संवर है जिसमें कर्मका प्रभाव जीवपर नहीं पड़ता। कर्मके परमाणु निर्जराके द्वारा जीवपर प्रभाव डालना बन्द कर देते हैं। जीवकी यह मुक्ति निर्जरा है। जीवका कर्म बन्धनसे छुटकारा पाकर जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाना मुक्ति है। जीवकी चेतनताको लोप करनेवाले कामोंको पाप कहते हैं। जीवको मोक्षकी ओर ले जानेवाले कर्म पुण्य हैं। मोक्ष पानेके लिये वैदिक दर्शनकी भाँति जैन-दर्शनमें भी आत्माका शुद्ध स्वरूप जानना चाहिये। इसके लिये सम्यक् दर्शनके द्वारा ऊपर लिखी हुई दर्शनकी बातोंमें श्रद्धा रखकर सम्यक् ज्ञानके द्वारा अध्ययन करते हुए उनका निश्चयात्मक पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके सम्यक् चरित्रसे मोक्ष-मार्ग पर चलते हैं। ये तीनों जैन दर्शनके रत्नत्रय हैं।

जैन-दर्शनमें पाँच प्रकारकी बोधि या ज्ञान होते हैं—मति, श्रुति, अवधि, मनःपर्याय और केवल। मतिज्ञान मन और इन्द्रियोंकी सहायतासे होता है। इसके लिये तर्ककी भी सहायता ली जाती है। श्रुति ज्ञान शब्द, सकेत और चिह्नोंसे होते हैं। जो ज्ञान दिव्य दृष्टिसे भूत, भविष्य और वर्तमान वस्तुओंके विषयमें होता है उसे अवधिज्ञान कहते हैं। मनःपर्यायके द्वारा दूसरेके मनकी बात जान लेते हैं। केवल-ज्ञान मुक्त जीवोंको ही होता है। मुक्त जीव सब कुछ जानता है।

बौद्ध-दर्शन

बौद्ध-दर्शनके प्रवर्त्तक महात्मा गौतम बुद्धका अभ्युदय ईसाके पूर्व छठीं शताब्दीमें हुआ था। उन्होंने युवावस्थामें ही संसारमें जन्म, जीवन और मरणको

दु:खमय जानकर इनसे बचनेके उपाय सोचना प्रारंभ किया। तत्कालीन वैदिक दर्शनमें बताये हुए ज्ञान और तपस्याके मार्गपर चलकर जब उन्हें संतुष्टि न हुई तो उन्होंने स्वयं विचार करना प्रारंभ किया। एक समय जब वे वृक्षके नीचे ध्यान लगाकर बैठे हुए थे, उन्हें सांसारिक दु:खोंसे मुक्त होनेका उपाय सूझ पड़ा। उन्होंने मुक्तिके लिये यज्ञ, ज्ञान अथवा तपस्याको महत्त्व नहीं दिया; आत्मा और परमात्माके चक्करमें पड़ना ठीक न समझा; अपितु सदाचारके द्वारा मुक्तिका मिलना संभव बताया। बौद्ध दर्शनमें सांसारिक दु:खोंसे मुक्त होनेका नाम निर्वाण है। निर्वाण पानेका मार्ग आष्टांगिक है। आष्टांगिक मार्गसे दृष्टि संकल्प, वाणी, कर्म, आजीविका, व्यायाम (शक्तियोंका उपयोग), स्मृति (अपने को पतनके मार्गसे बचाना और मनको अच्छे विचारोंमें लगाना) और समाधिके सम्यक् (पूर्ण और निर्दोष) होनेपर निर्वाणकी प्राप्ति हो जाती है। निर्वाणकी प्राप्ति इसी जीवनमें हो सकती है। आष्टांगिक मार्गपर चलनेवाला मनुष्य इसी जीवनमें इच्छाओंसे निवृत्त होकर नित्यता, आनन्द, पवित्रता और स्वतंत्रता प्राप्त कर लेता है। निर्वाण-प्राप्त मनुष्य वैदिक दर्शनके जीवन्मुक्त या जैन-दर्शनके सिद्धकी भाँति होता है। बौद्ध-दर्शनके आष्टांगिक मार्गका बीज प्राय: मौलिक रूपमें उपनिषदोंमें वर्त्तमान है। उपनिषदोंकी आचार-शिक्षा बहुत-कुछ इससे मिलती-जुलती है।

संसारमें दु:ख केवल इसी कारण है कि जो कुछ हम यहाँ देखते हैं उसका रूप क्षणिक है। जो कुछ अपना है, वही एक क्षणमें अथवा एक युगमें सपनासा प्रतीत होता है। हम किसी वस्तुको एक नियत रूपमें देखकर प्रसन्न होते हैं, किन्तु जब थोड़ी देरमें अथवा कई वर्षोंमें ही उस वस्तुको उस रूपमें नहीं पाते हैं तो दु:ख होता है। वस्तुओंकी परिवर्त्तनशीलता कार्य-कारणकी परम्परासे होती है। कोई कार्य बिना कारणके नहीं होता, जहाँ कारण होते हैं वहाँ कार्य होने लगता है। प्रत्येक कार्य भी कारण हो जाता है। इस प्रकार एक कारणसे जब कार्योंकी परम्परा चलती है तो वह असीम होकर रहती है। कारणका कार्य रूपमें परिणत होना परिवर्त्तनशीलता है। बौद्ध-दर्शनमें इस सिद्धान्तको प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं। कार्य-कारणकी सबसे पहली कड़ी अविद्यासे प्रारंभ होती है। अविद्याका अर्थ अज्ञान है। अविद्यासे संस्कारकी उत्पत्ति होती है। संस्कार सोचनेकी क्रिया है। संस्कारसे विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञानसे पूर्व जीवनका संबंध नये जन्मके साथ होता है। विज्ञानसे नाम-रूपकी उत्पत्ति होती है।

नाम-रूप मन और शरीर हैं। नाम-रूपसे षडायतन उत्पन्न होते हैं। षडायतन शरीरकी इन्द्रियाँ हैं जिनसे संसारकी अन्य वस्तुओंके सम्पर्कमें आनेपर वेदना होती है। इन्द्रियोंके इस सम्पर्कका नाम स्पर्श है। स्पर्श और वेदना क्रमशः छठी और सातवीं कड़ियाँ हैं। वेदनाका अर्थ विषयोंके भोगजनित अनुभव हैं। वेदनासे तृष्णा और तृष्णासे उपादान या आसक्तिकी उत्पत्ति होती है। आसक्तिके ही कारण भव होता है। भवका तात्पर्य उन कर्मोंसे है जो जन्मके कारण होते हैं। जन्मसे जरामरण और दुःखका उद्भव होता है। ये बारह कड़ियाँ—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति और जरामरण एवं दुःखका संबंध मनुष्यके पूर्व, वर्तमान और भविष्य जीवनसे है। प्रथम दो पूर्व जीवनसे और अन्तिम तीन भविष्य जीवनसे सम्बद्ध हैं, बीचमें सातका संबंध वर्त्तमान जीवनसे है। मनुष्य रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान इन पाँच स्कन्धोंसे बना हुआ है। इन्हीं पाँच स्कन्धोंके संघका पुनर्जन्म होता है। इन स्कन्धोंका अपने मौलिक तत्त्वोंमें मिल जाना महानिर्वाण है।

आगे चलकर बौद्ध-दर्शनका विकास हुआ है। अन्य धर्मों और दर्शनोंके प्रभावसे बौद्ध-दर्शनकी रूप-रेखा इतनी परिवर्तित हो गई कि उसे प्रारंभिक बौद्ध-दर्शनसे पूर्णतः स्वतंत्र कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। पुराने दर्शनके मानने-वाले हीनयान और विकसित दर्शनके अनुयायी महायान-मतके माननेवाले कहलाये। हीनयानमें जीवन कठोर था, इसीसे विरक्त होकर बुद्ध के कुछ अनुयायियोंने प्राचीन दर्शनके आधारपर ही इसमें भक्ति और लोक-कल्याण-की भावनाको प्रधानता देते हुए महायानकी नींव डाली। इस दिशामें उन्हें तत्कालीन हिन्दू दर्शन और धर्मसे प्रोत्साहन मिला। दार्शनिक विकासके साथ ही साथ हीनयानकी सौत्रान्तिक और वैभाषिक तथा महायानकी योगाचार और माध्यमिक चार शाखायें फूट पड़ीं।

वैभाषिक दर्शनमें विश्वकी विभिन्न वस्तुओंको एक दूसरेसे असम्बद्ध बताया गया है। वस्तुओंकी पारस्परिक भिन्नता उनके परमाणुओंकी भिन्नताके कारण ही है। सभी परमाणु परिवर्त्तनशील हैं। वैभाषिकोंके अनुसार पृथिवी, जल, वायु और तेज चार तत्त्व हैं। वे आकाश तत्त्वकी कल्पना नहीं करते। इस दर्शनमें ईश्वर और आत्माको नहीं माना गया है। इन्द्रियाँ विषयोंके सम्पर्कमें आकर विज्ञानोंकी सृष्टि करती हैं। वैभाषिक दर्शनके अनुसार बुद्धका व्यक्तित्व अलौकिक नहीं था। वे हमीं लोगोंकी भाँति केवल मनुष्य थे।

सौत्रान्तिक दर्शन वैभाषिकसे मिलता-जुलता है। इस दर्शनमें भी आत्मा और ईश्वरको कोई स्थान नहीं मिला है और न संसारका बनानेवाला ही कोई माना गया है। यह सृष्टि अनादि कालसे यों ही चली आ रही है।

योगाचार दर्शनको विज्ञानवाद या ज्ञानाद्वैतवाद नाम भी दिये गये हैं। इस दर्शनमें योगकी क्रियाओंको महत्त्वपूर्ण ठहराया गया है और दर्शनके सिद्धान्तोंमें योगके अनुभवोंको भी प्रामाणिक माना गया है। विज्ञानवादके अनुसार संसार-की सभी वस्तुओंके अस्तित्वका आधार विज्ञानको ही माना गया है। विश्वकी सभी वस्तुयें विज्ञानरूप हैं। गीताके दर्शनकी भाँति इसमें भी सबको वस्तुतः सुख-दुःखसे रहित माना गया है। अविद्याके कारण ही सुख-दुःख हैं और अविद्या-का अस्तित्व अज्ञानके कारण है।

माध्यमिक बौद्ध-दर्शनको शून्यवाद भी कहते हैं। इस दर्शनके अनुसार विश्वमें चराचर रूपमें जो कुछ दिखाई देता है उसकी सत्ता असिद्ध है। उनके अस्तित्वके लिये कोई शंकाहीन प्रमाण नही है। विश्वमें शून्यके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सुख-दुःख, बन्धन-मोक्ष, कर्मका फल इत्यादि सब कुछ शून्य है।

न्याय और वैशेषिक दर्शन

न्याय-दर्शनका सबसे प्राचीन ग्रंथ गौतमका 'न्यायसूत्र' है। न्यायशास्त्र बहुत प्राचीन है और प्रारंभमें मीमांसकोंने इसका आश्रय लेकर वैदिक साहित्य और यज्ञके नियमोंकी व्याख्या की थी। सबसे पहले गौतमने ही न्याय-प्रणाली-को सुलझाकर रखा और इसे शास्त्रका रूप दिया। न्याय-दर्शनमें प्रधान रूपसे तर्क करनेकी पद्धतिकी व्याख्या मिलती है। अन्य दर्शनोंकी भाँति मुक्ति पानेका मार्ग दिखाना ही इसका अभिप्राय है। न्याय-दर्शनके अनुसार प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, हेत्वाभास, वितण्डा, छल, जाति और निग्रहस्थानोंके तत्त्वज्ञानसे ही मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

न्यायमें प्रमाणसे किसी वस्तुके वास्तविक रूपका ज्ञान होता है। प्रमाण चार प्रकारके होते हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। प्रत्यक्ष प्रमाण किसी विषयके इन्द्रियोंके संनिकर्ष (संपर्क) में आनेपर होता है। अनुमान प्रमाणमें कारण देखकर कार्यका, कार्य देखकर कारणका अथवा किसी लक्षणको देखकर लक्षणवालेका ज्ञान प्राप्त करते हैं। उपमान प्रमाणका आधार लक्षणों (गुणों) की समानता है। आप्त (विश्वसनीय) लोगोंके वचनसे जो ज्ञान होता है, वह आप्त

प्रमाणके द्वारा संभव होता है। जिह्वासे स्वाद लेकर मधुरता या अम्लताका ज्ञान प्रत्यक्ष है। धुयेंको देखकर अग्निका ज्ञान अनुमान है। गायके समान नील गायको जानकर वनमें नील गायको पहिचान लेना उपमान है। वेदोंमें ईश्वरका अस्तित्व माना गया है, अतएव ईश्वर है—यह ज्ञान आप्त प्रमाणके द्वारा होता है।

'प्रमेय'का अर्थ 'जाननेके योग्य' है। प्रमाणोंके द्वारा प्रमाता प्रमेयोंको जानता है। प्रमेय बारह हैं—आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

न्यायदर्शनमें प्रमाणोंकी व्याख्या प्रधान रूपसे मिलती है। न्यायके प्रमाणोंका सहारा लेकर वैशेषिक दर्शनमें प्रमेयोंकी व्याख्या की गई है। वैशेषिक दर्शनको सबसे पहिले महर्षि कणादने शास्त्र-रूपमें रखा था। उन्हीके नामपर इसे कणाद-दर्शन भी कहते हैं। वैशेषिकके अनुसार पदार्थ सात हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। इन पदार्थोंमें द्रव्य मुख्य है।

द्रव्य नव हैं—पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन। इनकी व्याख्या वैज्ञानिक रीतिसे की गई है। उदाहरणके लिये पृथिवी गन्धवाली है, गन्ध और किसी द्रव्यमें नहीं मिलता। इसमें रूप, रस और स्पर्श भी पाये जाते हैं। परमाणु रूपसे पृथिवी नित्य है किन्तु कार्यरूपसे अनित्य है। पृथिवी शरीर इन्द्रिय और विषयके भेदसे तीन प्रकारकी है। मानवशरीर पृथिवीका बना है। गन्ध ग्रहण करनेवाली नासिका इन्द्रिय पृथिवीमयी है। मिट्टी और पत्थरके रूपमें भी पृथिवी मिलती है। ये दोनों पृथिवीके विषय हैं।

वैशेषिकके आत्मासे आत्मा और परमात्मा दोनोंका बोध होता है। आत्मा या जीवात्मा व्यक्तिगत होता है। आत्मा शरीरसे भिन्न है। वह शरीरका संचालक या इन्द्रियोंके अधिष्ठाता रूपमें वर्तमान है। आत्मा ही इन्द्रियोंको विभिन्न विषयोंकी ओर प्रवृत्त करता है। इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करनेका काम आत्माका ही है—चैतन्य केवल आत्माकी ही विशेषता है; वह शरीर, मन अथवा इन्द्रियोंका गुण नहीं है। आत्मा विभु है, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, यत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार आदि उसके गुण हैं।
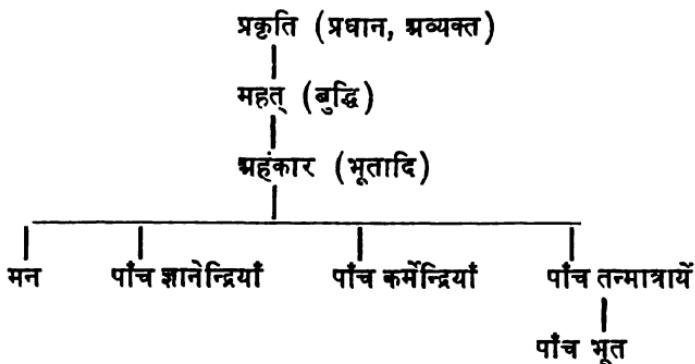
परमात्मा या ईश्वरको सिद्ध करनेके लिये न्याय-दर्शनमें अति सरल तर्क अपनाये गये हैं। उनमेंसे एक इस प्रकार है—'पृथिवी अंकुर इत्यादि कर्त्तासे उत्पन्न किये गये हैं क्योंकि ये सब कार्य हैं। जो कार्य होता है, उसके लिये कर्त्ता

भी आवश्यक है जैसे घड़ेका कर्त्ता कुम्हार। इस प्रकार कार्यरूप पृथिवी, सूर्य इत्यादिका भी कोई कर्त्ता है क्योंकि ये सभी कार्य हैं, अतएव इनका कोई न कोई कर्त्ता है। वह कर्त्ता ही ईश्वर है।'

मनके द्वारा आत्मा सुख और दुःखका ज्ञान प्राप्त करता है। यह पुनर्जन्ममें भी आत्माके साथ ही साथ रहता है। आत्माको चेतनता प्रदान करनेमें मन सहायक होता है। मन परमाणु-रूप और अनन्त है। मनकी गणना इन्द्रियोंके साथ भी होती है।

सांख्य-दर्शन

सांख्य-दर्शनके मौलिक सिद्धान्तोंका विवेचन उपनिषदोंमें मिलता है। महर्षि कपिलने सबसे पहिले इस दर्शनको शास्त्रीय रूप दिया था। इस दर्शनका सर्वप्रथम ग्रंथ ईश्वरकृष्णकी सांख्यकारिका है जिसकी रचना संभवतः तीसरी शताब्दी में हुई। सांख्यमें पुरुष और प्रकृतिकी अलग-अलग सत्ता मानी गई है। प्रकृतिके विकासके द्वारा २४ तत्त्व बनते हैं। मुक्ति पानेके लिये २५ तत्त्वोंका ज्ञान आवश्यक है। प्रकृतिके क्रमिक विकासकी तालिका नीचे दी जाती है--

पुरुष शुद्ध, उदासीन, चैतन्य और विवेकी है। पुरुषमें किसी प्रकारका विकार संभव नहीं है, उसका न तो कोई कारण है और न कार्य। वह नित्य और सर्वव्यापी है; कोई क्रिया नहीं करता, अवयवहीन और स्वतंत्र है। वह तीन गुण—सत्, रजः और तमःसे रहित है। प्रत्येक प्राणीका पुरुष अलग-अलग होता है।

प्रकृतिसे ही सारे विश्वकी उत्पत्ति होती है। विश्वकी सृष्टि प्रकृतिका

विकसित रूप है। सृष्टिके पहिले प्रकृतिकी साम्यावस्था होती है जिसमें सत्, रजः और तमःके प्रभाव प्रकट रूपमें नहीं रहते। जब प्रकृतिकी साम्यावस्था भंग होती है तो प्रकृतिके गुणोंका प्रभाव लक्षित होता है और सृष्टिका क्रम चलता है। प्रकृतिसे सबसे पहले बुद्धि (महत्)की उत्पत्ति होती है। बुद्धिकी विशेषतायें मति, ख्याति, प्रज्ञा और ज्ञान हैं। बुद्धि धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्यसे संयुक्त होती है। इसके द्वारा सोचने और समझनेका काम होता है। बुद्धि ही पुरुषको सब प्रकारके अनुभव देती है। बुद्धिसे अहंकारकी उत्पत्ति होती है। अहंकार निजी व्यक्तित्वका आधार है। अहंकारसे अभिमान या अहंभावकी भावना होती है। पुरुषमें अहंकारके माध्यमसे ही प्रकृतिके कामोंका आरोपण होता है। सात्त्विक अहंकारसे मन और दस इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है और तामसिक (भौतिक) अहंकारसे पाँच तन्मात्रायें (शब्द—, स्पर्श,—, रूप—, रस—, और गन्ध—,) उत्पन्न होती हैं। रजोगुणका प्रभाव अहंकारके सारे विकासपर समान रूपसे पड़ता है और यह सबमें वर्तमान रहता है। मन सभी ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें नियोजित करता है। विभिन्न इन्द्रियोंसे सहयोग करते समय मनके विभिन्न रूप हो जाते हैं। पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंकी अलग-अलग एक-एक तन्मात्रा है। तन्मात्रायें सूक्ष्म हैं। इनसे पंचभूतों (आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी)की उत्पत्ति होती है। इन्हीं पंचभूतोंसे सारे विश्वकी रचना होती है।

प्रकृतिके विकासके साथ ही चेतन पुरुष जन्म, जीवन और मृत्युके बन्धनमें पड़ता है। स्वयं प्रकृति पुरुषको अपने बन्धनसे मुक्त करनेके लिये उत्सुक हो जाती है और जब वह देखती है कि पुरुषने मुझको जान लिया, तो वह पीछे हटने लगती है। वह लज्जाशीला रमणीकी भाँति यह समझने लगती है कि पुरुषने मुझको देख लिया। फिर तो वह पुरुषके सामने आनेमें हिचकती है। वस्तुतः पुरुष न तो बँधता है और न मुक्त होता है; केवल प्रकृति ही बन्धनमें पड़ती है या मुक्त होती है। प्रकृतिका पूरा ज्ञान प्राप्त कर लेनेके पश्चात् पुरुष उसकी उपेक्षा करता है। प्रकृति भी ऐसे अवसरपर अपनेको पुरुषसे अलग करनेके लिये अपने विकसित रूपको समेट लेती है। ऐसी परिस्थितिमें पंचभूतोंका पंच-तन्मात्राओंमें, पंच तन्मात्राओं, इन्द्रियों और मनका अहंकारमें, अहंकारका महत्में और महत्का अव्यक्त प्रकृतिमें अन्तर्भाव हो जाता है और प्रकृतिकी साम्यावस्था स्थापित हो जाती है।

योग-दर्शन

योग-दर्शन बीजरूपमें प्राचीन साहित्यमें मिलता है। वेदोंमें ध्यानकी महत्ता बताई गई है और तपस्याके द्वारा अलौकिक शक्तियोंको प्राप्त करनेका उल्लेख मिलता है। उपनिषदोंमें आध्यात्मिक ज्ञानके लिये तपस्या और ब्रह्मचर्यकी उपयोगिताका निर्देश किया गया है। पतंजलिने सबसे पहले योग-दर्शनको शास्त्र रूपमें रखा और योगसूत्रमें इसके सिद्धान्तोंका निरूपण किया। इस दर्शनका मुख्य आधार सांख्य है। इसमें पुरुष, प्रकृति और प्रकृतिके क्रमिक विकासोंकी कल्पना ठीक सांख्य जैसी ही मिलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि योग-दर्शनमें असंख्य पुरुषोंके अतिरिक्त ईश्वरकी भी कल्पना की गई है। योग-दर्शनमें चित्तवृत्तियोंको एकाग्र करनेके लिये ईश्वरका ध्यान करना एक साधन बताया गया है। मुक्तिके लिये ईश्वरका ध्यान करना ही आवश्यक नहीं है, अपितु इसके बिना भी मुक्ति संभव है। ईश्वर सांख्यका मुक्त पुरुष नहीं है क्योंकि वह कभी बन्धनमें पड़ता ही नही। वह अनादि, अनन्त और सर्वज्ञ है।

योगमें चित्तवृत्तियोंका निरोध करनेकी शिक्षा प्रधान रूपसे दी गई है। चित्तवृत्तियोंका निरोध हो जानेपर पुरुष अपने वास्तविक रूपमें स्थित हो जाता है। यह निरोध अभ्यास और वैराग्यसे संभव होता है। बारंबार चित्तको स्थिर करनेका प्रयत्न अभ्यास है और सांसारिक या स्वर्गके सुखोंकी कामना न करना वैराग्य है।

योगके साधन आठ प्रकारके हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। यमके द्वारा अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (अन्य पुरुषकी वस्तु न ग्रहण करना)का अभ्यास किया जाता है। नियममें शौच (चित्त और शरीरकी शुद्धि), सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरके प्रणिधानका विधान है। आसनसे शरीरको ध्यान और समाधिके योग्य बनाते हैं। आसन स्थिर, सुखदायक और सुकर होने चाहिये और इसके द्वारा शरीरमें सौन्दर्य, लावण्य, बल और क्षमता आनी चाहिये।

आसनके द्वारा शरीरपर पूरा अधिकार कर लेनेके पश्चात् प्राणायामसे चित्तको शान्त और स्थिर करते हैं। धीरे-धीरे श्वास-प्रश्वासपर इतना अधिकार हो जाता है कि समाधिकी अवस्थामें साँस लेनेकी आवश्यकता ही नहीं पड़ती है और पूर्णरूपसे चित्तकी एकाग्रता संभव होती है। इन्द्रियोंको अपने विषयोंसे

हटा लेना प्रत्याहार है। ऐसी अवस्थामें मन सांसारिक विषयोंकी ओर नहीं दौड़ता। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहारसे शरीरको शुद्ध कर लेनेपर धारणा, ध्यान और समाधिसे योगकी प्राप्ति होती है। एक स्थानपर चित्तको नियत कर देना धारणा है। धारणाके पश्चात् ध्यानकी अवस्था आती है जब चित्त स्थिर रूपसे केवल एक विषयके चिन्तनमें लीन रहता है। ध्यान. अन्तमें समाधिमें परिणत हो जाता है। समाधिके द्वारा सांसारिक विषयोंसे छुटकारा पाकर पुरुष अपने वास्तविक रूपको प्राप्त कर लेता है। पुरुषका प्रकृतिके बन्धनोंसे मुक्ति पा लेना ही कैवल्य है। यही जीवका चरम लक्ष्य है।

आसनोंके द्वारा अलौकिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, पर इन शक्तियोंके फेरमें पड़नेवाला साधक योगके सर्वोच्च शिखर—कैवल्य तक नहीं पहुँच सकता। वास्तवमें ये शक्तियाँ योग-मार्गमें बाधक होती हैं।

पूर्व-मीमांसा

पूर्व-मीमांसा दर्शनका प्रारंभ जैमिनि-सूत्रोंसे होता है। इन सूत्रोंमें जैमिनिने यज्ञ-संबंधी वैदिक मंत्रोंका अर्थ निकालनेके लिये तर्कपद्धतिका अनुसरण किया है। सूत्रोंमें प्रधान रूपसे धर्म और दर्शनका विवेचन किया गया है।

पूर्व-मीमांसामें जैमिनिने केवल तीन प्रमाण—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द माने थे। पीछे चलकर प्रभाकरने उपमान और अर्थापत्ति तथा कुमारिलने अनुपलब्धि प्रमाण माने। जिस प्रमाणसे सन्देहका निवारण होता है वह अर्थापत्ति है। 'यदि कोई कपड़ा मिलमें बना हुआ नहीं है तो वह खादी है।' खादीपनका ज्ञान अर्थापत्ति प्रमाणसे सिद्ध होता है। अनुपलब्धिसे अभावका ज्ञान होता है। आकाशमें चन्द्र नहीं है। ऐसी परिस्थितिमें चन्द्रके अभावका ज्ञान केवल अनुपलब्धि प्रमाणसे होता है, अन्य प्रमाणोंसे नहीं।

आत्माके अस्तित्वको सिद्ध करनेके लिये मीमांसा-दर्शनमें शब्द प्रमाणकी सहायता ली गई है। वेदोंमें लिखा है कि यज्ञ करनेवाला स्वर्गमें जाता है। जो मरनेके पश्चात् स्वर्गमें जाता है, वही आत्मा है। शरीर तो स्वर्गमें जा नहीं सकता। आत्मा शरीर, इन्द्रिय और बुद्धिसे भिन्न है। आत्मा अपनी चेतनतासे शरीरका संचालन करता है। मीमांसक प्रत्येक शरीरके लिये अलग-अलग आत्मा मानते हैं। प्रत्येक शरीरके कार्य-व्यापार आत्माओंकी अनेकताके कारण भिन्न-भिन्न होते हैं। सुख-दुःख इत्यादि भी प्रत्येक आत्माको (शरीरको नहीं) अलग-अलग

होते हैं। मुक्त होनेपर आत्मा 'सत्' रूपमें वर्तमान रहकर समष्टिगत ज्ञानका आधार बनता है, किन्तु उसे सुख-दुःख नहीं होते क्योंकि केवल शरीरसे संबंध होनेपर ही आत्मा सुख-दुःखका अनुभव कर सकता है।

मीमांसा-दर्शन प्रारंभिक अवस्थामें ईश्वरके विषयमें चुप है। मीमांसकोंका ईश्वरमें विश्वास प्रारंभसे ही नहीं था। आगे चलकर कुमारिलने सप्रमाण सिद्ध किया है कि ईश्वर नहीं है। मीमांसक सृष्टिको अनादि और अनन्त मानते हैं। उनकी दृष्टिमें प्रलय नहीं होता। ईश्वरने मनुष्यको रचा नहीं, अपितु उनके माता-पिता उनकी सृष्टि करते हैं। कुमारिलने ईश्वरके समर्थकोंसे, जो उसे सृष्टिका रचयिता मानते हैं, कुछ प्रश्न पूछे हैं—यदि ईश्वरने सृष्टिकी रचना की है तो इसका प्रमाण कौन देगा ? वह सृष्टिकी रचना कैसे करता है ? यदि ईश्वरका भौतिक शरीर नही है तो वह सृष्टि करनेकी इच्छा ही क्यों करने लगा ? यदि ईश्वरका शरीर है तो वह किस वस्तुका बना है—उसने तो स्वयं पंचभूतोंकी रचना की है। दुःखमय संसार रचनेमें ईश्वरका क्या अभिप्राय हो सकता है ? कुमारिलने इस प्रकारके अनेकों प्रश्न किए हैं। मीमांसकोंका विश्वास देवताओंमें है। देवताओंके लिये उन्होंने मन्त्रों और यज्ञोंकी उपयोगिता बताई है। धीरे-धीरे मीमांसकोंने आगे चलकर ईश्वरकी सत्ता भी मान ली है और उसके लिये भी यज्ञोंका विधान निर्दिष्ट किया है।

प्रारंभमें जैमिनिके सूत्रोंके अनुसार मीमांसकोंने मोक्षकी कल्पना भी नहीं की थी। वे केवल स्वर्गका मार्ग यज्ञोंके द्वारा बताते थे, किन्तु संसारसे मुक्त होनेकी चर्चा नहीं करते थे। आगे चलकर अन्य दर्शनोंकी भाँति मीमांसामें भी मुक्तिकी प्राप्तिके साधन बताये गये। प्रभाकरने मुक्तिके लिये धर्म और अधर्म दोनोंका नष्ट हो जाना ही मुक्ति माना है, क्योंकि धर्म और अधर्मसे ही पुनर्जन्म होता है। कोई भी व्यक्ति जब देखता है कि संसारमें सुखका भोग दुःखसे रहित नही है, तो वह मुक्तिकी चेष्टा करता है। वह इस जीवनमें या परलोकमें सुख देनेवाले कामोंको छोड़कर अपने पहिलेके कर्मोंको भी निष्फल बनानेके लिये प्रायश्चित्त करता है और शनैः शनैः आध्यात्मिक ज्ञान और सन्तोषके द्वारा तथा इन्द्रियोंको वशमें करके अपने शारीरिक बन्धनसे छुटकारा पा जाता है। मोक्षकी अवस्थामें सुख-दुःखका अभाव रहता है। मोक्ष पाकर आत्मा अपने वास्तविक रूपमें निर्विकार होकर पड़ी रहती है। कुमारिलने मोक्षके लिये कर्म और ज्ञान दोनोंको महत्त्वपूर्ण ठहराया है।

वेदान्त-दर्शन

भारतवर्षमें वेदान्त-दर्शनका सबसे अधिक महत्त्व है। आज भी भारतीय जीवनकी रूप-रेखाका आधार वेदान्त ही है। वेदान्त शब्दका मौलिक अर्थ 'वेदोंका अन्त' है। वैदिक साहित्यमें उपनिषद् अन्तमें आते हैं। उन्हीं उपनिषदोंकी विचारधारा अधिकसे अधिक मौलिक रूपमें लेकर वेदान्त-दर्शनमें विकसित की गई है। पूर्व-मीमांसामें वेदोंके याज्ञिक विधानोंकी आलोचना प्रधान रूपसे मिलती है और वेदोंके दार्शनिक ज्ञानका विवेचन वेदान्तमें मिलता है। इसीलिये वेदान्तको प्रारंभमें प्रायः उत्तर-मीमांसा कहते थे। उपनिषदोंकी दार्शनिक शिक्षा बिखरी हुई है। उन शिक्षाओंको एकत्र करके उनका सामंजस्य प्रकट करते हुए बादरायणने वेदान्तसूत्रोंकी रचना की। वेदान्तसूत्रोंको ब्रह्मसूत्र भी कहते हैं क्योंकि उनमें प्रधान रूपसे ब्रह्मकी चर्चा की गई है। वेदान्तसूत्रमें कुल ५५५ सूत्र हैं। प्रत्येक सूत्रमें प्रायः दो या तीन शब्द हैं। इनको समझना बहुत कठिन है। सूत्रोंके अनेक व्याख्या करनेवाले—शंकर, भास्कर, रामानुज, केशव, नीलकंठ, माध्व, बलदेव इत्यादि हुए हैं। इनकी व्याख्यायें कई स्थलोंपर एक दूसरेसे मिलती नहीं हैं।

वेदान्तमें केवल ब्रह्मकी सत्ता मानी गई है। ब्रह्मके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सब कुछ ब्रह्म ही है। उसीसे विश्वकी उत्पत्ति होती है, वही विश्वका आधार है और विश्वका लय भी उसीमें हो जाता है। वह सृष्टिका साधन है और सृष्टिकर्त्ता भी है। ब्रह्म अपनेमेंसे ही अपने आप सबकी सृष्टि कर देता है। सृष्टिमें भी उसीकी सत्ता है। इस प्रकार ब्रह्म और विश्वमें भिन्नता नहीं है। विश्वकी रचना ब्रह्मकी लीला मात्र है जो उसके संकल्पसे उत्पन्न होती है। वह सत्, चित् आनन्द, अद्वय, और अनन्त है। वह सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र व्याप्त और सर्वज्ञ है। वह अपने भौतिक रूपमें तेज, आकाश, वायु इत्यादि भी है। प्रत्येक हृदयमें विराजमान ब्रह्मका ही हम ध्यान करते हैं। उसी ब्रह्मकी पूजा और भक्ति होनी चाहिये।

वेदान्तसूत्रके अन्तिम भागमें आत्माके देवयानसे होकर ब्रह्म तक पहुँचनेका विवेचन मिलता है। ब्रह्मकी प्राप्ति हो जानेपर संसारमें पुनरागमन नहीं होता। आत्माकी यही अवस्था मोक्ष है। मोक्षमें आत्माका ज्ञान और शक्ति असीम होती है। जो जीव तात्त्विक ज्ञानके द्वारा यह समझ लेता है कि मैं ब्रह्म

हूँ और मायात्मक प्रभावसे मुक्त हो जाता है, वह सभी बन्धनोंसे रहित होकर ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है। वह काम करते हुए भी अपनेको कर्त्ता नहीं मानता और उसको सुख-दुःख नहीं होता। ऐसा जीव अपने ज्ञानके प्रकाशमें आचरण करता हुआ मरनेके वाद आनन्दमय ब्रह्म हो जाता है। वह विमुक्त हो जाता है।

वेदान्तके अनुसार अज्ञानके कारण ब्रह्मके अतिरिक्त किसी और सत्ताकी प्रतीति होती है। अज्ञानके लिये वेदान्तमें मिथ्याज्ञान, अविद्या, अध्यास, और माया शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। जिस प्रकार मिथ्याज्ञानके कारण मरुभूमिमें जलकी प्रतीति होती है उसी प्रकार ब्रह्ममें ही अब्रह्मकी प्रतीति होती है। वास्तवमें हम सभी ब्रह्म हैं।[1] केवल अज्ञानके कारण हम ब्रह्मसे भिन्नता या अनेकताका अनुभव करते हैं। जिस प्रकार समुद्रके जलका एक बूँद समुद्रके जलसे भिन्न नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव भी भिन्न नहीं हैं। मायाके प्रभावसे जीव अपनेको कर्त्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी इत्यादि मानने लगता है।

---

[1] अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि इत्यादि वाक्य यही सत्य प्रकट करते हैं।

दशम अध्याय

धर्म

दर्शनकी प्रणालियोंके अनुसार मनुष्य अपने जीवनकी रूप-रेखा तैयार करता है और यह निश्चित करता है कि विश्वकी चराचर वस्तुओंके प्रति हम कैसा व्यवहार करें ? ब्रह्म या ईश्वरसे लेकर पशु-पक्षी, नदी-पर्वत या कीड़े-मकोड़ों तकके संबंधमें अपने दर्शनके आधारपर वह अपनी व्यवहार-प्रणाली नियत करता है और कर्तव्य-पथका निर्धारण करता है। दार्शनिक आधारपर जो व्यवहार या कर्तव्य-पथकी योजना बनती है, वह धर्म है। इस प्रकार दर्शन और धर्मका अभिन्न संबंध है।

धर्मका जहां तक दर्शनसे संबंध है, वह एक उच्चकोटिकी वस्तु है, किन्तु कभी-कभी धर्ममें उलटी-पुलटी बातोंका भी समन्वय मिलता है, जिनका उच्च दार्शनिक तत्त्वोंसे मेल नहीं खाता। इसका कारण यह है कि जिन दार्शनिक तत्त्वोंका विवेचन हम पुस्तकोंमें पाते हैं उनसे भिन्न भी दर्शनकी प्रणाली लोक-प्रचलित हो जाती है जिसकी जड़में अन्धविश्वास और खोखले चिन्तन होते हैं। दर्शनके आधारपर धर्मका रूप तर्क-सिद्ध और दृढ होता है, अन्यथा वह निर्बल और दुर्बोध होता है। धर्मकी यह द्विविध प्रणाली समाजमें सदासे चलती आई है।

सिन्धु-सभ्यताकी धार्मिक शृंखला

सिन्धु-सभ्यताके लोगोंने देवताओंकी कल्पना की थी। वे मातृदेवीको प्रायः मिट्टीकी मूर्तियाँ बनाकर पूजते थे। संभवतः मातृदेवीमें प्रकृतिकी प्रतिष्ठा की गई थी। प्रकृति ही मानव-लोकका भरण-पोषण करनेवाली माता है। प्राचीन कालमें सिन्धसे लेकर मिश्रके सभी देशों तक मातृदेवीकी पूजा होती थी। प्रकृतिके मातृदेवीके रूपकी इस कल्पनाका विकास हुआ है, जिसका प्रमाण साँची-स्तूपके एक परिचक्रपर 'उपजकी देवी'के चित्रमें मिलता है। ऋग्वेदमें अदिति, प्रकृति तथा पृथिवीको माताके रूपमें मानकर उनकी स्तुति की गई है। माताकी पूजा कई रूपोंमें आज तक होती आई है।

भारतवर्षमें शिवकी पूजाका प्रारंभ भी इसी समयसे मिलता है। एक मुद्रा-

पर शिवका चित्र मिला है जिसमें शिवके तीन मुख हैं और व पद्मासन लगाये हुए योगकी अवस्थामें बैठे हैं। उनके सिरपर सींगें बनाई गई है और चारों ओर खड़े पशु चित्रित हैं।[१] आगे चलकर शिवकी दो, तीन या चार मुखोंकी मूर्तियाँ ऐतिहासिक युगमें मिली हैं। आबू पर्वतके देवांगणा नामक स्थानपर शिवकी एक तीन मुखवाली मूर्त्ति मिली है। सिन्धु-सभ्यताके शिवके इस चित्रमें ऊर्ध्व लिंग भी है। शिवका एक और चित्र ताम्रपट्टपर मिला है, जिसमें शिव योगासनमें बैठे हैं। उनके दोनों ओर दो भक्त और दो सर्पोंके चित्र भी बने हुए हैं। इस समय योग-क्रियाका प्रचार रहा होगा, जैसा कि इन चित्रोंसे प्रतीत होता है। यह योग-पद्धति पीछे ब्राह्मण, बौद्ध और जैन धर्मोंमें पूर्णरूपसे विकसित हुई। सिन्धु-सभ्यताके युगसे ही भारतवर्षमें शिवकी लिंग-पूजा प्रारंभ हुई थी। इसका सबसे अधिक प्रचार पौराणिक कालमें हुआ। रामायण और महाभारत कालमें भी लिंग-पूजा प्रचलित थी। दक्षिण भारतमें पाषाण-युगका बना हुआ एक सुन्दर लिंग मिला है।

सिन्धु-सभ्यताके लोग शक्तिकी पूजा भी करते थे। एक मुद्रामें बकरेकी बलिका दृश्य अंकित किया गया है। शक्तिकी पूजामें बकरेके बलिदानका महत्त्व उसी समयसे रहा है। आगे चलकर इस शक्ति-पूजाका विकसित रूप शाक्तधर्ममें मिलता है। उपर्युक्त देवताओंके अतिरिक्त वृक्ष एवं उनके अधिष्ठाता देवताओंकी और पशु-पक्षियोंकी पूजाका सिन्धु-सभ्यतामें प्रचार था।

सिन्धु-सभ्यताके लोगोंमें शारीरिक स्वच्छताका विशेष ध्यान रहा होगा। वहाँकी खुदाईमें अनेक कुयें और स्नानागार मिले हैं। संभवतः यहाँके लोग स्नान करनेके पश्चात् अपना कुछ समय पूजा-पाठमें बिताते थे। उनके धार्मिक उत्सवों में नृत्य और संगीतका आयोजन होता था। उस समयकी धार्मिक-शृंखला अब तक टूटी नहीं है और उनका धर्म वैदिक धर्मके साथ मिलकर और स्वतंत्र रूपसे भी अब तक जीवित है।

वैदिक धर्म

भारतीय धर्मकी जिस परम्पराका आरंभ वैदिक कालसे हुआ है, उसका निर्बाध प्रवाह रामायण, महाभारत, पुराण या स्मृति-ग्रंथोंमें मिलता है। ऋग्वेद-

---

[१] शिवके पशुपति-रूप और त्रिशूलकी कल्पना यहीं से आरंभ हुई।

कालमें प्रधान रूपसे देवताओं और प्रकृतिकी शक्तिशाली विभूतियोंकी पूजा, यज्ञों और स्तुतियोंके द्वारा होती थी । उसी समय इन सबके कारणस्वरूप 'पुरुष' या 'ब्रह्म' की उपासनाकी भी नींव पड़ी । सभी देवताओं की एकता का परिचय ऋग्वेदके नीचे लिखे मंत्रसे मिलता है—

एकं सद्विप्रा बहुधावदन्ति, अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

(एक ही सत्को ऋषि लोग अनेकों नाम देते हैं और अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि कहते हैं ।)

ऋग्वेदमें जिन देवताओंकी कल्पना हो चुकी थी, उनमेंसे प्रमुख ये हैं—

आकाशके देवता—द्यौः, वरुण, सूर्य, विष्णु, अश्विन्, उषा, चन्द्र, रात्रि ।

वायुके देवता—इन्द्र, वायु, जल, रुद्र, मरुत् ।

पृथिवीके देवता—अग्नि, सोम, नदियाँ, पृथ्वी, समुद्र ।

लघु देवता—गन्धर्व, अप्सरायें, वन, वृक्ष और पौधोंके अधिष्ठाता देव, कृषि, गोचर और पर्वतोंके अधिष्ठाता देव, गृहदेवता, नक्षत्र, यज्ञके उपकरण और पशु ।

ऋग्वेदमें इनके अतिरिक्त सरस्वती और वाक्देवियोंकी कल्पना की गई और मरे हुए पितरोंको भी दिव्य कोटिमें मानकर उनकी पूजा की जाती थी । पितरोंके राजा यम स्वर्गके राजा माने जाते थे । देवताओंके विरोधी असुरों और राक्षसों-की कल्पना भी उस समय हो चुकी थी ।

वैदिक कालमें लोगोंके जीवनका आदर्श उच्च था । उन लोगोंका विश्वास था कि देवता हमारे आचरणकी देख-भाल करते हैं और कर्तव्य-पथसे च्युत होनेपर दंड देते हैं । प्रायः देवता अच्छे चरित्रके हैं । उनकी पूजा और स्तुति करने-वालोंका चरित्र स्वभावतः शुद्ध रहा होगा । उस समय भी लोगोंकी धारणा थी कि देवता भी उसीका साथ देते हैं जो सत्पथपर चलते हैं और अत्याचारी दंडनीय होते हैं । स्वर्ग और नरककी कल्पनाका लोगोंके आचरणपर प्रभाव पड़ता था ।

प्रत्येक गृहस्थ अपने घरपर हवनकी अग्नि प्रज्वलित करता था और हविके रूपमें देवताओंको दूध, घी, पुरोडाश (जौकी रोटी), मांस और सोमरसका भोजन देता था । सोमरस एक प्रकारके पौधेके रस और दूध इत्यादिको मिलाकर बनाया जाता था । ये ही वस्तुयें उस समयके लोगोंके भोज्य और पेय भी थीं । लोग देवताओंसे अन्न, धन, सन्तान और पशुओंकी वृद्धिके लिये प्रार्थना करते

थे। ऋग्वेदके समय प्रायः सभी आर्योंकी जीवनचर्या इसी प्रकारकी थी किन्तु धीरे-धीरे पुरोहितोंका एक वर्ग बना जो प्रधान रूपसे यज्ञोंके सम्पादनमें लगा रहता था। आर्योंमें पूजाकी विधिका प्रचलन प्रारंभिक अवस्थामें नहीं था। वे मूर्ति बनाकर या देवताके किसी प्रतीकपर फूल-पत्ते, चन्दन, सिन्दूर इत्यादि चढ़ाना; अक्षत, फल-मूल आदिके नैवेद्य अथवा बलिदान किये हुए पशुओंका रक्त अर्पित करना नहीं जानते थे। संभवतः ये रीतियाँ उस समयके भारतीय निवासियों—द्राविड़ों और कोलोंमें प्रचलित थीं और आर्योंके साथ सम्पर्क बढ़नेपर इनका हिन्दू-धर्ममें समन्वय हो गया। आर्य प्रारंभमें स्तुतियोंके द्वारा देवताओंके यज्ञ-भूमिमें आकर आसन ग्रहण करनेकी कल्पना करते थे।

राजा या अन्य समृद्धिशाली लोग पुरोहितोंकी सहायतासे महान् यज्ञोंकी क्रियायें पूरी करते थे। इन यज्ञोंका पूरा विवरण यजुर्वेद और ब्राह्मण-साहित्यमें मिलता है। उस समय प्रधान रूपसे वाजपेय,[1] चातुर्मास्य,[2] दर्शपूर्णमास,[3] पिण्डपितृयज्ञ, सोमयज्ञ, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध इत्यादि विविध प्रकारके यज्ञ विभिन्न अवसरोंपर सम्पन्न किये जाते थे। संस्कारोंके उत्सवके समय भी वैदिक मंत्रोंके द्वारा देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लिये यज्ञ किये जाते थे।

ऋग्वेदमें लोगोंके तपके द्वारा स्वर्ग पानेकी इच्छाका प्रायः उल्लेख मिलता है। लोगोंने कल्पना की थी कि स्वर्गलोकमें सूर्य निवास करता है और वहाँ सदा प्रकाश रहता है। उसमें चारों ओर सुख ही सुख है। यही विष्णु-लोक भी है। केवल पुण्यात्माओंका वहाँ प्रवेश हो सकता है। स्वर्गमें तपस्वियोंके अतिरिक्त युद्ध-वीर और उदार लोग भी जाते हैं। स्वर्गवासी लोगोंको अमरत्व प्राप्त होता है। देवता उनका स्वागत करते हैं। स्वर्गमें माता-पिता और पुत्रोंसे मिलनेका अवसर प्राप्त होता है; जीवन सब प्रकारसे पूर्ण हो जाता है; शारीरिक दुर्बलतायें नहीं रह जातीं; रोग पीछे ही छूट जाते हैं और अंगोंकी रचना सुन्दर रहती है। स्वर्गमें मधुर मुरली और गायनकी स्वर-लहरी सुनाई पड़ती है। सोम, मधु और घीका प्रवाह सबके लिये खुला रहता है। जो कुछ मनुष्य दूसरोंको दान देता है वह उसे स्वर्गमें मिल जाता है।

ऋग्वेदमें नरककी कल्पना नहीं मिलती है, किन्तु अथर्ववेदमें पिशाचों और

---

[1] शक्ति प्राप्त करनेके लिये पेय। [2] ऋतुओंके उत्सव प्रति चौथे मास।
[3] द्वितीया और पूर्णिमाके यज्ञ।

राक्षसोंके लोकका नाम नरक मिलता है। यह लोक स्वर्गके प्रतिकूल बहुत नीचेकी ओर है और वहाँ सदा अन्धकार रहता है। वहाँपर अनेक प्रकारके कष्ट मिलते हैं। लोगोंका विश्वास था कि दुराचारी मनुष्य मरकर राक्षस और पिशाच आदि कोटियोंमें चले जाते हैं।

मरे हुए लोगोंको स्वर्ग-लोक भेजनेके लिये लोग उनके शरीरको अग्निमें जला डालते थे। मृत शरीरको गाड़ देनेकी भी प्रथा ऋग्वेदमें मिलती है। शवको जलानेकी प्रथा सिन्धु-सभ्यतामें भी प्रचलित थी। लोग शवको जलाकर उसकी राखको कलशमें रखते थे। कुछ शव बिना जलाये हुए गाड़ दिये जाते थे।

ऋग्वेदमें पुनर्जन्मवादका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु उपनिषदोंके अनुसार जो मनुष्य अपने पुण्य कर्मोंके द्वारा स्वर्ग प्राप्त करनेमें असमर्थ हैं, वे बार-बार जन्म लेते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद्के अनुसार जैसे कोई कीड़ा किसी तृणके शिखरपर पहुँचकर अपने शरीरका संकोच करके दूसरे तृणपर चला जाता है, उसी प्रकार आत्मा वर्त्तमान शरीरकी उपेक्षा करके अपना संकोच कर लेती है और दूसरे शरीरके रूपमें आश्रय ग्रहण करती है। जैसे कोई स्वर्णकार सोनेके टुकड़ेको लेकर ऐसे रूप बनाता है जो अधिक उपयोगी हों, उसी प्रकार आत्मा ज्ञान प्राप्त करके पितृ, गन्धर्व, देव, प्रजापति, ब्रह्म या अन्य प्राणियोंकी कोटिका रूप धारण कर लेती है। आत्माका ब्रह्ममय हो जाना ही मुक्ति है। मुक्ति पानेके लिये इच्छाहीन हो जाना आवश्यक है। जैसे कोई साँप केंचुल छोड़ देता है, उसी प्रकार आत्मा शरीरका परित्याग कर देता है। केवल ब्रह्मका जाननेवाला मुक्ति पाता है। ब्रह्म पानेका मार्ग ब्रह्ममय है। ब्रह्मको जाननेवाला इस मार्गपर चलता है, जो पुण्यशील है और जिसकी प्रकृति तेजस्विनी है। मुक्ति, पुनर्जन्म, स्वर्ग और नरककी कल्पना इसी रूपमें बौद्ध और जैन धर्मोंमें भी मिलती है, केवल मुक्ति या स्वर्ग पानेके उपायोंमें कुछ-कुछ भेद मिलता है।

उपनिषद् कालसे यज्ञका महत्त्व घटा और उनका स्थान ज्ञान और सदाचारने ले लिया। यज्ञोंके द्वारा मनुष्य मुक्ति नहीं पा सकता। उस समयके उच्चकोटिके विद्वानोंने ब्रह्मज्ञानको ही मुक्तिका कारण माना। साधारण लोगोंमें यज्ञ और कर्मकांडकी प्रतिष्ठा रही, जो महाभारत और पुराणोंके समयमें भी भारतीय समाजमें प्रतिष्ठित रहे हैं।

भागवत या वैष्णव धर्म

भागवत धर्मका उदय उपनिषदोंकी विचार-धारासे ही ईसाके लगभग १४०० वर्ष पहले हुआ। इस धर्मका प्रचार सात्वत लोगोंमें सर्व प्रथम हुआ। ये मथुराके यादवोंकी एक शाखा थे। इस धर्ममें प्रारंभिक कालमें परमात्माकी हरि नामसे भक्तिपूर्वक पूजा होती थी। इसमें यज्ञ और तपके स्थानपर भक्तिको ही प्रधानता दी गई थी। यज्ञ और वैदिक साहित्यका महत्त्व बहुत अधिक नहीं रखा गया। पशुबलिके द्वारा यज्ञ करनेकी विधिकी अवहेलना की गई। इस धर्मके उन्नायक वासुदेव कृष्ण हैं जिनको आगे चलकर विष्णु-भगवान्का अवतार माना गया। कृष्णने भगवद्गीताकी शिक्षाओंके द्वारा भागवत धर्मकी रूप-रेखा स्थिर कर दी। इसमें वेदवाद, संन्यास और यज्ञविधानको हेय ठहराकर समर्पण-बुद्धिसे निष्काम कर्म करते रहनेकी प्रवृत्तिको सर्वोत्कृष्ट बताया गया है। कृष्णके उपदेशका सार यही है कि भक्तिसे परमेश्वरका ज्ञान हो जानेपर भगवद्भक्तको परमेश्वरके समान जगत्के धारण-पोषणके लिये सदा यत्न करते रहना चाहिये। महाभारतके नारायणीय आख्यानमें भागवत धर्मका लक्षण बताया गया है कि 'प्रवृत्तिलक्षणश्चैव धर्मो नारायणात्मकः' अर्थात् नारायणीय अथवा भागवत धर्म प्रवृत्ति-(कर्म) प्रधान है। धीरे-धीरे इस धर्ममें कर्मयोगकी महत्ता कम होती गई और भागवत-पुराणमें वैराग्य-प्रधान वासुदेव-भक्तिको ही श्रेष्ठ माना है। विष्णुके अनेक अवतारोंकी कल्पना हुई, जिनमें रामका नाम सर्वप्रथम आता है। कृष्णके जीवनके संबंधमें बहुतसी सरस कथायें भी चल पड़ीं, जिनके वर्ण्य विषय उनकी अलौकिक लीलायें और गोपियोंकी क्रीडायें हैं।

भागवत धर्मका धीरे-धीरे प्रचार बढ़ा और यह धर्म न केवल भारतवर्षमें ही, वरं विदेशोंमें भी फैला। ईसाके २०० वर्ष पूर्व इस धर्मका प्रचार महाराष्ट्र, राजपुताना और मध्य-भारतमें हो चुका था। सीरियाकी एक कथाके अनुसार संभवतः यह धर्म अर्मीनियामें फैला हुआ था। एशियाके पूर्वी द्वीप-समूहोंमें भी इस धर्मका प्रचार हुआ।

शैव धर्म

शैव धर्मका उल्लेख सिन्धु-सभ्यताकी धार्मिक शृंखलाका वर्णन करते समय हो चुका है। उस समय शिवके लिंगकी पूजा होती थी। वैदिक कालके रुद्र शिवके सर्वप्रथम रूप माने गये हैं। ऋग्वेदमें रुद्र प्रायः संहारक या भयंकर माने

गये हैं। यजुर्वेदमें भी उनके भयंकर रूपकी कल्पना मिलती है, किन्तु साथ ही उनके मंगलकारी होनेका भी उल्लेख किया गया है। जब उनका क्रोध शान्त हो जाता है, तो वे शंभु, शंकर या शिव हो जाते हैं। अथर्ववेदमें शिव महेश्वर हो जाते हैं। उपनिषदोंमें उनको ब्रह्म-रूप बतलाया गया है। ईसाकी तीसरी शताब्दीके लगभग शैव-धर्मकी चार शाखायें—पाशुपत, शैव, कापालिक और कालामुख प्रचलित हुईं। पाशुपत शाखाके लोग शरीरमें भस्म पोतते थे, बैलकी भाँति हुडुक्कारका शब्द करते थे। कापालिक और कालामुख श्मशान-भूमिका सेवन करते थे और खोपड़ीमें बीभत्स भोजन और पान करते थे।

शैव धर्ममें वैदिक धर्मकी श्रद्धाका स्थान भक्तिने ले लिया। वैदिक धर्ममें देवताओंको सन्तुष्ट करनेके लिये बड़े-बड़े यज्ञोंका आयोजन किया जाता था। इन यज्ञोंका रूप प्रायः सार्वजनिक होता था, किन्तु शैवधर्ममें शिवकी आराधना और उपासनाके लिये मन्दिर बने जिसमें शिवकी मूर्ति स्थापित होती थी और लोगोंकी पूजा व्यक्तिगत रूपसे होती थी। शिव सभी देवताओंसे श्रेष्ठ माने जाते थे। शैव धर्मके अनुयायियोंका वैदिक साहित्यमें विश्वास तो था, किन्तु उनके प्रधान धर्म-ग्रंथ पुराण थे।

शैव धर्मका प्रचार लगभग सारे भारतवर्षमें हुआ। छठीं शताब्दीके अन्तिम भागमें अनाम और कम्बोडियामें यह धर्म पहुँचा। सातवीं शताब्दीमें ह्वेनसांगके लेखानुसार इस धर्मकी पाशुपत शाखा बिलोचिस्तानमें प्रचलित थी। काशीमें शैव धर्मका प्रधान केन्द्र था। इसमें अनेक शैव-मन्दिर थे और शिवकी एक ताम्र-मूर्ति लगभग १०० फीट ऊँची थी।

बौद्ध धर्म

बौद्ध धर्मके प्रवर्त्तक महात्मा गौतमबुद्ध शाक्यवंशके राजकुमार थे। इस धर्मकी नींव आजसे लगभग २५०० वर्ष पहले पड़ी। बुद्धने वैदिक धर्मकी तत्कालीन परिस्थितियोंसे ऊबकर स्वतंत्र रूपसे सोच-विचार करना प्रारंभ किया। उन्होंने बोधि-वृक्षके नीचे ध्यान मग्न होकर निश्चित किया कि तप और यज्ञोंसे मनुष्य मुक्ति नहीं पा सकता है। उसे मुक्तिके लिये जीवनको शुद्ध बनाना होगा और अपनी इच्छाओंका निरोध करना होगा। अपनी इस खोजको गौतमबुद्धने चार आर्य-सत्योंके रूपमें इस प्रकार रखा—

(क) मनुष्यका जन्म लेना, जीना और मरना सभी दुःखमय हैं।

(ख) मनुष्यकी इच्छायें ही दुःखका कारण हैं।

(ग) मनुष्य दुःखसे छुटकारा पा सकता है।

और (घ) धर्मके मार्गपर चलनेसे ही इच्छाओंके निरोधके द्वारा दुःखोंसे छुटकारा मिल सकता है।

गौतमबुद्धकी मृत्युके पश्चात् उनके अनुयायियोंमें मतभेद हुआ। आगे चलकर इस धर्मकी दो प्रधान शाखायें हीनयान और महायान हुईं। हीनयान शाखा-के लोग प्राचीन मतके अनुयायी थे। उन्होंने बुद्धकी शिक्षाओंका अक्षरशः पालन किया। वे शुद्ध और पवित्र आचारके द्वारा केवल अपने निर्वाणकी चेष्टा करते थे। वे त्रिपिटकको धार्मिक जीवन-पद्धतिके लिये प्रामाणिक मानते थे। महा-यान शाखा वालोंने बौद्ध धर्ममें भक्तिको स्थान दिया। बोधिसत्त्वोंके[1] प्रति उन्होंने श्रद्धाभाव दिखाया और गौतमबुद्ध एवं बोधिसत्त्वोंकी मूर्तियोंकी पूजा करना प्रारंभ किया। उन्होंने गौतमबुद्धको देवता मान लिया। महायान-शाखाके बौद्ध अनेक वार जन्म लेकर भी सभी प्राणियोंकी निर्वाण-प्राप्तिका यत्न करते थे। इस प्रकार हीनयान महायानकी तुलनामें हीन सिद्ध होता है। महायान, शैव और वैष्णव धर्मोंका एक दूसरेपर प्रभाव पड़ा। तीनों धर्मोंमें मन्दिर और मूर्तियोंकी स्थापना और पूजा होती थी। वैष्णव धर्मके अनुसार गौतमबुद्ध भी विष्णुके अवतार माने गये। दोनों धर्मोंके निकट सम्पर्कमें आनेपर समानताके ही कारण बौद्ध-धर्म वैष्णव-धर्ममें अन्तर्हित होने लगा।

बौद्ध-धर्मका प्रचार केवल भारतवर्षमें ही नहीं अपितु लगभग समग्र एशियामें हुआ। अशोकने इस धर्मको देश-विदेशमें फैलानेका महान् प्रयत्न किया। वह स्वयं घूम-घूमकर धार्मिक व्याख्यानों और विवादोंका प्रबंध कराता था। उसने कर्मचारियोंको भी धर्मका प्रचार करनेकी आज्ञा दी थी। अशोककी शासन-पद्धतिका आधार ही धार्मिक था। उसके भेजे हुए धर्म-प्रचारकोंने सारे एशिया, मिश्र और पूर्वी योरप तकमें जाकर धर्मका प्रसार किया। विदेशके राजाओंके पास भी उसने धर्मदूत भेजे। उसके पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्राने लंकामें धर्म-प्रचार किया। शिलाओं, गुफाओं और स्तंभोंपर अशोकने धर्म-लेख खुदवाये जो आज भी मिलते हैं। अशोकके पश्चात भी बौद्ध धर्मका प्रचार होता रहा।

---

[1] ऐसे जीवधारी जो जन्मान्तरमें बुद्ध होनेकी योग्यता रखते हों।

कुषाणवंशी राजा कनिष्कने भी इस धर्मका विदेशोंमें प्रचार करनेका प्रयत्न अशोककी भाँति किया।

जैन धर्म

जैन धर्मके प्रमुख प्रचारक महावीर गौतम बुद्धके समकालीन थे। यह धर्म भी वैदिक धर्मके यज्ञ-संबंधी क्रिया-कलापोंमें विश्वास न रखनेकी शिक्षा देता है। बौद्ध धर्मकी भाँति इसमें भी आचारकी शुद्धता और अहिंसाको प्रधानता दी गई। दोनों धर्मोंमें जातिका विरोध किया गया और ईश्वर और ब्रह्मकी वैदिक कल्पनाको निस्सार बताया गया। दोनों धर्मोंमें इतनी समानता है कि बहुत काल तक विद्वानोंकी धारणा थी कि जैन धर्म बौद्ध धर्मकी शाखा-मात्र है। दोनों धर्मोंमें मौलिक अन्तर भी हैं। जैन धर्ममें शरीरको कष्ट देनेका महत्त्व ठहराया गया और कठोर जीवन श्रेयस्कर माना गया है, किन्तु बौद्ध धर्म इस कठोरताका प्रतिपादन नहीं करता। अहिंसाका जैन धर्ममें बौद्ध धर्मसे अधिक दृढ़तासे पालन हुआ। इसके अतिरिक्त दोनोंके दार्शनिक आधारमें बहुत अन्तर है। जैन धर्ममें श्वेताम्बर और दिगम्बर दो शाखायें महावीरकी मृत्युके लगभग दो सौ वर्ष पश्चात् चलीं। दिगम्बर हीनयान बौद्धोंकी भाँति प्राचीन शाखाके हैं। वे वस्त्र तक नहीं धारण करते। श्वेताम्बर जैन श्वेतवस्त्र धारण करते हैं। इन दोनों शाखाओंमें बहुत कुछ शास्त्रीय मत-भेद चलता आया है।

जैन धर्मका बौद्ध धर्मकी भाँति विदेशोंमें प्रचार न हो सका। सारे भारतवर्षमें इस धर्मका प्रचार हुआ, किन्तु भागवत और शैव धर्मोंके विरोधमें यह टिक न सका। आजकल भारतमें लगभग २० लाख जैनी हैं। इस धर्ममें बौद्ध, भागवत और शैव धर्मकी प्रणालीपर मूर्तिपूजाका प्रचलन हुआ है। इन सभी धर्मोंका भारतीय मूर्ति और वास्तु-कलापर प्रभाव पड़ा है।

सदाचारका महत्व

उपनिषदोंके समयसे सदाचार और निष्काम कर्मकी महिमाको धार्मिक क्षेत्रमें सबसे अधिक महत्त्व मिला। गीतामें मानव-धर्मके इस अंगका सर्वोच्च विकास दिखाया गया है। उपनिषदोंमें सांसारिक व्यवहारमें सत्यकी आवश्यकतापर जोर दिया गया है। मुंडकोपनिषद्के अनुसार 'सत्यमेव जयते नानृतम्' अर्थात् सत्यकी ही जय होती है, झूठकी नहीं। तैत्तिरीयोपनिषद्में आचार्यने शिष्यको शिक्षा दी है—सच बोलो, धर्मका आचरण करो, अध्ययनसे जी

न चुराओ, सदैव निर्दोष कामोंको ही करो। दूसरोंके अच्छे कामोंको ही आदर्श बनाओ। कठोपनिषद्में इन्द्रियोंको वशमें रखनेकी शिक्षा दी गई है। जो अपनी बुद्धि और मनके द्वारा इन्द्रियोंको वशमें रखता है वही उन्नति करता है, उसीका अभ्युदय होता है। ईशोपनिषद्में सत्कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी इच्छा करने-की सीख दी गई है।

गीताकी शिक्षाका सार ज्ञान-भक्ति-युक्त कर्मयोग है। गीता वर्ण, जाति, देश या किसी अन्य भेदोंके झगड़ेमें न पड़कर अपनी योग्यताके अनुसार उत्साह-पूर्वक सांसारिक कर्तव्योंका निष्काम बुद्धिसे पालन करनेकी सीख देती है। इसी प्रकार सर्वत्र व्याप्त परमात्माका यजन हो सकता है और इसीमें लौकिक और पारलौकिक कल्याण है।

महाभारतमें यज्ञ और दानके साथ ही साथ शील, शिष्टाचार, सत्य, तप माता-पिताकी भक्ति, अतिथि-सत्कार, शरणागतकी रक्षा इत्यादि भी धर्मके अंग माने गये हैं। भीष्मने युधिष्ठिरको दुःखोंसे छुटकारा पानेके उपाय बताते हुए कहा है—जो मनुष्य अपने मनको वशमें करके चारों आश्रमोंमें रहते हुए उनके अनुसार व्यवहार करते हैं, वे दुःखोंके पार हो जाते हैं। जो दंभ नहीं करते, जिनकी जीविका नियमित है, जो विषयोंकी ओर बढ़ती हुई इच्छाको रोकते हं, दूसरोंके कटु वचन सुनकर भी उत्तर नहीं देते, मार खाकर भी किसीको मारते नहीं, स्वयं देते हैं पर दूसरोंसे माँगते नहीं, अतिथियोंको सदा आश्रय देते हैं, कभी किसीकी निन्दा नहीं करते, नित्य नियमपूर्वक स्वाध्याय करते हैं, धर्मको जानते हैं, माता-पिताकी सेवामें लगे रहते हैं, तथा दिनमें सोते नहीं, वे दुःखोंसे छुटकारा पा जाते हैं। पुराणोंमें भी सभी प्राणियोंका हित करनेकी सीख दी गई है। उदाहरणके लिये विष्णुपुराणकी निम्नाङ्कित उक्ति पर्याप्त होगी—

यथात्मनि च पुत्रे च सर्वभूतेषु यस्तथा।
हितकामो हरिस्तेन सर्वदा तोष्यते सुखम्॥

(जो व्यक्ति स्वयं अपने और अपने पुत्रोंके समान ही समस्त प्राणियोंका हित-चिन्तक होता है उससे हरि अनायास ही प्रसन्न रहते हैं।)

आचारकी महिमा बौद्ध और जैन धर्ममें प्रधान रूपसे रही है। गौतमबुद्धने मुक्ति या निर्वाण प्राप्तिके द्वारा जन्म-मरणके बन्धनसे छुटकारा पाकर दुःखसे निवृत्त होनेकी शिक्षा दी है। निर्वाण-प्राप्तिके लिये उन्होंने आष्टांगिक मार्ग (धर्मके आठ अंग)का निर्देश किया। कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको आष्टांगिक

मार्गके अनुसार अपनी उन्नति करनी चाहिये। इस मार्गका विवरण नीचे दिया जाता है—

सम्यक् दृष्टि (दुःखके कारण और उसको दूर करनेके उपायोंको सच मानना), सम्यक् संकल्प (इन्द्रियोंके भोग, ईर्ष्या, और द्रोहका त्याग), सम्यक् वाणी (झूठ, परनिन्दा, कटुवचन, अतिभाषणका त्याग), सम्यक् कर्म (हिंसा, चोरी और पाप कर्मोंका त्याग), सम्यक् आजीविका (बुरे व्यवसायोंका त्याग करके अच्छे व्यवसायोंके द्वारा जीविकोपार्जन करना), सम्यक् व्यायाम (अपने अभ्युदयके लिये ही अपनी शक्तियोंका उपयोग करना), सम्यक् स्मृति (सदैव सावधान रहकर अपनेको पतनके मार्गसे बचाना और अपने मनको अच्छे कामोंमें लगाना) और सम्यक् समाधि (समाधि और ध्यानके द्वारा शान्ति पाना)।

गौतमबुद्धका ईश्वर या देवताओंकी भक्तिमें विश्वास नहीं था। उन्होंने शरीरको कष्ट देनेवाले तपोंका भी विरोध किया और जीवनकी शुद्धता, आत्मसंयम और सदाचारका मार्ग सबके लिये खोलकर उसीसे मुक्तिकी सिद्धि बताई। मनुष्यको उन्नति करनेके लिये न तो भोग-विलासोंकी आवश्यकता है और न शरीर-को कष्ट देनेकी। मनुष्यको अविद्या दूर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। अविद्याके दूर होनेपर ही इच्छासे छुटकारा मिल सकता है। इच्छाओंसे मुक्त हो जाना ही निर्वाण है। गौतमबुद्धने अपने शिष्योंसे कहा—विदेशोंमें जाकर प्रचार करो कि धनी और धनहीन सभी एक हैं, सभी जातियाँ इस धर्ममें वैसे ही आश्रय पा सकती हैं जैसे सभी नदियाँ समुद्रमें मिलती हैं। उन्होंने विश्वबन्धुत्वका प्रचार किया और कहा कि घृणाका नाश घृणासे नहीं हो सकता, प्रेमसे ही घृणाका लोप होगा। क्रोधको करुणासे जीतो, बुराईको भलाईसे जीतो। अपने ऊपर विजय पाना सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विजय है।

गौतम बुद्धके धर्मकी आचार संबंधी महिमाका प्रचार अशोकने भी किया। अपने द्वितीय शिला-लेखमें अशोकने धर्मकी परिभाषा इस प्रकार बताई है—अधिकसे अधिक भलाई और कमसे कम बुराई करना ही धर्म है। दया, उदारता, सत्य और जीवनकी शुद्धता ही धर्मके रूप हैं। तृतीय शिलालेखमें अशोकने अपने दोषोंपर विचार करनेकी आवश्यकता बताई है। मनुष्यको प्रतिज्ञा करनी चाहिये कि किसीसे द्रोह न करूँगा और न किसीकी निन्दा करूँगा। ब्रह्मगिरिके द्वितीय शिलालेखमें अशोकने लिखवाया है कि माता-पिताकी सेवा करनी चाहिये, जीवधारियोंको तुच्छ नहीं समझना चाहिये और सच बोलना चाहिये। जैसे

कोई मनुष्य अपने गुरुका आदर करता है, वैसे ही अपने साथ रहनेवालों और कुलके लोगोंका आदर करना चाहिये। भृत्यों और दासोंसे भी प्रेमका व्यवहार करनेकी सीख आठवें शिलालेखमें दी गई है और मानसिक विकासके द्वारा सभी प्राणियोंके प्रति दया-भाव जागृत करनेकी इच्छा प्रकट की गई है। सभी प्राणियोंकी रक्षा करनेकी बात 'बोधिचर्यावतार'में इन शब्दोंमें मिलती है—

यदा मम परेषां च भयं दुःखं च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामिनेतरम्॥

(जब कि मेरे और दूसरोंके भय और दुःख अप्रिय हैं तो मुझमें कौनसी ऐसी विशेषता है कि मैं केवल अपनी ही रक्षा करूँ और दूसरोंकी नहीं।)

जैन धर्ममें आचारकी शुद्धताके लिये पार्श्वने चार नियम बनाये—सच बोलना, किसी वस्तुका संग्रह न करना, अहिंसा और चोरी न करना। महावीरने पाँचवें नियमके द्वारा ब्रह्मचर्यकी प्रतिष्ठा की। जैन धर्मके अनुयायी पाखण्ड और आडम्बरसे दूर रहने और मन, वचन और कर्मसे शुद्ध रहनेका व्रत लेते हैं। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चरित्र जैनियोंके तीन रत्न हैं।

धार्मिक सहिष्णुता

भारतवर्षमें धार्मिक सहिष्णुता बहुत प्राचीन कालसे ही चली आ रही है। धर्मके प्रतिपादन करनेके लिये प्रायः वाद-विवाद होते थे, अथवा धर्मका प्रचार करनेके लिये व्याख्यान दिये जाते थे, किन्तु धर्मके नामपर युद्ध नहीं होते थे और न तो अन्य धर्मोंके अनुयायियोंको शत्रु समझकर उन्हें दंड ही दिया जाता था। प्रत्येक धर्ममें दूसरे धर्मोंकी अच्छी-अच्छी बातें ले लेनेकी चेष्टा की जाती थी और कुरीतियोंका ज्ञान होते ही उनको मिटा देनेका प्रयत्न किया जाता था। इस प्रकार सभी धर्म एक दूसरेको प्रभावित करते थे। सभी धर्मोंमें प्राणिमात्रपर दया, विश्वबन्धुत्व सत्य, अहिंसा और आचार-विचारकी शुद्धताको सर्वप्रथम स्थान दिया गया; समान रूपसे महापुरुषोंकी प्रतिष्ठा की गई और व्रत तथा उपवासके द्वारा शारीरिक और मानसिक शुद्धता संभव बताई गई। इस प्रकार धार्मिक सहिष्णुताके मूलमें सभी धर्मोंकी तात्त्विक एकता प्रधान रही है।

प्राचीन भारतके लोग प्रधान रूपसे किसी एक धर्मको मानते थे और अन्य धर्मोंके प्रति आदर-भाव रखते थे। कई राजा समान रूपसे विभिन्न धर्मोंकी प्रतिष्ठा करते थे। कभी-कभी तो एक ही राजाको विभिन्न धर्मोंके माननेवाले

अपने-अपने धर्मका अनुयायी समझा करते थे। ऐसे राजाओंमें चन्द्रगुप्त मौर्य, हर्ष[1] और कुमारपालके नाम उल्लेखनीय हैं। धार्मिक सहिष्णुताका सबसे ऊँचा आदर्श अशोकने प्रतिष्ठित किया है। वह प्रधान रूपसे बौद्ध धर्मका प्रचारक होते हुए भी अन्य धर्मोंकी उन्नति चाहता था। राजाओंकी भाँति कलाकारोंने भी विभिन्न धर्मोंकी समान रूपसे प्रतिष्ठा की है। कालिदास शैव थे किन्तु रघुवंश-महाकाव्यमें उन्होंने रामके विष्णु-रूपकी प्रतिष्ठा की है। ऐसी परिस्थितमें शिवके मन्दिरमें वैष्णव मूर्तियोंकी अथवा वैष्णव मन्दिरोंमें शिवकी मूर्तियोंकी स्थापना साधारणसी बात रही है। आज भी लोग मन्दिरोंमें प्राचीन कालकी भाँति एक साथ शैव और वैष्णव मूर्तियोंकी पूजा करते हैं। प्राचीन कालमें एशियाके दक्षिण-पूर्वी द्वीपसमूहमें विभिन्न धर्मोंके प्रचारकोंने अपने-अपने धर्मोंका प्रचार तो किया, किन्तु वहाँके निवासियोंमें किसी एक विशिष्ट धर्मके माननेकी प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। उनके धर्ममें प्रायः वैदिक, वैष्णव, शैव और बौद्ध धर्मोंका सम्मिश्रण मिलता है।

[1] ह्वेनसांगने लिखा है कि हर्ष प्रति पाँचवें वर्ष प्रयाग आकर अपना सर्वस्व दान देता था। पहिले दूसरे और तीसरे दिन क्रमशः बुद्ध, आदित्य और शिवकी मूर्ति स्थापित की जाती थी और भाँति-भाँतिकी वस्तुयें दानमें दी जाती थीं। दान देनेकी क्रिया तीन महीने तक चलती थी। सभी धर्मके माननेवाले साधुओं, अनाथों और लंगड़े-लूलोंको इस अवसरपर दान दिये जाते थे।

एकादश अध्याय

शिल्प

भारतीय दृष्टिसे चित्र, मूर्ति और वास्तु-निर्माण शिल्पके अन्तर्गत आते हैं। इन तीनोंके द्वारा लोग अपनी प्रिय वस्तुओं और मनोभावोंको अमर रूप देनेकी चेष्टा करते आये हैं। जैसा कि हम पहले देख चुके हैं भारतकी प्राचीन संस्कृतिका परिचय प्राप्त करनेमें तत्कालीन शिल्पोंकी सहायता भी ली गई है। सौन्दर्य और अभिव्यक्तिकी दृष्टिसे चित्र उत्तम, मूर्ति मध्यम और वास्तु-निर्माण निम्न कोटिके माध्यम माने गये हैं। इसी क्रममें इनका वर्णन नीचे दिया जाता है।

चित्र

चित्रशिल्पके प्रारंभिक विकासका परिचय उन चित्रोंसे मिला है जो हड़प्पा और मोहेंजोदड़ोकी खुदाईसे प्राप्त हुए हैं। यहांकी मुद्राओं और पट्टियोंपर विविध प्रकारके चित्र मिले हैं। सबसे अच्छे चित्र पशुओंके मिलते हैं जिनमें बैल, भैंस, नीलगाय इत्यादि मुख्य हैं। इन पशुओंका चित्रण स्वाभाविक और यथार्थ है। चित्रोंमें पशुओंके शरीरके प्रत्येक अंगका चित्रण कुशलतापूर्वक दिखाया गया है। बैलके बाल तक चित्रित हो सके हैं। सिन्धु-सभ्यताके लोगोंने मिट्टीके बर्त्तनोंपर भाँति-भाँतिके चित्र बनाये हैं। पकानेके पहले ही कूँचियोंसे बेल-बूटे बनाये जाते थे। बर्तनोंपर ताड़, शिरीष और पीपलके पत्ते, तारे, देवी-देवता, मोर, साँप, बतख, तोते, हरिण, बकरे और मछलियोंके चित्र मिले हैं। एक बर्तन-पर संभवत: कोई कथानक चित्रित किया गया है जिसके प्रथम भागमें एक चोंचवाले पुरुषके इधर-उधर दो बैल जैसे चित्र अंकित हैं। पुरुष बैलोंको रस्सीसे बाँधकर पकड़े हुए है। दूसरे भागके चित्रमें कुत्ता एक पशुपर आक्रमण कर रहा है। वह पशुकी पूँछ पकड़े हुए है। पशुके पीछे दो मोर उड़ते हुए दिखाये गये हैं। दोनों भागोंके चित्रोंके बीचमें एक आठ सींगोंवाला बड़ा बकरा बनाया गया है और इसकी सींगोंमें आठ त्रिशूल लगाये गये हैं। इन चित्रोंके देखनेसे ज्ञात होता है कि सिन्धु-सभ्यताके चित्रकार चित्रणके क्षेत्रमें सफल थे। उनको रंगोंका

ज्ञान था जिनसे वे अपने वर्त्तनोंको रँगा करते थे। उस समय काले, लाल, हरे, पीले आदि रंगोंसे विविध प्रकारके चित्र बर्त्तनोंपर बनाये जाते थे।

वैदिक कालमें चित्रसे यज्ञकी वेदिकायें सजाई जाती थीं, किन्तु उस चित्र-कलाके विषयमें विशेष ज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सका है। महाभारतमें उषाकी सखी चित्रलेखाका उल्लेख मिलता है जिसने तत्कालीन महापुरुषोंकी चित्रावली तैयार की थी। रामायण और विनयपिटकमें राजाओंके चित्रगृहोंका वर्णन मिलता है। उम्मग्ग जातकमें एक सुरंगके चित्रणके विषयमें कहा गया है कि उसमें चित्रकारोंने इन्द्रके वैभव, सुमेरु, समुद्र, चारों महाद्वीप, हिमालय, सूर्य, चन्द्रमा, दिक्पाल और भुवनोंका अंकन किया था। मध्य-भारतकी कैमूर पर्वतकी गुफाओंमें प्रागैतिहासिक कालके मृगया संबंधी चित्र मिले हैं। विन्ध्या-चलमें भी प्राचीन कालके चित्र मिले हैं। रायगढ़ रियासतमें गुफाओंके द्वारपर मृगयाके चित्र बने हुए हैं। एक चित्रमें एक भैंसेको घेरे हुए कुछ शिकारी दिखाये गये हैं। मिर्जापुरकी पहाड़ियोंमें भी मृगयाके चित्र मिलते हैं। ई० पू० प्रथम शताब्दीमें रायगढ़ पहाड़ीकी जोगीमाराकी गुफामें चित्राङ्कन हुआ था। इस चित्रमें तूलिका द्वारा लाल और काले रंगसे दीवालपर घर, पशु और जलजन्तु इत्यादि बनाये गये हैं। जलचरोंमें मकर भी है।

गुप्तकालमें चित्रकलाकी विशेष प्रगति हुई। इस समयकी चित्रशालाओं और चित्राचार्योंका प्रायः उल्लेख काव्यग्रंथोंमें मिलता है। राजकीय चित्र-शालाओंमें राजाके जीवनसे संबंध रखनेवाली घटनायें चित्रित की जाती थीं और साधारण चित्रशालाओंमें सार्वजनिक विषयोंके चित्र होते थे। बाणने नगरकी चित्रशालाओंका वर्णन करते हुए लिखा है कि इसमें देव, दानव, गन्धर्व विद्याधर और नागोंके चित्र बने हैं और इन चित्रोंको पत्तियों और रंगीन पक्षियोंसे सजाया गया है। प्राचीन कालमें विशेष रूपसे मांगलिक अवसरोंपर चित्रणके द्वारा घरोंको सजाया जाता था। राज्यश्रीके विवाहके अवसरपर उसके वासगृहमें प्रीति और रतिका चित्रण मानवरूपमें किया गया था। राज-प्रासादोंकी भित्तियों-पर विभिन्न देशके राजाओंके चित्र बनाये जाते थे। राजाओंके वस्त्रोंपर हंसोंके चित्र बने होते थे।

प्राचीन कालके चित्रोंमें केवल मनुष्यों और उनके भावोंको ही अंकित नहीं किया गया, बल्कि प्राकृतिक दृश्य और पशु-पक्षियोंकी ओर भी कलाकारोंका ध्यान गया। अभिज्ञान शाकुन्तलमें शकुन्तलाके एक चित्रकी कल्पना की गई

है। इस चित्रकी पृष्ठभूमिमें बहती हुई मालिनीके बालूमें हंसकी जोड़ी क्रीडा कर रही है। मालिनीके दोनों ओर हिमालयकी वनभूमि है जिसमें हरिण बैठे हुए हैं। एक वृक्षकी शाखाओंपर वल्कल वस्त्र लटकाये गये हैं और उस वृक्षके नीचे एक मृगी अपनी बाई आँख कृष्ण मृगकी सींगसे रगड़ रही है। राज-प्रासादोंकी भित्तियोंपर मनुष्य और वानरोंके चित्र बनाये जाते थे। कालिदासने रघुवंश महाकाव्यमें राजप्रासादकी भित्तिपर बने हुए कमल-वनसे निकलते हुए हाथीके चित्रका उल्लेख किया है।

गुप्तकालकी चित्र-शैलीका ज्ञान तत्कालीन अजन्ताकी गुफाओंके चित्रोंसे होता है। अजन्तामें कुल २९ गुफायें हैं। इन सबमें कुछ-न-कुछ चित्रण हुआ है। सबसे अच्छे चित्र १, २, १६ और १७वीं गुफाओंमें मिलते हैं। शेष गुफाओंके चित्र धीरे-धीरे मिटकर अधूरे बचे है।

अजन्ताके परिचित्रणमें धार्मिक परम्पराके अनुकूल प्रायः प्राकृतिक दृश्य बनाये गये हैं। विकसित फूलवाले कमलवन, बेलें, लतायें, बन्दनवार, वृक्ष, पशु-पक्षी—हाथी, बैल, हंस और रेखागणितकी आकृतियाँ मिलती हैं। प्रायः चित्रोंमें बुद्धके जीवनकी महत्त्वपूर्ण घटनाओं और जातककी कथाओंके दृश्य मिलते हैं। पहली गुफाकी दालानकी भित्तिपर मार-विजयका दृश्य दिखाया गया है। बोधि वृक्षके नीचे बैठे हुए बुद्धके चारों ओर मार (कामदेव)की सेना आक्रमण करनेकी अवस्थामें चित्रित की गई है। सेनामें भयंकर रूपधारी नाना प्रकारकी योनियोंके जीव हैं और साथ ही उनको लुभानेके लिये सुन्दर रमणियाँ भी हैं। बुद्ध शान्त और गंभीर मुद्रामें ध्यान लगाये हुए बैठे हैं। सोलहवीं गुफामें बुद्धके घर छोड़नेका दृश्य चित्रित है। रात्रिका समय है; यशोधरा और राहुल सोये हुए हैं; सारा राज-परिवार सोया है; केवल एक बुद्ध जगे हुए इन सबको देख रहे हैं। उनकी मुखाकृतिसे भावी कार्यक्रमके योग्य अतिशय उत्साहकी झलक मिलती है। सत्रहवीं गुफामें बुद्ध कपिलवस्तुमें याचना करते हुए दिखाये गये हैं। यशोधरा राहुलको बुद्धको समर्पित कर रही है। भिक्षापात्र लिये हुए बुद्धकी शरणमें राहुल जा रहा है। इस गुफाके एक दूसरे चित्रमें छद्दन्त-बोधिसत्वकी कथा मिलती है। बुद्ध किसी पूर्व जन्ममें छः दाँतके हाथी थे। हाथीकी एक स्त्री अपनी सपत्नीके ईर्ष्यावश आत्महत्या करके राजकुमारी उत्पन्न हुई। इस जन्ममें पूर्व जन्मकी स्मृतिके कारण क्षुब्ध होकर उसने हाथीको मारनेके लिये लोगोंको भेजा। हाथीके व्यक्तित्वसे प्रभावित होकर लोगोंने

उसका वध तो नहीं किया, केवल उसके दाँत काटकर राजकुमारीके सामने ला रखा। राजकुमारी उसे देखते ही मूर्छित हो गई। अन्तमें हाथी उसे उपदेश देता हुआ दिखाया गया है। इस चित्रमें पूरे वनका चित्रण बहुत सफलतासे किया गया है। इसी कालकी बनी हुई लंकामें सिगिरियाकी गुफाओंमें अप्सराओं-का चित्रण मिलता है, जो अजन्ता-शैलीपर ही बना है। अप्सरायें पुष्पवृष्टि कर रही हैं।

अजन्ताकी गुफाओंमें सातवीं शताब्दी तक चित्रांकन होता रहा। सातवीं शताब्दीके एक चित्रमें करुण भावका अंकन किया गया है, जिसमें एक युवती पुरुषके चरणपर गिरकर प्रार्थना करती हुई दिखाई गई है। शृंगार-रसके एक चित्रणमें प्रेयसी और प्रियतमके मिलनका दृश्य अंकित है।

बाघकी गुफाओंका चित्रण भी इसी समय हुआ था। ग्वालियर राज्यमें बाघ नदीके तटपर विन्ध्याचलमें नौ गुफायें हैं। बाघकी चित्रशैली अजंताशैलीसे मिलती-जुलती है। एक चित्रमें रोती हुई स्त्री और उसको आश्वासन देनेवाली स्त्रीका दृश्य है। एक गुफामें नर्तकियोंका सामूहिक नृत्य दिखाया गया है। वे नृत्यकी संगतिका प्रदर्शन करते समय काष्ठदंडोंको लड़ा रही हैं। इसमें नृत्यकी गति और भावोंका यथेष्ट चित्रण किया गया है। इन गुफाओंमें अजंताके समान परिचित्रणका बाहुल्य नहीं है। परिचित्रणमें प्रायः कमलकी बेलें चित्रित की गई हैं।

बम्बई प्रान्तमें बादामीकी गुफाओंके चित्र चालुक्य राजाओंके बनवाये हुए हैं। यहांके चित्रोंमें स्तंभका अवलंबन लेकर खड़ी प्रेमिका, राजपरिवार और नृत्य इत्यादिका दृश्य मिलता है। मद्रासमें तंजोरके समीप सित्तनवासलकी गुफाओंके चित्रोंकी शैली. अजंताशैलीके अनुरूप है। इन गुफाओंमें नृत्य करती हुई स्त्रियोंके चित्रोंका बाहुल्य है। इनमें नृत्यके हाव-भाव और भंगिमाओंका सुरुचिपूर्ण प्रदर्शन है। एक छतपर सरोवरका दृश्य अंकित है। जलमें सघन पद्मवनके बीच बैठे हुए हंस आदि पक्षी और जलजन्तुओंके चित्रणसे प्राकृतिक सौन्दर्यकी अभिवृद्धि हुई है। एक गुफामें उच्च परिवारके पुरुष और स्त्रीका चित्रण है।

अजंतासे लगभग ५० मीलकी दूरीपर एलोराकी पहाड़ीको काटकर कई मन्दिर बनाये गये हैं। इन मन्दिरोंमें भाँति-भाँतिके चित्र बने हुए हैं। यहांकी चित्र-शैली अजंताकी शैलीसे मिलती-जुलती है, किन्तु यह अजंताके समान सफल

नहीं है। एलोराके चित्रोंसे ज्ञात होता है कि आठवीं शतीमें, जब इनकी रचना हुई थी, भारतीय चित्रण ह्रासोन्मुख था।

चित्रणके उपादान

गुप्तकालमें चित्र पत्थर, भित्ति, मिट्टीके वर्त्तन, फलक, वस्त्र, हाथीदाँत और शरीरपर बनाये जाते थे। हाथियोंके शरीरपर ध्वज, शंख, चक्र और स्वस्तिक इत्यादिके चित्र सिन्दूरसे बनाये जाते थे। दीवालको चित्रित करनेके पहले बालूके पलस्तरसे उसे समतल बनाकर उसपर चूना पोता जाता था। फिर उसपर भैंसके चमड़ेको गलाकर बनाया हुआ एक लेप लगाया जाता था। विभिन्न प्रकारके अन्य मसालोंसे दीवालके तलको चिकना किया जाता था। कपोलपर पत्रलेखा चित्रित करनेके पहले चन्दन या शुक्लागुरुका लेप किया जाता था। फिर उसपर गोरोचन या धातुराग लगाया जाता था। वस्त्रपर चित्रकारी करनेके पहले उसे धोकर माँड़से घोटा जाता था। इसके पश्चात् उसपर चित्रकी रूप-रेखा खींच ली जाती थी। चित्रकी रूप-रेखा वर्तिका (पेन्सिल) अथवा तूलिकासे बनाई जाती थी। इस क्रियाको चित्रोन्मीलन कहा जाता था। रेखायें तिन्दुकसे खींची जाती थीं जो ताँबेके पतले तारसे बनाया जाता था। तूलिकामें बछड़ेके कानके पासके रोएँ लगाये जाते थे। चित्रोंको विविध प्रकारके रंगोंसे रँगा जाता था। रंगोंको जिस पेटीमें रखा जाता था उसका नाम वार्तिककरंड था। बाणने रंगोंको रखनेके लिये अलाबूका उल्लेख किया है। विभिन्न रंगोंका उपयोग करनेके लिये अलग-अलग तूलिकायें होती थी। कालांजन वर्तिकासे काला रंग चढ़ाया जाता था। रंगोंके मिलानेकी क्रियाका नाम वर्णसंकर था। वस्त्रोंपर गोरोचनसे चित्र बनाये जाते थे। शंखके चूर्णसे श्वेत, दरदसे शोण, आलक्तकसे लाल, गेरूसे लोहित, हरितालसे पीत और काजलसे काला रंग बनाया जाता था। इनको विभिन्न अनुपातोंमें मिलाकर सैकड़ों प्रकारके रंग बना लिये जाते थे।

चित्र-शैली

प्राचीन कालमें चित्रकारी चार प्रकारकी होती थी। विद्धशैलीमें चित्र किसी वस्तुकी यथार्थ अनुकृति होता था। अविद्धमें कल्पनाके आधारपर चित्रण किया जाता था। रसचित्रोंमें विभिन्न रसोंकी अभिव्यक्ति होती थी और धूलि-चित्रमें विविध रंगोंके चूर्णसे भूमितलपर आकृतियाँ बनाई जाती थीं। चित्रकलाके छः अंग माने गये हैं—रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य-योजन, सादृश्य और वार्णिक

भंग। रूपभेदमें प्राकृतिक दृश्यका अध्ययन एवं आकृति और शिल्पका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। प्रमाणमें निरीक्षणके द्वारा अनुपात, लम्बाई-चौड़ाई, और बनावटकी परख करते हैं। भावमें आकृतिके विकारोंका, जो मनोभावोंके प्रभावसे उत्पन्न होते हैं, अध्ययन किया जाता है। लावण्य-योजनके द्वारा चित्रमें सौन्दर्य और माधुर्य लाते हैं। सादृश्यसे किसी वस्तुकी उसके चित्रसे समानता ज्ञात होती है। चित्रकलाके उपादानों और सिद्धान्तोंके समुचित उपयोगको वार्णिक भंग कहते हैं। शिल्पशास्त्रके अनुसार ऊँचे व्यक्तित्वके मनुष्यका मुँह आयताकार होना चाहिये, उसमें चमक और ऐश्वर्यकी झलक होनी चाहिये। साधारण लोगोंकी मुखाकृति टेढ़ी और त्रिभुजाकार हो सकती है। महापुरुषों और देवताओंके केश घुँघराले और नीले रंगके होने चाहिये। स्त्रियोंके चित्रोंमें विनय, यौवन, सौन्दर्य और माधुर्यका संयोग होना चाहिये। भारतीय चित्रणमें मनोभावोंकी अभिव्यक्ति प्रधान रूपसे की गई है। प्राचीन भारतमें चित्रणके सिद्धान्तोंको शास्त्र रूपमें संगृहीत किया गया था। चित्रशैलीका काव्य—विशेषतः नाटकसे घनिष्ट संबंध रहा है। काव्यके लक्षणोंके आधारपर ही रसकी सृष्टिके लिये उसके अनुरूप लोगोंकी भाव-भंगिमा और प्रातःकाल, सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र, ऋतु, आकाश, पर्वत, नदी, समुद्र, वन, नगर, मनोविनोद, युद्ध इत्यादिका चित्रण किया जाता है।

चित्रकलाका प्रसार

भारतवर्षके विद्यालयोंमें स्त्री और पुरुषोंको चित्रकलाकी उच्च शिक्षा दी जाती थी। इन विद्यालयोंमें पढ़नेके लिये विद्यार्थी विभिन्न देशोंसे आते थे जो यहांकी चित्रकला सीखकर इसका प्रचार विदेशोंमें करते थे। चित्रकलाका संबंध प्रायः धर्म और दर्शनसे रहा है। धर्मके आचार्य चित्रकलाके भी पंडित होते थे। बौद्ध धर्मका प्रचार करनेके लिये बौद्ध भिक्षु अन्य देशोंमें गये और वहाँपर धर्मकी शिक्षाके साथ ही साथ उन्होंने चित्रकलाका भी प्रचार किया। चित्रकला धर्म-प्रचारके लिये सफल और सुन्दर माध्यम रही है। प्रायः धर्म-प्रचारक धर्म संबंधी मनोहर चित्रोंको लेकर विदेशोंमें जाते थे। उनके चित्र धर्मप्रचारके लिये वाणीसे बढ़कर सहायक होते थे। लोग इन चित्रोंसे शीघ्र प्रभावित हो जाते थे। इस प्रकार लंका, जावा, स्याम, वर्मा, नेपाल, खोतान, तिब्बत, जापान, चीन और मध्य एशियामें भारतीय चित्रकला पहुँची।

मूर्ति

भारतवर्षमें मूर्तियोंकी रचना सिन्धु-सभ्यताके समयसे होती आई है। हड़प्पा और मोहेंजोदड़ोकी खुदाईमें असंख्य मिट्टी, पत्थर और धातुओंकी मूर्तियाँ मिली हैं। इन मूर्तियोंमें प्रायः बच्चोंके खिलौने हैं। देवताओंकी मूर्तियाँ भी मिट्टी और पत्थरकी बनी हुई मिलती है। मातृदेवीकी मूर्तियोंकी आँखें कम चौड़ी हैं और मिट्टीकी पट्टियोंसे दिखाई गई हैं। इनकी नाक बादमें जोड़ी गई हैं और नाककी दोनों ओर मिट्टी चिपकाकर गाल बनाये गये हैं। ये मूर्तियाँ प्रायः नग्न हैं। कुछ मूर्तियोंमें एक पतला अधोवस्त्र पहिने हुए देवियाँ दिखाई गई हैं। मुँह दिखानेके लिये मूर्तिमें एक गढ़ा बना दिया गया है और मिट्टीकी छोटी पट्टी लगाकर ओठ दिखाये गये हैं। यहांके लोग मिट्टीकी मूर्तियाँ मन्दिरोंमें देवताओंके लिये समर्पित करते थे। ऐसी मूर्तियोंमें स्त्रियाँ बच्चोंको दूध पिलाती हुई अथवा सिरपर रोटी ले जाती हुई दिखाई गई है। इन मूर्तियोंके अतिरिक्त मिट्टीके खिलौने—बैल और हंस इत्यादि मिलते हैं। खिलौने आगमें अच्छी तरह पकाये गये हैं और इनपर सुन्दर पालिश की गई है। मिट्टीकी मूर्तियाँ सिन्धु-सभ्यताके समयसे लेकर सदा बनती आई हैं। मौर्य कालमें मिट्टीकी मूर्तियोंकी रचना कलापूर्ण होती थी, जैसा कि पटनेमें मिली हुई एक स्त्रीके धड़से ज्ञात होता है। शुंगकालमें मिट्टीकी मूर्तियाँ बनानेके लिये ढाँचा काममें आने लगा था। मौर्य और शुंगकालकी मिट्टीकी बनी हुई असंख्य मूर्तियाँ मिली हैं।

मोहेंजोदड़ोमें पत्थरकी बनी हुई योगीकी एक मूर्ति मिली है। उसकी मुख-मुद्रासे ज्ञात होता है कि वह ध्यानमग्न है। उसकी आँखें अधखुली हैं और नाकके सिरेकी ओर देख रही हैं। अलबास्टर पत्थरकी बनी हुई एक मूर्तिमें घुटने मोड़कर बैठी हुई आकृति दिखाई गई है। हड़प्पामें एक लाल पत्थरकी और दूसरी नीले-काले पत्थरकी बनी हुई मूर्तियोंके केवल धड़ भाग मिले हैं। ये मूर्तियाँ सुन्दर हैं और इनके रूपमें पर्याप्त सौष्ठव है। इन मूर्तियोंके देखनेसे ज्ञात होता है कि तत्कालीन शिल्पका अच्छा विकास हो चुका था। मोहेंजोदड़ोमें पीतलकी बनी हुई नर्तकियोंकी दो मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें नृत्यके हाव-भावका प्रदर्शन किया गया है। मूर्तियोंमें नर्तकियोंके आभूषण भी अंकित हैं। मिट्टीकी बनी हुई नर्तकियोंकी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं।

भारतीय शिल्प और कलाओंकी व्यंजनात्मक शैलीकी रूप-रेखा वैदिक

साहित्यकी कल्पनाओंके द्वारा बहुत कुछ नियत हुई है। ऋग्वेदमें अग्निकी सौ या सहस्र आँखोंका और पुरुष (विश्वरूप)के सहस्र सिर, आँख और पादोंकी कल्पना की गई है। उपनिषदोंमें यथार्थतासे ऊपर उठकर व्यंजनाके सहारे विश्वकी सभी वस्तुओंका निरूपण किया गया है। यही व्यंजनात्मक प्रणाली शिल्प और कलाके क्षेत्रमें आगे चलकर प्रस्फुटित हुई है। पाश्चात्य कलाओंमें यथार्थ या प्रकृतिका अनुकरण मात्र पर्याप्त समझा गया, किन्तु भारतीय कलाओंके पीछे यहांके निवासियोंके पौराणिक, धार्मिक और दार्शनिक कल्पनाओंकी अभि-व्यक्तिके सामने यथार्थको बहुत अधिक महत्त्व नहीं दिया जा सका और व्यंजनात्मक निरूपणके लिये यथार्थके अवलम्ब मात्रसे कल्पित रूपोंकी सृष्टि होने लगी। इस प्रकार विष्णु और शिवकी चार बाहोंकी कल्पना हुई अथवा देव-मन्दिरका शिखर अनन्त आकाशकी ओर संकेत करता हुआ दिखाया गया।

कुछ विद्वानोंकी धारणा है कि वैदिक कालमें मूर्तियाँ नहीं बनाई जाती थीं। यह धारणा निर्मूल प्रतीत होती है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समयकी वनी हुई मूर्तियाँ अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी हैं, किन्तु साहित्यिक उल्लेखोंसे यह सिद्ध हो जाता है कि उस समय भी लोग मूर्ति बनाते थे। ऋग्वेदमें ही इन्द्रको बेचनेका प्रसंग आता है जिससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोग इन्द्रकी प्रतिमायें बनाते थे। अथर्ववेदके अभिचार सूक्तोंमें कई स्थानोंपर स्त्री और पुरुषोंके एक दूसरेको वशमें करनेके लिये मिट्टीकी मूर्तियाँ बनाकर उनपर काँटोंके बाणसे प्रहार करनेका वर्णन मिलता है। शतपथ ब्राह्मणमें शिल्पकी परिभाषा 'यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम्'[1] बताई गई है। ऐतरेय ब्राह्मणमें भी अनुकृतिको शिल्प माना गया है, एवं हाथीकी मूर्तिका उल्लेख है। सूत्र-कालमें मूर्तियोंकी पूजा होती थी। बौधायनने लिखा है कि शिशुके निष्क्रमण-संस्कारके अवसरपर पिता घरसे बाहर जाकर मूर्तिकी पूजा करे। उस समय मूर्तियोंको मन्दिरमें स्थापित किया जाता था।

महाभारत और रामायण कालकी मूर्तियोंका उल्लेख इन ग्रंथोंमें मिलता है। महाभारतके भीष्मपर्वमें देव-मूर्तियोंके काँपने, हँसने और रक्त-वमन करनेका प्रसंग आता है, जिससे प्रतीत होता है कि उस समय लोग देवताओंकी मूर्तियोंसे परिचित थे।

---

[1] जो प्रतिरूप है वही शिल्प है।

ऐतिहासिक युगमें सबसे पहले बनी हुई तीन मूर्तियाँ बिम्बिसार वंशके राजाओं-की मिलती हैं। पहली मूर्ति अजातशत्रु (पाँचवीं शती ईसा पूर्व)की है। यह मथुराके समीप मिली है। दूसरी मूर्ति अजउदयीकी है जो अजातशत्रुका पोता था। तीसरी मूर्ति उदयीके पुत्र नन्दिवर्धनकी है। अन्तिम दो मूर्तियाँ पटनेके पास मिली थीं। ये मूर्तियाँ ईसाके पूर्व पाँचवीं शतीमें बनी थीं। अजातशत्रुकी मूर्ति ८ फीट ८ इंच ऊँची है। मूर्तियोंकी शैली पर्याप्त रूपमें विकसित है। इस विकासमें संभवतः कई सौ वर्ष लगे होंगे। इसी युगकी बनी हुई और तीन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमेंसे दो स्त्रियोंकी और एक पुरुषकी है। इनमेंसे दो मूर्तियाँ मथुरामें और एक ग्वालियर राज्यमें मिली थी।

मौर्यकालमें शिल्पोंकी उन्नतिके लिये राजाओंने बहुत प्रयत्न किया। इस कालकी सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मूर्तियाँ अशोकके स्तंभोंपर मिलती हैं। अशोकके बनवाये हुए तेरह स्तंभ अब तक विद्यमान हैं। स्तंभोंके सिरोंपर सिंह, हाथी, बैल या घोड़ोंकी मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं। सबसे अधिक कौशलपूर्ण मूर्तियाँ सारनाथके स्तंभपर मिलती हैं। यह स्तंभ ई० पू० २४२से २३२के बीच धर्मचक्र-प्रवर्त्तनके स्मारक रूपमें बनवाया गया था। इस स्तंभकी चोटीपर आजकल चार सिंह मिलते हैं। सिंहोंके ऊपर एक धर्मचक्र भी बना था जो टूट-फूटकर गिर पड़ा। सिंहोंके नीचे चौकोर पटियोंपर चार धर्मचक्र बने हुए हैं। सिंहोंकी मूर्तियोंसे अब भी अद्भुत तेज टपकता है। वे सजीव प्रतीत होते हैं। ये सिंह तत्कालीन भारतकी अलौकिक वीरताके प्रतीक हैं। इनके शरीरके घटन और सौष्ठव विश्वशिल्पमें सर्वोत्तम माने गये हैं। मौर्यकालके मूर्तिकौशलका परिचय एक चामरग्राहिणी मूर्तिसे भी मिलता है, जो पटनेके समीप मिली थी। यह मूर्ति भारतीय सौन्दर्यके अनुरूप बनाई गई है। इसके मुखमंडलसे स्त्री-सुलभ स्निग्धताकी झलक मिलती है। इसके अंग-प्रत्यंगमें शिल्पकारने सौष्ठव भरा है। संभवतः कभी यह मूर्ति सम्राट् अशोकके राजप्रासादको सुशोभित करती रही होगी। अशोकके पौत्र दशरथ और सम्प्रतिके शासनकालमें बनी हुई मूर्तियाँ मिली हैं। गया जिलेकी बराबर पहाड़ियोंमें दशरथकी बनवाई हुई गुफाओंमें हाथियोंकी मूर्तियोंका तोरण बनाया गया है। सम्प्रतिकी बनवाई हुई जैन तीर्थङ्करोंकी मूर्तियाँ पटनेके पास मिली हैं।

मौर्योंके पश्चात् शुंगोंका शासन-काल (१८८ ई० पू०से ३० ई०) प्रारंभ हुआ। शुंग-कालमें अशोकके बनवाये हुए साँचीके स्तूपकी परिभित्ति और तोरण

बने । इनको महाराष्ट्रके सातवाहन-वंशी ब्राह्मण राजाओंने बनवाया था। तोरणों-पर प्राय: गौतमबुद्धका जीवन-चरित और जातककी कथायें मूर्तरूपमें अंकित की गई हैं। बुद्धकी जीवन-संबंधी घटनाओंको अंकित करते समय बुद्धका स्थान रिक्त रखा गया है। जन्मके दृश्यमें बुद्धकी माँका चित्रण तो है, किन्तु शिशुका चित्रण नहीं किया गया है। माँ कमलपर बैठी है, दो हाथी स्तंभ रूपमें खड़े होकर अपनी सूँड ऊपरकी ओर उठाकर तोरण बना रहे हैं। घर छोड़नेके दृश्यमें छत्रके नीचे घोड़ा खड़ा है; देवता उसके चरणोंको सहारा दे रहे हैं, किन्तु सवार गौतमका चित्रण नहीं है। वनमें पहुँचनेपर जब गौतम अपने घोड़े और सेवकसे विदा ले रहे हैं, उस समय घोड़ा और सेवक उनके चरणोंको प्रणाम करते हुए दिखाये गये हैं। इसी प्रकार पहली बार उपदेश देनेका चित्रण रिक्त आसन और धर्मचक्रसे किया गया है। इन सभी दृश्योंमें गौतमका अभाव है। परिमूर्तियोंमें विविध प्रकारके पशु-पक्षी—हाथी, मोर, सिंह, बैल, ऊँट और हिरन और यक्ष तथा यक्षिणियाँ बनाई गई हैं। कई दृश्य बुद्ध या बोधिसत्त्वोंकी पूजाके संबंधमें है, जिनमें सिंह, हाथी, हरिण, यक्ष इत्यादि स्तूप या बोधिवृक्षपर पुष्प और मालायें चढ़ा रहे हैं।

शुंग-कालमें भरहुतके स्तूपकी परिभित्ति और तोरणोंकी रचना हुई। इन परिभित्तियों और तोरणोंपर भी साँचीकी ही भाँति बुद्धके जीवनचरित और जातककी कथाओंके दृश्य अंकित किये गये हैं। परिमूर्तियाँ भी लगभग साँचीके ढंगपर ही बनाई गई हैं। कई दृश्योंपर उनकी कथा-वस्तुका परिचय करानेके लिये संक्षिप्त लेख भी मिलते हैं। कथायें प्राय: सरस हैं जो उस समय बहुप्रचलित रही होंगी। हास्यरसकी एक कथामें हाथी सँड़सेसे किसी मनुष्यका दाँत उखाड़ता हुआ दिखाया गया है। शुंग-कालकी मूर्तियाँ भारतके प्राय: सभी भागोंमें मिलती हैं। इस कालकी मूर्तियोंमें सार्वजनिक जीवनका उल्लेख प्राय: मिलता है।

१०० ई० पू०में ग्रीक वैष्णव हेलिओदोरने बेसनगर (ग्वालियर राज्य)में गरुड-स्तंभ बनवाया जो वासुदेव कृष्णकी पूजाका प्रतीक है और अब तक विद्यमान है। वैष्णव सम्प्रदायकी यह पहली कृति उपलब्ध हुई है। आगे चलकर यह सम्प्रदाय मूर्तिशिल्पकी उन्नतिके लिये महत्त्वपूर्ण हो गया है। उड़ीसा प्रान्तमें उदयगिरि और खंडगिरिमें जैनियोंकी लगभग सौ गुफायें इसी कालकी बनी हुई हैं। कई गुफाओंमें मूर्तियाँ भी मिलती हैं। शुंग-कालमें बनी हुई शिवकी मूर्तियाँ और लिंग भी मिलते हैं। इन सब मूर्तियोंको देखनेसे ज्ञात होता है कि

शुंगोंके शासन-कालमें भारतवर्षमें बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव आदि सभी धर्म स्वतंत्र रूपसे विकसित हो रहे थे।

शुंग-कालमें मिट्टीकी मूर्तियाँ बनानेका शिल्प भी प्रचलित रहा। इन मूर्तियोंमें विविध प्रकारके दृश्य बनाये गये हैं। एक मूर्तिमें उदयन और वासवदत्ताके हाथीपर सवार होकर उज्जयिनीसे भागनेकी घटना चित्रित की गई है।

ईसाकी पहली शतीमें कुषाणवंशी राजाओंके शासन-कालमें भारतीय मूर्ति-शिल्प यूनानी शिल्पके सम्पर्कमें आया। कुषाणवंशके बौद्ध राजा कनिष्कका राज्य भारतमें विन्ध्याचलसे लेकर चीनी साम्राज्यके काशगर, यारकन्द और खोतान तक फैला हुआ था। कनिष्कके प्रयत्नसे उसके बड़े साम्राज्यमें बौद्ध धर्मका प्रसार हुआ। इसी समय बौद्ध धर्मकी महायान शाखाकी विशेष प्रगति प्रारंभ हुई। महायान बौद्धोंने महात्मा बुद्धको देव रूपमें प्रतिष्ठित करके पूजना प्रारंभ किया। भारतवर्षके अन्य सम्प्रदायोंमें मूर्तिपूजा बहुत पहलेसे ही प्रचलित थी। कनिष्कने गौतमबुद्धकी मूर्तियाँ बनानेके लिये गांधारके शिल्पियोंको नियुक्त किया। गान्धारमें यूनानी शिल्पकी शैली सिकन्दरके समयसे ही चली आ रही थी। उनके सामने भारतीय शिल्पका आदर्श रखा गया। इस प्रकार जो भारतीय-यूनानी शिल्पका मिश्रण हुआ, वह न तो स्वाभाविक ही था और न समयकी गतिसे परिपक्व ही हो सका था। सबसे पहली मूर्तिमें जो मिश्र शैलीका द्योतक है, गौतमबुद्ध पश्चिमी देशोंकी वेश-भूषामें दिखाये गये हैं। इस शैलीकी मूर्तियोंमें भारतीय व्यंजना अल्पांशमें ही प्रकट होती है, मूर्तियोंमें वास्तविकताके आधारपर शारीरिक सौन्दर्य और सौष्ठव पर्याप्त मात्रामें मिलता है। गौतमबुद्ध की आकृतिसे उनकी सरलता और त्यागभावनाकी झलक नहीं मिलती है। सबसे अधिक यूनानी प्रभाव, जो भारतीय दृष्टिसे हास्यास्पद है, गौतमबुद्धकी मूँछ और रत्न आदि अलंकारोंके रूपमें दिखाई देता है। बौद्ध विषय और यूनानी शिल्पशैलीकी लगभग साठ हजार मूर्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं।

गान्धार-शैलीका प्रसार गान्धार, काबुल, स्वात और भारतके उत्तर पश्चिमी प्रान्तोंमें हुआ। 'यूनानकी शिल्पशैलीने सारे भारतकी शिल्प-शैलीको प्रभावित किया है या नहीं' एक विवादास्पद प्रश्न है। योरपीय विद्वानोंने यूनानके पक्षमें बहुत कुछ कहा है, किन्तु उनके विचार इस संबंधमें संभवतः निर्मूल हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गन्धारका मूर्ति-शिल्प कुषाण कालमें मथुरा तक पहुँचा और मथुरामें भी कुछ मूर्तियाँ मिश्रशैलीकी मिलती हैं, जो तीसरी शती तककी बनी

हुई हैं; किन्तु इसके पहले और पश्चात् भी मथुराकी स्वतंत्र शिल्प-शैली रही है, जिसपर यूनानी मूर्तिकलाका प्रभाव नहीं पड़ा है और जिससे शुंगकालीन भरहुत और साँचीके मूर्तिशिल्पोंका मिश्रण प्रकट होता है। मथुराकी शिल्प-शैली कुषाण राजाओंकी उन मूर्तियोंमें दिखाई पड़ती हैं जो उस नगरमें मिली हैं। इन मूर्तियोंमें गान्धार-शैलीका तनिक भी प्रभाव नहीं है। इन मूर्तियोंसे यही सिद्ध होता है कि मथुरा-शैली उस प्रदेशमें लोक-प्रचलित थी। मथुरा-शैलीकी हजारों मूर्तियाँ, जो कुषाण-कालकी बनी हैं, मिल चुकी हैं।

मथुरा और गान्धार-शैलीके साथ ही साथ दक्षिण भारतमें अमरावतीमें मूर्ति-शिल्पकी विशेष उन्नति हुई। ई० पू० २००से लेकर लगभग २५० ई० तक अमरावतीमें एक स्तूपकी परिभित्ति बनाई गई और ईटोंके बने हुए स्तूपके नीचेके भागको संगमरमरकी पट्टियोंसे ढका गया। यहांके मूर्तिशिल्पमें साँची और भरहुतकी शैलीके अनुरूप बुद्धके जीवनचरितके दृश्य प्रायः अंकित किये गये हैं। इस समय बुद्धकी पूजा प्रचलित हो चुकी थी। अमराजतीकी बुद्ध-मूर्तियाँ छः फुट या इससे अधिक ऊँची भी मिली हैं। इन मूर्तियोंमें भारतीय शिल्पके अनुसार गौतमबुद्धकी गंभीर मुख-मुद्रा और वैराग्य-भाव झलकता है। अमरावतीकी परिभित्तिपर बनी हुई मूर्तियाँ बहुत आकर्षक हैं। इनपर प्रायः कमलके फूल और लताओंके दृश्य मूर्तरूपमें दिखाये गये हैं। भित्तियोंपर विविध प्रकारके पशु, पुरुष और बौने भी बनाये गये हैं। कुषाण कालकी शैव और वैष्णव सम्प्रदायकी मूर्तियाँ अभी तक नहीं मिली हैं। संभवतः ऐसी मूर्तियाँ बहुत कम बनी होंगी, क्योंकि उस समय बौद्ध धर्मकी विशेष उन्नति हो रही थी। दूसरी शताब्दी ईसवीमें भारशिव या नाग राजाओंके शासनकालमें राजाश्रय पाकर शैव सम्प्रदायकी पुनः उन्नति हुई। इस समयके शिल्पकी प्रधान विशेषता मूर्तियोंके लम्बे मुखकी है, जिसका उदाहरण मथुरा संग्रहालयकी एक माताकी मूर्तिमें मिलता है। इसके पहले शुंग और कुषाणकालमें मूर्तियोंके गोल मुख बनाये जाते थे। भारशिवकालमें शिवलिंगकी मूर्तियोंका प्रधान रूपसे विकास हुआ। भारशिवों-का राज्य अन्तमें वाकाटक-वंशमें मिल गया। वाकाटक-वंश भी शैव सम्प्रदायका अनुयायी था। इस वंशके राजाओंने मन्दिरोंमें एकमुख और चतुर्मुख शिवलिंगों-की स्थापना की। वाकाटक-कालकी बनी हुई सबसे अधिक सुन्दर शिवकी चतुर्मुख-मूर्ति मध्य भारतमें अजयगढ़ राज्यके नचनाके मन्दिरमें मिली है। यह मूर्ति पाँचवीं शती ईसवीमें बनी थी, जब भारतवर्षमें गुप्त राजाओंके शासनकालमें

सभी शिल्प, कला और विज्ञानोंकी चरम उन्नति हो रही थी। इसी दृष्टिसे गुप्तोंके शासनकालको स्वर्णयुग कहते हैं। गुप्तकालमें वैष्णव मूर्तियोंका प्रचार बढ़ा, किन्तु उस कालका स्वर्णिम प्रभाव चौथी शतीसे छठी शती तक शैव और बौद्ध सभी सम्प्रदायोंकी मूर्तियोंपर समान रूपसे दृष्टिगोचर होता है। दक्षिण भारतमें वाकाटक और उत्तर भारतमें गुप्तवंशके राज्य सैकड़ों वर्षों तक समकालीन रहे। इन दोनों राज्योंमें पारस्परिक संबंध बहुत घनिष्ट था। यही कारण है कि गुप्तकालमें सारा भारत एक साथ ही संस्कृतिकी दृष्टिसे प्रगतिशील हो सका था।

गुप्तकालमें बनी हुई बुद्धकी सबसे अच्छी मूर्तियाँ सारनाथ, मनकुवर (इलाहाबाद), मथुरा और सुलतानगंज (भागलपुर)में मिली हैं। सारनाथकी मूर्तिमें बुद्ध धर्मचक्र-प्रवर्त्तन करनेकी दशामें दिखाये गये हैं। वे पद्मासन लगाकर बैठे हैं। मनकुवरमें कुमारगुप्तके शासनकालमें बनी हुई मूर्ति मिली है। इस मूर्तिमें बुद्ध पद्मासन लगाकर अभयमुद्रामें बैठे हैं। आसनके दोनों ओर दो सिंह उत्कीर्ण हैं। सिंहोंके बीचमें दो ध्यानी बुद्ध बनाये गये हैं। वहींपर एक धर्मचक्र भी बना है। मथुराकी मूर्तिमें बुद्ध ध्यानमग्न होकर खड़े हैं। उनका मुखमंडल निर्विकार है। इस मूर्तिमें बुद्ध उत्तरीय परिधान धारण किये हुए दिखाये गये हैं। सुलतानगंजकी बुद्धकी मूर्ति ताँबेकी बनी हुई है। यह सात फीट छः इंच ऊँची है। इन सभी मूर्तियोंसे बुद्धकी दिव्य प्रतिभा और शान्त एवं गंभीर व्यक्तित्वकी झलक मिलती है।

वैष्णव सम्प्रदायकी प्रमुख मूर्तियाँ भिलसा, काशी, ललितपुर, पहाड़पुर, भरतपुर और सारनाथमें मिली हैं। भिलसामें विष्णुरूप वाराहके द्वारा पृथिवीका उद्धार मूर्तरूपमें अंकित किया है। वाराहने साहसपूर्वक पृथिवीको अपनी दाढ़ोंपर उठाकर धारण किया है। भिलसाकी विष्णुकी मूर्तिमें विष्णु खड़े दिखाये गये हैं और उनके हाथोंमें गदा और शंख हैं। काशीके समीप गोवर्धनधारी कृष्णकी मूर्ति मिली है। कृष्ण गोवर्धन पर्वतको धारण किये हुए स्वभावतः वीरकी भाँति खड़े हैं। ललितपुर (झाँसी)में गुप्तकालीन मन्दिरका खंडहर मिलता है जिसकी दीवालोंपर अंकित की हुई कई मूर्तियाँ मिलती हैं। एक दृश्यमें शेषनागपर सोये हुए विष्णु दिखाये गये हैं; उनके नाभिपद्मपर ब्रह्मा हैं, लक्ष्मी चरण दाब रही हैं और आकाशसे इन्द्र, शिव और पार्वती इत्यादि यह दृश्य देख रहे हैं। एक दृश्यमें नर-नारायणकी तपोभूमि अंकित की गई है। दोनों मूर्तियाँ

ध्यानमग्न दिखाई गई हैं। अन्य दृश्य अहल्या-उद्धार, गजेन्द्रमोक्ष आदिके हैं। प्रधान मूर्तियोंके चारों ओर सुन्दर, परन्तु संक्षिप्त रूपमें, परिमूर्तियोंका भी अंकन मिलता है।

इन मूर्तियोंके अतिरिक्त पहाड़पुर (राजशाही, बंगाल)में कृष्ण-लीलाकी कई सुन्दर मूर्तियाँ मिली हैं, जिनमें राधाकृष्णका प्रेमालाप और धेनुक-वधकी मूर्तियाँ सबसे अधिक आकर्षक हैं। भरतपुर राज्यमें बलदेवकी एक मूर्ति मिली है जो २७ फीट ऊँची है, दूसरी मूर्ति लक्ष्मीनारायणकी है जो नव फीट ऊँची है। शैव सम्प्रदायकी अतीव मनोरम मूर्ति, जो गुप्तकालका आदर्श मानी जा सकती है, सारनाथके संग्रहालयमें रखी हुई है। इसका जटा-जूट भारतीय शिल्पसे प्रभावित चीन और जापानकी मूर्तिशैलीके अनुरूप है। शिव ध्यानमग्न मुद्रामें दिखाये गये हैं। शिवके मुखपर शान्ति विराजती है। काशीमें कार्तिकेयकी मूर्ति मिलती है, जिसमें वे अपने वाहन मयूरपर बैठे हुए दिखाये गये हैं।

गुप्तकालकी बनी हुई मृण्मूर्तियाँ भी मिली हैं जो प्रायः पत्थरकी मूर्तियोंकी भाँति मनोहर हैं। उस समय चूने और मसालेसे भी मूर्तियाँ बनाई जाती थीं। गुप्तकालके सिक्कोंपर भी विविध प्रकारकी अंकित की हुई मूर्तियाँ मिलती हैं। इन सिक्कोंपर प्रायः राजकीय जीवनका अंकन किया गया है। गुप्तकालके अंतिम भागमें वाराहमिहिर (५०५ ई०)ने बृहत्संहिता लिखी। इसके ५८वें अध्यायमें राम, विष्णु, बलदेव, शाम्ब, ब्रह्मा, स्कन्द, शिव, गिरिजा, बुद्ध, जिन, सूर्य, माता यम, वरुण और कुबेरकी मूर्तियोंका वर्णन किया गया है। इन देवताओं-की मूर्तियाँ उस समय लोक-प्रचलित होंगी। भागवत पुराणमें रत्न, स्वर्ण, लोहा, लकड़ी, बालू और पत्थर आदिकी मूर्तियोंके उल्लेख हैं।

सातवीं शताब्दीमें दक्षिण भारतमें समुद्रतटपर चट्टानोंको काटकर बनाये हुए विशाल मन्दिरोंमें पल्लव राजाओंने तत्कालीन राजाओं और विष्णु भगवान्-की मूर्तियाँ स्थापित कीं। यहांपर एक समूहमें सात मन्दिर मिलते हैं, जिनको 'सप्तरथ' कहते हैं। मन्दिरोंको महेन्द्रवर्मा और नरसिंहवर्माने सातवीं शतीके पूर्वार्द्धमें बनवाया था। इन दोनों राजाओंकी मूर्तियाँ क्रमशः आदिवाराह-रथ और धर्मराज-रथमें मिलती हैं। महिषमंडपमें शेषशायी विष्णुकी मूर्ति है। पास ही महिषासुरसे युद्ध करती हुई दुर्गाकी मूर्ति अंकित की गई है। सबसे महत्त्व-पूर्ण मूर्ति तपस्वी भगीरथकी है। इसका दृश्य ९८ फीट लम्बी और ४३ फीट चौड़ी खड़ी चट्टानपर दिखाया गया है। गंगावतरणके लिये तप करते हुए भगी-

रथका सारा शरीर सूख गया है; केवल शरीरका ढाँचा मात्र बचा है। भगीरथके साथ सहानुभूतिमें देवता और पशु भी तप करते हुए अंकित किये गये हैं। यह दृश्य मानव हृदयको तपोमय जीवनके लिये सहसा उत्साहित कर देता है। सारा वातावरण उदात्त है।

गुप्तकालीन भारतका मूर्तिशिल्प बृहत्तर भारतमें सर्वत्र फैला। सबसे अधिक सुन्दर मन्दिर आठवीं शतीमें जावाके बोरोबुदुर नगरमें शैलेन्द्र राजाओंके बनवाये हुए मिलते हैं। इनमें प्रायः बुद्धके जीवनचरित और जातककी कथाओंकी मूर्तियाँ स्थापित की गई हैं। ईसवी शतीके प्रारंभिक कालमें एशिया माइनरमें कई हिन्दू मन्दिर बने थे जिनमें १२ फीटसे लेकर १५ फीट तक ऊँची मूर्तियाँ स्थापित की गई थीं। काकेशसमें एक अग्निका हिन्दू-मन्दिर था जो उन्नीसवीं शतीके अन्तिम भाग तक खड़ा था।

वास्तु-निर्माण

प्रारंभमें मनुष्योंने भी अपने घर अन्य पशु-पक्षियोंकी भाँति बनाये। इनमेंसे कुछके घर भूमिमें बिल खोदकर तैयार हुए और दूसरोंके घर मिट्टी, पत्थर, काठ और घासके छप्पर डालकर बन गये। इन्हीं बिलोंकी कलाका विकास होते-होते सुन्दर गुफाओंकी रचना होने लगी और आज भी इनके सर्वोत्तम आदर्श कार्ली, अजन्ता और एलोराकी गुफाओंमें प्रत्यक्ष है। मिट्टी, पत्थर, काठ और घासके छप्परके घरोंसे उन्नति करते-करते लोगोंने मोहेंजोदड़ो और हड़प्पाके नगरोंके रम्य भवनोंका निर्माण किया और स्तूपों और चैत्योंको बनाते-बनाते ताजमहलकी रचना की।

सिन्धु-सभ्यताके घर

आजसे लगभग ५००० वर्ष पहलेके घरोंका पता मोहेंजोदड़ोकी खुदाईसे लगा है। इस प्राचीन नगरको देखनेसे ज्ञात होता है कि इसका निर्माण किसी संस्थाकी अध्यक्षतामें हुआ होगा। नगर-निर्माणकी ऐसी अच्छी प्रणाली विश्वकी प्राचीन सभ्यताके इतिहासमें कहीं नहीं मिलती। इस नगरको बनानेके पहले भावी नगरकी योजना अवश्य बना ली गई होगी। यह पहलेसे ही निश्चित हो गया होगा कि कितनी सड़कें बनें और कौन-कौनसी सड़कें किस दिशामें जायँ एवं कितने भवन कितने क्षेत्रफलमें बनाये जायें। सड़कें उत्तरसे दक्षिण या पूर्वसे पश्चिम दिशामें सीधी जाती हैं और उनसे होकर हवाके झोंके आते होंगे जो सारे

नगरकी दूषित वायुको शुद्ध कर देते होंगे। प्रधान सड़क ३० फुटसे अधिक चौड़ी है, जिससे होकर कई गाड़ियाँ और रथ एक साथ निकल सकते होंगे। अन्य कई सड़कें, जो इससे कम चौड़ी हैं, इसको कई स्थानोंपर काटती हैं गलियोंकी चौड़ाई ३ फीटसे ७ फीट तक है। सड़कोंपर जगह-जगहपर कूड़ा इकट्ठा करनेके स्थान बने हुए हैं, जहांपर घरोंसे लाकर लोग कूड़े डाल जाते होंगे।

मोहेंजोदड़ोके घर प्रायः दो खंडोंके हैं। सबसे बड़े घरकी दीवाल २३०·७ फीट लम्बी और ७८·५ फीट चौड़ी है। इसकी बाहरकी दीवालें लगभग ४ फीट चौड़ी हैं। एक घरकी दीवालें ७ फीट चौड़ी हैं। प्रत्येक घरमें कई कमरे बने हुए हैं। बड़े घरोंमें तो ३० कमरे तक मिले हैं। प्रायः प्रत्येक घरमें एक-एक कुआँ, शौचगृह, स्नानागार, हाथ-पैर धोनेके लिये कमरा, आँगन, भांडार-घर और पूजा-पाठके घर बने थे।

मोहेंजोदड़ोके घरोंके द्वार सड़कोंकी ओर बहुत कम होते थे। प्रायः गलियों-की ओर द्वार बनाय जाते थे। घरोंमें खिड़कियोंका अभावसा प्रतीत होता है। किसी-किसी घरमें पत्थरकी जालियाँ मिलती हैं। एक घरमें अलबास्टरकी एक सुन्दर जाली मिली है। ऊपरी खंडोंमें जानेके लिये कुछ घरोंमें सीढ़ियाँ बनी हैं। सीढ़ियाँ प्रायः सँकरी हैं अच्छे घरोंकी छतें प्रायः पक्की ईंटोंसे बनाई गई थीं। साधारण घरोंकी छतें मिट्टी पीटकर बनाई जाती थीं। छत बनानेके लिये दीवालोंमें लकड़ीकी कड़ियाँ लगा दी जाती थीं। घरोंके बनानेमें ईंट, गारा, नीले रंगका सीमेण्ट, लकड़ीकी कड़ियों और पत्थरका उपयोग हुआ है। ईंटोंकी जोड़ाई बहुत दृढ़ हुई है। किसी-किसी घरकी दीवालोंपर पलस्तर भी मिलता है।

दुर्भाग्यवश मोहेंजोदड़ोकी गृहनिर्माण-कलाका क्रमबद्ध विकास अज्ञात है क्योंकि अभी तक बहुत कम प्राचीन नगरोंकी खुदाई हो सकी है। साहित्यिक प्रमाणोंके आधारपर यही कहा जा सकता है कि भारतवर्षमें भवन-निर्माणकी कला सदैव उच्च कोटिकी रही है। वैदिक साहित्यके अनुसार अत्रि सौ द्वारवाले घरमें डाल दिये गये थे; वसिष्ठने तीन तले भवनकी कामना की थी; एक सम्राट् बड़ी सभामें बैठता था, जिसमें सहस्र स्तंभ थे और रहनेके लिये कुछ घर ऐसे बनाये गये थे जिनमें सहस्र द्वार थे। मित्र और वरुणके भवनमें सहस्र स्तंभ और सहस्र द्वार थे। वैदिक कालमें धनी लोगोंके लिये पत्थर या लोहेके विशाल दुर्ग अथवा लकड़ीके प्रासाद बनते थे। छतोंको सहारा देनेके लिये स्तंभ लगाये जाते थे।

स्तंभोंको सुन्दर बनानेके लिये उनपर चित्र अंकित किये जाते थे। एक दुर्गमें सौ दीवालें (शतभुजी) थीं। कुछ घर मिट्टीके भी बनते थे, जिनमें दीन-हीन लोग रहते थे। गौओंके रहनेके लिये गोत्र बनाये जाते थे। घरके कई विभाग होते थे, जिनमेंसे कुछके नाम हविर्धान, अग्निशाला, पत्नीनांसदन (स्त्रियोंका घर), सदः (बैठनेका कमरा) मिलते हैं। आवसथमें संभवतः अतिथि रहते थे। रामायण और महाभारतमें भी ऐसे विशाल घरोंका उल्लेख मिलता है, जिनको साथ लेनेसे सिन्धु-सभ्यताकी भवन-निर्माणकलाके विकासकी शृंखला अंशतः तैयार हो जाती है। वाल्मीकिके अयोध्या-वर्णनसे ज्ञात होता है कि उस नगरके मन्दिर आकाशकी भाँति चमकते थे। उद्यान और सभागृह नगरकी शोभा बढ़ा रहे थे। भवन रत्नजटित थे और कमरे धनधान्य सम्पन्न थे। ऊँचे भवनोंकी चोटियाँ पर्वतशिखरोंकी भाँति शोभायमान थीं। महाभारतमें मयके रचे हुए अद्भुत सभा-भवनका वर्णन मिलता है, जिसको उसने युधिष्ठिरके लिये बनाया था। राजसूय यज्ञके समय जो अतिथि-भवन बनाया गया था वह अत्यन्त ऊँचा और रमणीय था। उसके चारों ओर श्वेत दीवालें थीं, जो बहुत ऊँची थीं। भवनमें सुनहरी खिड़कियाँ लगाई गई थीं। सीढ़ियोंपर सरलतासे चढ़ा जा सकता था। इन वर्णनोंसे प्रतीत होता है कि रामायण और महाभारत-कालमें भवन-निर्माण-कला पूर्णरूपसे विकसित थी।

ईसाके लगभग ६०० वर्ष पूर्वके स्थापत्यका प्रत्यक्ष ज्ञान उस समयकी बनी हुई पत्थरकी दीवालोंसे लगता है. जो आज भी बिहार प्रान्तमें राजगिरि (राजगृह)के समीप मिलती हैं। ये दीवालें उस समय गिरिब्बज (गिरिव्रज) और राजगह (राजगृह) नगरोंकी रक्षा करनेके लिये बनाई गई थीं। इनकी परिधियाँ ४½ मील और ३ मील हैं। इन दीवालोंसे तत्कालीन स्थापत्य शिल्पकी उन्नति का विशेष परिचय नहीं मिल सकता। मौर्यकालमें प्रायः धनी लोगोंके घर ईंटोंके बनते थे। स्ट्राबोने लिखा है—नदियों और समुद्रके किनारेके घर वर्षा और बाढ़के भयसे लकड़ीके बनाये जाते हैं, अन्यत्र ऊँचे घर ईंट और चूनेके बनाये जाते हैं। ईसाके लगभग २५० वर्ष पहलेके बने हुए अशोकके भवनसे तत्कालीन स्थापत्यका अच्छा परिचय मिलता है। अभी कुछ वर्ष हुए इसका कुछ अंश खोदकर निकाला गया है। इसके विषयमें डा० स्पूनरने लिखा है—'यह भली भाँति सुरक्षित है। इसके लकड़ीके लट्ठे आज भी वैसे ही चिकने और पूर्ण हैं जैसे अशोकके समयमें, जब वे लगाये गये थे। इसके बनानेकी विधि ऐसी वैज्ञानिक है कि हम

आज भी इससे अच्छा वास्तु बनानेकी कल्पना नहीं कर सकते। यह अपने युगके वास्तुका आदर्श है।' अशोकका यह भवन सात-आठ सौ वर्षों तक खड़ा रहा। चीनी यात्री फाह्यानने इसको देखा था। उसने इसकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि यह मनुष्यका नहीं अपितु देवताओंका बनाया हुआ है। मेगस्थनीजने मौर्यकालीन राजधानी पटनाके विषयमें लिखा है कि 'इसकी लम्बाई ९·२ मील और चौड़ाई १·७ मील है। इसका आकार समानान्तर चतुर्भुजकी भाँति है। इसके चारों ओर लकड़ीकी दीवाल है जिसमें तीर चलानेके लिये छेद बने हुए हैं। इस दीवालमें ५७० शिखर और ६० द्वार हैं। नगरकी रक्षा करनेके लिये दीवालके सामने ६०० फीट चौड़ी और ४५ फीट गहरी खाई है।' इस समय लंकामें भी स्थापत्यकी उन्नति होती रही। इस द्वीपके अनुराधापुर नामक नगरमें ई० पू० २००के लगभगके बने हुए सहस्र स्तंभोंके साततले भवनका अवशेष अब भी वर्त्तमान है। पुलस्तिपुरमें भी एक ऐसा ही सात-तला भवन उसी समय बना था। पालि-भाषामें ऐसे घरोंको 'सत्त-भूमक-पासाद' कहते थे।

उपर्युक्त स्थापत्यकी विशेषताओंका परिचय तत्कालीन साहित्यिक उल्लेखोंसे भी मिलता है। जातकोंके अनुसार साधारणत: लोगोंके घर ईंटके बनते थे और उनका ऊपरी भाग लकड़ीका होता था। सड़कोंकी ओर खिड़कियाँ होती थीं। घरोंमें सामने और पीछेकी ओर द्वार होते थे। दो सड़कोंपर पड़नेवाला घर अच्छा माना जाता था। बड़े-बड़े घरोंमें चूनेका लेपन होता था और उनकी मनोरम चित्रकारी होती थी। राजाओंका घर नगरके केन्द्रमें होता था और उसमें सात तल होते थे। इनमें लकड़ीके स्तंभ लगाये जाते थे। सीढ़ियाँ भी लकड़ीकी ही बनती थीं, जिनसे होकर लोग विभिन्न तलोंपर आ जा सकते थे। राजभवनका आँगन बड़ा होता था। आँगनके चारों ओर अन्नागार, गोशाला, कोशागार आदि होते थे। राजभवनमें ही राज-सभा बैठती थी। भवनकी खिड़कियोंसे राजा नागरिकोंके कार्य-व्यापार या सड़कके दृश्य देख सकता था।

महाउम्मग जातकमें एक अद्भुत सुरंगका वर्णन मिलता है। सुरंगका प्रवेश-द्वार नगरमें था और बहिर्द्वार गंगाके किनारे था। इसका द्वार अठारह हाथ ऊँचा था जिसमें यन्त्र लगा हुआ था[1]। उस यंत्रसे भीतरके सभी द्वार एक साथ ही बन्द हो जाते थे। सुरंगकी दोनों ओरकी दीवालें ईंटोंसे बनी थीं और

---

[1] यन्तयुत्तद्वार।

चूनेसे जोड़ी गई थीं। छत पट्टियोंसे बनी थी और सिमेण्टसे उसका पलस्तर किया गया था। सारी सुरंग श्वेत रंगी गई थी। इसमें सब मिलाकर ८० बड़े और ६४ छोटे द्वार थे। दोनों ओर सैकड़ों दीपालय थे जो सभी यंत्रके द्वारा एक साथ खुलने या बन्द होते थे। इसमें सोनेके लिये १०१ कमरे बने थे, प्रत्येक पलंगके समीप एक सुन्दर स्त्रीकी मूर्ति रखी गई थी। सुरंगके दोनों ओर चित्रकारी की गई थी।

विनयपिटकमें स्नानागारोंका वर्णन मिलता है, जो ऊँचे चौकपर बनाये जाते थे। इनपर चढ़नेके लिये पत्थरकी सीढ़ियाँ होती थीं। सामनेके मंडपके चारों ओर वेदिका बनाई जाती थी। छत और दीवालें लकड़ीकी बनती थीं। लकड़ीके ऊपर चमड़ा लगाकर उसपर पलस्तर कर दिया जाता था। दीवालके निचले भागमें ईंटें लगाई जाती थीं। भीतरके कमरेको गर्म रखनेके लिये केन्द्र भागमें आग जलती थी। वहां गर्म जलसे नहलाया जाता था। ठंढे पानीसे नहानेके लिये खुली हवामें पोखरे बनते थे। उनमें उतरनेके लिये पत्थरके घाट बनते थे और चारों ओर पत्थरपर विविध प्रकारकी चित्रकारी होती थी। इस प्रकारके बहुतसे पोखरोंके खंडहर अब भी अनुराधापुरमें मिलते है, जो दो हजार वर्षसे अधिक पुराने हैं।

स्तूप

बौद्धकालमें स्तूप-रचनाका प्रचार विशेष रूपसे बढ़ा। सिन्धु-सभ्यता और वैदिक कालसे ही लोग मृत व्यक्तियोंके शरीरको जलानेके पश्चात् बची हुई राख या अस्थिको किसी पात्रमें रखकर भूमिमें गाड़ते आये हैं। स्मारकके रूपमें उस स्थानपर टीला बना देनेकी प्रथा भी रही है। यह टीला गोल बनाया जाता था। बौद्धकालमें ऐसे टीलोंको ईंट और पत्थरसे बनाकर स्थायी रूप दिया जाने लगा और इसका नाम स्तूप पड़ा। केवल धर्मके महान् आचार्योंकी स्मृतिमें ही बड़े-बड़े स्तूप बनाये जाते थे। अशोकके बनवाये हुए स्तूपोंमें साँचीका स्तूप प्रधान है। इसके तलका व्यास १२० फीट और ऊँचाई ५४ फीट है। अशोकके पश्चात् सातवाहन राजाओंने स्तूपकी परिक्रमा करनेके लिये वेदिकायें और चार तोरण बनवाये। तोरण ३३ फीट ऊँचे खंभोंके बनाये गये हैं और उनपर तेहरी कमानीदार बड़ेरियाँ लगाई गई हैं। इन बड़ेरियोंपर विविध प्रकार-की मूर्तियाँ बनी हुई हैं, जिनका उल्लेख पहले हो चुका है। साँचीके स्तूपकी भाँति

भरहुतका स्तूप भी बना था। इसका तल-व्यास ६८ फीट था और चारों ओर वेदिकायें और चार द्वार बने थे। यह स्तूप शुंग-कालमें ईसासे लगभग १५० वर्ष पूर्व बना था। बौद्ध-कालमें इस प्रकार अनेक स्तूप बने। साँचीके स्तूपके आस-पास ही ६०से अधिक स्तूपोंके अवशेष मिले हैं। मद्रास प्रान्तमें गन्तूरके समीप अमरावतीमें ई० पू० २००के लगभग एक स्तूप बना जिसकी वेदिका आन्ध्र राजाओंने तीसरी शती ईसवीमें बनवाई। इस स्तूपका नीचेका भाग संगमरमरसे ढका है। इस वेदिकाका अलंकरण बहुत सुन्दर है। सारनाथका स्तूप जो ४५ फीट ऊँचा है, छठी या सातवीं शताब्दीमें बना था। बंगालमें जरासन्धकी बैठक नामके स्तूपका व्यास २८ फीट और ऊँचाई २१ फीट है। यह लगभग ५०० ई० में बना था। प्राचीन गंधारमें बहुतसे स्तूप थे। उनमेंसे लगभग २० स्तूपोंका एक वर्ग झेलम और सिन्ध नदियोंके बीच मिला है। इनमेंसे सबसे बड़े स्तूपका व्यास १२७ फीट है।

चैत्य और विहार

बौद्ध-कालमें चैत्य और विहारोंका निर्माण अधिक संख्यामें हुआ। इनकी रचना पहाड़ोंको काटकर गुफाके रूपमें होती थी। चैत्य धार्मिक मन्दिर थे जिनमें एकत्र होकर जैन या बौद्ध धर्मके अनुयायी पूजा-पाठ आदि धार्मिक कृत्य करते थे। विहारोंमें इन धर्मोंके अनुयायी रहा करते थे। अभी तक सबसे पुरानी गुफायें गयाके समीप बराबर पहाड़ियोंमें अशोकके द्वारा बनवाई हुई मिली है। इनकी दीवालें पालिशके कारण अब भी चमकती हैं। सबसे अधिक चैत्य और विहार बम्बई प्रान्तके पहाड़ोंमें मिले हैं। पश्चिमी घाटके पहाड़ोंमें आन्ध्रवंशके राजाओंने अनेक गुफायें बनवाई जिनमेंसे भाजा (पूना), वेदसा (पूना), पीथला-खोरा (खानदेश) और कौंडिण्य (कोलाबा)की गुफायें प्रसिद्ध हैं। ये गुफायें बौद्ध सम्प्रदायके साधुओंके लिये थीं। इसी समयकी बनी हुई लगभग सौ गुफायें उड़ीसा प्रान्तके उदयगिरि और खंडगिरिमें मिलती हे। इनमेंसे एक दोतली गुफाका नाम रानीगुफा है। इन गुफाओंमें मूर्तिशिल्पका प्रदर्शन रोचक है। एक गुफामें सम्राट् खारवेलका महत्त्वपूर्ण शिलालेख मिलता है। प्रायः सभी गुफायें एक ही शैलीपर बनी हुई हैं। उनमें द्वारके पास ही एक लम्बा घर और उसके पीछे एक छोटा गोलघर होता है। इनकी छत अर्धगोलाकार होती है। पहली और दूसरी शती ईसवीमें कार्ली, कन्हेरी और नासिककी गुफायें बनीं। कार्लीकी गुफामें आन्ध्र राजाओं और रानियोंकी मूर्तियाँ बनी हैं। यह गुफा

स्थापत्य-शिल्पकी दृष्टिसे सर्वोत्तम मानी गई है। यह १२६ फीट लम्बी और ४५ फीट ७ इंच चौड़ी है। इसका मध्यभाग २५ फीट ७ इंच चौड़ा है। मध्य भागके दोनों ओर पन्द्रह-पन्द्रह स्तंभ वनाये गये हैं। प्रत्येक स्तंभके उपरिभागमें हाथियोंकी दो मूर्तियाँ हैं। इन हाथियोंपर बैठी हुई प्रायः एक स्त्री और एक पुरुष अथवा दो स्त्रियोंकी सुन्दर मूर्तियाँ वनाई गई है। वेदीके पीछेके सात स्तंभ सादे हैं। छत अर्द्धगोलाकार है। ऊपरके छेदसे होकर प्रकाश आता है, जो वेदीपर सबसे अधिक पड़ता है। अजन्ताकी गुफायें चौथी और पाँचवी शताब्दीमें बनी। उसी समयसे लेकर सातवीं शताब्दी तक इनमें चित्रण किया गया जिसका वर्णन पहिले किया जा चुका है। अजन्ताकी सोलहवीं गुफा ६५ फीट लम्बी और इतनी ही चौड़ी है। इसमें २० स्तंभ बनाये गये हैं। इसके दोनों ओर १६ कोठरियाँ और बीचमें एक वड़ा कमरा है। सामने मंडप वना हुआ है और पीछेकी ओर पुण्यस्थान है।

मन्दिर-वास्तु

मन्दिर-वास्तुकी प्रधान विशेषता शिखर है। शिखरकी रूप-रेखा पर्वतोंसे ली गई है। देवताओंका निवास ब्राह्मण धर्मके अनुसार मेरु, मंदर और कैलास आदि पर्वतोंपर है। इसीलिये मन्दिरोंमें देवताओंकी प्रतिष्ठा करनेके लिये उनको पर्वतोंका रूप दिया गया। मन्दिरोंके बाहरी भागोंमें, जो यक्ष-गन्धर्वोंकी मूर्तियाँ वनाई जाती हैं, वे पर्वतोंपर क्रीड़ा करनेवाले यक्ष-गन्धर्वोंके द्योतक हैं। बौद्ध मन्दिरोंमें भी शिखर होते है, किन्तु वे पर्वतोंके शिखरोंकी भाँति नहीं होते हैं। उनके शिखरका आदर्श बौद्धवास्तुके सप्तभौम प्रासादोंसे लिया गया है। बौद्ध मन्दिरके शिखरोंको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है, मानो कई तलेका घर पतला होता हुआ आकाशमें चला गया हो।

शिखरोंका सर्वप्रथम उल्लेख वाल्मीकिने रामायणमें सुग्रीवके गुहा-प्रासादोंके वर्णनमें किया है।[1] शिखरोंके निर्माणकी यह शैली आगे चलकर गुहा-मन्दिरोंमें मिलती है। इस शैलीका सर्वोच्च विकास एलोराके कैलास मन्दिरमें हुआ है जिसको राष्ट्रकूट राजा कृष्णने आठवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें पहाड़ी काटकर बनवाया था। यह गुहा-मन्दिर भारतीय वास्तुशिल्पकी अद्भुत कृति है।

---

[1] शुक्लैः प्रासादशिखरैः कैलासशिखरोपमैः
सर्वकामफलैर्वृक्षैः पुष्पितैरुपशोभितम्॥ ४.३३.१५

कैलास मन्दिरके समीप ही इस शैलीके लगभग ३० मन्दिर और हैं। गुप्तकालके बने हुए गुहा-मन्दिर भोपाल राज्यमें उदयगिरिकी चट्टानोंमें मिलते हैं।

गुहा-मन्दिर प्रायः पहाड़ी प्रदेशोंमें बनाये जाते थे। जहांपर पहाड़ नहीं होते थे वहां भी पत्थरोंके मन्दिर संभवतः ईसाके शतियों पूर्वसे ही बनते आ रहे हैं, किन्तु अभी तक दूसरी ईसवी शतीके पहले बने हुए ऐसे मन्दिरोंके अवशेष नहीं मिले हैं। दूसरी शतीमें भारशिव-वंशके शैव राजाओंने शिवके मन्दिरोंकी नागरशैलीका विकास किया था। नागरशैलीके मन्दिरोंका शिखर चौकोर होता है और क्रमशः पतला होकर आकाशमें ऊँचाई तक जाता है। इनके स्तंभ तथा सामनेका अलंकरण ताड़के वृक्षके समान बनाये जाते हैं। भारशिव राजाओंके समयसे नदी-देवताओंकी मूर्तियाँ मन्दिरोंके द्वारपर बनने लगीं। चौथी शतीमें भारशिव वंशका उत्तराधिकारी वाकाटक वंशका राजा रुद्रसेन हुआ। वाकाटक वंशके राजा भी भारशिवोंकी भाँति शैव थे। उन्होंने शिवके अनेक मन्दिर बनवाये और उसमें शिवके एकमुख और चतुर्मुख लिंगोंकी स्थापना की। इस समयके शिवके मन्दिरमें कैलासके शिखरोंका अनुकरण करनेके लिये चौकोर शिखरके चारों ओर कई पट्टे वढ़ाये हुए मिलते हैं और पार्वतीके मन्दिरमें हिमालय-सूचक मूर्तियाँ उत्कीर्ण की हुई मिलती हैं। ऐसे शिव और पार्वतीके मन्दिर नचना (अजयगढ़ राज्य)में मिलते हैं।

गुप्तकालमें वास्तु-शिल्पकी बहुत उन्नति हुई। कई शतियों तक गुप्त और वाकाटक वंश समकालीन रहे। भारशिव और वाकाटक राजाओंने शैव मन्दिरोंकी और गुप्त राजाओंने वैष्णव मन्दिरोंकी स्थापना की। गुप्त शैलीके बने हुए मन्दिर देवगढ़ (झाँसी जिलेमें), भूमरा, भबुआ (शाहाबाद जिलेमें), एरण (सागर जिलेमें) और साँची आदिमें मिलते हैं। इन मन्दिरोंमें अलंकरणकी प्रचुरता है। प्रायः स्तंभों और द्वारोंको विविध प्रकारकी सुन्दर परिमूर्तियोंसे सजाया गया है। मन्दिरोंके स्तंभ प्रायः गोल या वर्गाकार हैं। साँचीके मन्दिरके स्तंभोंके चौथाई भाग वर्गाकार हैं। इसके ऊपरसे उनकी सजावट की गई है। स्तंभोंके सिरोंपर पट्टियाँ लगी हुई हैं। इन्हींके ऊपर पीठ मिलाकर बैठे हुए सिंहोंकी मूर्तियाँ बनी हैं। सबसे ऊपर पूर्णकलश बनाये गये हैं और उनको फूलोंकी वृत्ताकार मालाओंसे अलंकृत किया गया है। रमणीयताकी दृष्टिसे देवगढ़का शिवमन्दिर सबसे बढ़कर है। इसके द्वारके स्तंभोंके उपरिभागपर दो यक्षिणियोंकी मूर्तियाँ हैं और उनके नीचे हाथमें बाजा लिए हुए

स्त्रियोंकी मूर्तियां हैं। यह गुप्तकालके शिल्पकी सर्वोत्तम कृति मानी गई है।

गुप्त-कालकी वास्तु शैली सातवीं शतीके चालुक्य राजाओंके बनवाये हुए मन्दिरोंमें दिखाई पड़ती है। अइहोलेमें मेगुतिके मन्दिरके मुखमंडप, गर्भगृह और प्रदक्षिणा गुप्त-शैलीके अनुरूप बनी हैं। वहांके लाडखानके मन्दिरमें गंगा-यमुनाको व्यक्त करनेवाली मूर्तियाँ गुप्तकालके भूमराके मन्दिरके द्वार-स्तंभ-पर बनी हुई मूर्तियोंके समान हैं। यहांका दुर्गा-मन्दिर नचनाके पार्वती-मन्दिरसे बहुत अधिक मिलता-जुलता है।

प्राचीन वास्तु-शिल्पका पूरा परिचय 'मानसार' नामक पुस्तकसे प्राप्त होता है। इसमें शिल्पका वैज्ञानिक और शास्त्रीय विवेचन मिलता है। मानसारकी रचना ईसाकी पाँचवींसे लेकर सातवीं शतीके बीच हुई थी। मानसारके अनुसार वास्तुशिल्पका आचार्य स्थपति होता था। वह सभी विज्ञानोंका पंडित, सावधान, आचारवान्, उदार, सरल और ईर्ष्या-द्वेषकी भावनासे रहित होता था। उसका प्रथम सहायक सूत्रग्राही गणितज्ञ होता था और माप लेता था। वर्धकि लकड़ी जोड़ने और रेखाचित्रणमें कुशल होता था। वह स्वभावतः शान्त होता था। इस प्रकारके वास्तुशिल्पके आचार्योंका उल्लेख महाभारतमें भी मिलता है। युधिष्ठिरका सभा-भवन मय नामके स्थपतिकी अध्यक्षतामें बना था। महाभारतमें मयको दानवोंका विश्वकर्मा और प्रधान शिल्पी बताया गया है। पहली शती ईसवीमें अश्वघोषने सौन्दरनन्द महाकाव्यमें लिखा है कि वास्तुज्ञोंने कपिलवास्तु नगरको बनाया। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन कालमें नगरों और गाँवोंका निर्माण वैज्ञानिक ढंगपर होता था। 'मानसार'में ऐसे वास्तु-विज्ञानकी चर्चा की गई है।

मानसारके अनुसार गाँवके लिये वह क्षेत्र सबसे अच्छा है, जिसका ढाल पूर्वकी ओर हो।[1] उस क्षेत्रके पास एक सोता होना चाहिये जो बायेंसे दाहिने बहता हो और वहांपर कुआँ खोदनेपर सात फीटकी गहराईपर पानी आना चाहिये। क्षेत्रकी परीक्षा भूमिके रंग, गन्ध, स्वाद, रूप और स्पर्शके विचारसे भी होती थी। जहांपर छाया, फल और फूल देनेवाले वृक्ष उग सकते हों, वहीं गाँव या नगर बनने चाहिये। पथरीली अथवा गुफावाली भूमि त्याज्य है। गाँवके लिये भूमि चुननेके पश्चात् वह जोती जाती थी। स्थपति स्वयं जोतनेका काम

---

[1] पूर्वकी ओर ढाल होनेसे प्रातःकाल सूर्यकी किरणें शीघ्र आ सकती हैं।

प्रारंभ करता था। भूमिको जोतकर उसमें दिशा-विन्दु नियत किये जाते थे और प्रधान सड़कोंके चिह्न बनाये जाते थे। नगर या गाँवका सारा मानचित्र इस दृष्टिसे बनाया जाता था कि उसकी रक्षा सुविधासे हो सके और सड़कों तथा गलियोंसे होकर वायु और सूर्यकी किरणोंका प्रचुर प्रसार हो। एक सड़क पूर्वसे पश्चिम तक और दूसरी उत्तरसे दक्षिण तक जाती थी। छोटी-छोटी सड़कें इन्हींके समानान्तर निकाली जाती थीं। गाँवकी प्रदक्षिणा करनेके लिये मंगल-वीथी नामकी सड़क होती थी। प्रधान सड़कें अधिकसे अधिक ४० फीट और छोटी सड़कें ८ फीट या इससे अधिक चौड़ी होती थीं। एक घरके लिये २४×१६ वर्ग फीटसे लेकर ४०×३२ वर्ग फीट तक भूमि पर्याप्त समझी जाती थी। एक समूहमें प्रायः चार घर बनते थे। आगे चलकर धनी लोगोंके लिये चार घरोंके मेलसे एक घर बनने लगा। बनावटकी दृष्टिसे ४० प्रकारके गाँवों और नगरोंका उल्लेख मानसारमें मिलता है। सबसे बड़ा नगर ३० वर्गमीलमें फैला होता था, जिसका तिहाई भाग घरोंके लिये और शेष भाग खेती करनेके लिये होता था। गाँवोंकी विभिन्न प्रणालियोंकी कल्पना नीचे लिखे कुछ गाँवोंकी रचना-शैलीसे की जा सकती है—

दंडक वर्गके गाँवोंकी रचना संन्यासीके दंडकी भाँति होती थी। इनमें एकसे पाँच तक समानान्तर लम्बी सड़कें पूर्वसे पश्चिमकी ओर बनाई जाती थीं और तीन छोटी सड़कें उत्तरसे दक्षिण दिशामें जाती थीं। उत्तर-पूर्व और दक्षिण-पश्चिममें दो जलाशय बनते थे। पद्माकर वर्गके गाँवोंकी रचना कमलके पत्तोंकी भाँति होती थी। स्वस्तिक वर्गके गाँव स्वस्तिकके ढाँचेपर 卐 बनाये जाते थे।

जैसा कि मानसारमें लिखा है, पाठाशालायें और धर्म-शिक्षाके केन्द्र गाँवके कोनोंपर बनाये जाते थे, जहां सबसे अधिक शान्ति रहती थी। गाँवके दक्षिण पूर्वके द्वारपर पथिकोंके लिये धर्मशालायें बनती थीं। घरोंकी ऊँचाई एकसे नौ तलकी होती थी। यथासंभव सभी ऊँचे घर एक ही क्षेत्रमें बनाये जाते थे। नगर प्रायः कई गाँवोंका समूह होता था। उसका मापचित्र कई गाँवोंके अलग-अलग मापचित्रोंको इकट्ठा कर देनेसे बन जाता था। मौर्योंकी राजधानी पाटलि-पुत्र कई गाँवोंको राजमार्गों और उपवनोंसे जोड़कर बनाई गई थी।

यदि मानसारमें दिये हुए नगरके वास्तुशिल्पकी तुलना मोहेंजोदड़ोके वास्तु-शिल्पसे की जाय तो यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि इन दोनोंमें गहरा संबंध है और मानसारका वास्तु मोहेंजोदड़ोके वास्तुका विकास मात्र है।

द्वादश अध्याय

विज्ञान

गणित

भारतमें गणित विद्याकी सर्वप्रथम उन्नति हुई। अरबोंने प्रारंभिक गणित भारतसे सीखा और योरपमें उसका प्रचार किया। आजकल गणनाकी जो पद्धति सारे संसारमें प्रचलित है उसका आविष्कार भारतवर्षमें ही हुआ था। इसके अनुसार एकसे दस तकके लिये अलग-अलग चिह्न हैं और दस लिखनेके लिये एकके आगे शून्य बढ़ा दिया जाता है। इस रीतिके आविष्कारसे गणितकी प्रगतिपर बहुत प्रभाव पड़ा है। इसके पहले योरपमें रोमकी पद्धति चलती थी जो इसकी तुलनामें अपूर्ण और कठिन है।

रेखा-गणितका ज्ञान सिन्धु-सभ्यताके लोगोंको था, जैसा कि उनके वास्तु-निर्माणके शिल्पकी प्रगतिसे प्रत्यक्ष सिद्ध होता है। वैदिक कालमें यज्ञके अवसरपर वेदियोंकी रचना करनेके लिये रेखा-गणितकी सहायता ली जाती थी। आठवीं शती ई० पू०में बौधायनने और पाँचवीं शती ई० पू०में आपस्तम्ब और कात्यायनने त्रिभुज, आयत और वर्ग संबंधी रेखागणितके सिद्धान्तोंकी आलोचना की है। शुल्व सूत्रोंमें मापकी विधियाँ दी गई हैं, जिनसे यज्ञके मंडप और हवन-कुंड बनाये जाते थे। सूत्रोंमें विभिन्न प्रकारकी वेदियोंके उल्लेख मिलते हैं, जिनमेंसे कुछके आकार पक्षी, कछुवा, रथके चक्र, वृत्त, समत्रिबाहु त्रिभुज आदिके सदृश बनते थे। चतुरस्रश्येनकी वेदिकाका विस्तार ७½ वर्ग पुरुष[1] होता था। अन्य वेदिकाओंका विस्तार इससे एक-एक पुरुष क्रमशः अधिक होता था। जैसा कि डा० थीबोने लिखा है, उस समय लोग दो या इससे अधिक वर्गोंके बराबर एक वर्ग या दो वर्गोंके अन्तरके बराबर वर्ग, और चतुर्भुज या त्रिभुजके वर्ग बना सकते थे। इसी प्रकार वर्गके वृत्त या वृत्तके

---

[1] एक पुरुष साढ़े चार हाथका होता है।

वर्ग[1] बनानेकी विधियाँ सूत्रोंमें मिलती हैं। हिन्दुओंकी संस्कार विधियोंमें रेखा-गणित संबंधी आकृतियाँ बनाई जाती हैं।

कई विद्वान् भ्रमवश ग्रीसको रेखागणितका जन्मदाता मानते हैं। ग्रीसका प्रथम रेखागणितका विद्वान् पाइथेगोरस (ई० पू० ५४०) था। उससे लगभग दो शती पहले ही इन सूत्रोंकी रचना हो चुकी थी। आर्यभटने छठी शताब्दीमें रेखागणितके सिद्धान्तोंका विकास किया है।

अंकगणित और बीजगणित

भारतीय गणितके विकासका प्रारंभ शून्य और दशमलवके आविष्कारसे हुआ है। भिन्नकी कल्पना, उसका गुणन और भाग, ऐकिक नियम, वर्गमूल और घनमूल, ऋणका चिह्न, ज्यातालिका, π का मूल्य (३·१४१६), बीजगणितमें अक्षरोंके उपयोग और समीकरणसे गणित विज्ञानकी प्रगतिका द्वार खुला। पाँचवीं शतीसे बारहवीं शती तक गणितके विद्वानोंने महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे। ४९९ ई०में आर्यभटने २३ वर्षकी अवस्थामें ज्योतिष और गणितका प्रसिद्ध ग्रंथ 'आर्यभटीय' लिखा। आर्यभट ही भारतमें बीजगणितके जन्मदाता कहे जाते हैं। इस ग्रंथमें गीतिकापाद, गणितपाद, कालक्रियापाद और गोलपादका विवेचन किया गया है।

गीतिकापादमें केवल ग्यारह श्लोक हैं जिनमें स्वरों और व्यंजनोंके संयोगसे संख्याओंके लिखनेकी पद्धतिका वर्णन एक श्लोकमें मिलता है। इसके अनुसार बहुत बड़ी-बड़ी संख्यायें थोड़ेमें ही लिखी जा सकती है।[2] आगे चलकर श्लोकोंमें

---

[1] वृत्तके बराबर वर्ग बनानेकी विधि नीचे लिखी जाती है—

(१) वृत्तके व्यासको आठ भागोंमें बाँटकर (२) उसके एक भागका उनतीसवाँ, (३) फिर उस भागका छठवाँ, (४) फिर उसका आठवाँ भाग ज्ञात करते थे। इस प्रकार चार भाग बन जाते थे। पूरे व्यासमेंसे (१) और (३) वाला भाग घटा देनेपर जो शेष बचता था वह वर्गकी एक भुजा होती थी। अंक पद्धतिमें व्यासका $१ - \frac{१}{८} + \frac{१}{८ \times २९} - \frac{१}{८ \times २९ \times ६} + \frac{१}{८ \times २९ \times ६ \times ८}$ वर्गकी भुजा होती है।

[2] वर्गाक्षराणिवर्गेऽवर्गेऽवर्गाक्षराणि कात् ङमौ यः, खद्विनवेस्वरा नव वर्गेऽवर्गे नवान्त्यवर्गे वा।

युग, राशि, अंश, कला आदिका संबंध बताया गया है जिनका संबंध ज्योतिषसे है। गणितपादके ३० श्लोकोंमें बीजगणित और रेखागणितके नियम बताये गये हैं। विभिन्न आकारकी वस्तुओंके क्षेत्रफल और घनफल, व्यास और परिधिका संबंध आदि निकालनेकी रीति दिखाई गई है और ब्याज तथा त्रैराशिकके सिद्धान्त तथा समीकरणका उपयोग बताया गया है। कालक्रियापाद और गोलपादका संबंध ज्योतिषसे है।

आर्यभटने सिद्ध किया है कि जिन तारोंको हम रात्रिके समय चलता हुआ देखते हैं वे वास्तवमें चलते नहीं। जिस प्रकार नावपर बैठा हुआ मनुष्य स्थिर वस्तुओंकी गति देखता है और उन्हें पीछेकी ओर जाते हुए अनुभव करता है, उसी प्रकार तारे जो स्थिर हैं, गतिमान् प्रतीत होते हैं। आर्यभटके पश्चात् वराहमिहिर (५०५ ई०) भास्कर प्रथम (५२२ ई०) ब्रह्मगुप्त (६२८ ई०) इत्यादि गणितके प्रसिद्ध आचार्य हुए जिनका वर्णन नीचे किया जायगा।

ज्योतिष

ऋग्वेदमें ज्योतिष-विज्ञानकी प्रगतिका उल्लेख है। वर्ष बारह चान्द्रमासोंमें बाँटा गया था और सौर वर्ष बनानेके लिये अधिक मास जोड़ दिया जाता था। वर्षके छः ऋतु मधु, माधव, शुक्र, शुचि, नभ और नभस्य माने गये थे। चन्द्रकी विभिन्न अवस्थाओंकी गणना हो चुकी थी। चन्द्र और नक्षत्रोंकी गतिका लोगोंने अध्ययन किया था। उपनिषद् कालमें २८ नक्षत्रोंकी गणना होती थी। वैदिक कालमें यज्ञोंका समय नक्षत्रों और चन्द्रकी गतिके अनुसार नियत किया जाता था। ई० पू० १५००के लगभग ज्योतिषवेदांगकी रचना हुई। इसके संग्रहकर्त्ता महात्मा लगध थे। इस पुस्तकमें युग, वर्ष, मास, अधिकमास, उत्तरायण, दक्षिणायन, दिन और रात्रिका मान और नक्षत्रोंकी चाल आदिके विषयमें गणितकी प्रक्रियाओंका विवरण दिया हुआ है।

(क से लेकर वर्ग अक्षरोंको अवर्गस्थानोंमें व्यवहार करना चाहिये। इस प्रकार ङ और म मिलकर य होता है। वर्ग और अवर्ग स्थानोंके नवके दूने शून्यों को नव स्वर प्रकट करते हैं। यही क्रिया नव वर्ग स्थानोंके अन्तके पश्चात् दुहरानी चाहिये।) इसके अनुसार क=१ ख=२ च=६ ट=११ म=२५ अ=१ इ=१०० उ=१०००० इत्यादि।

ज्योतिष-वेदांगके पश्चात् ज्योतिष-विषयक कई ग्रंथोंकी रचना हुई, जिनके केवल नाम-मात्र प्राप्त हो सके हैं। इस पुस्तकके पश्चात् आर्यभटका रचा हुआ ग्रंथ आर्यभटीय मिलता है। आर्यभटीयके गीतिकापादमें राशि, अंश, कला आदिका संबंध; आकाश-कक्षाका विस्तार; पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदिकी गति; पृथिवीके व्यास तथा सूर्य, चन्द्रमा और ग्रहोंके बिम्बोंके व्यासके परिमाण; ग्रहों-की क्रान्ति और विक्षेप; उनके पातों और मन्दोच्चोंके स्थान; उनकी मन्द परि-धियों और शीघ्र परिधियोंके परिमाण इत्यादिका परिचय दिया है। कालक्रिया-पादमें विभिन्न प्रकारके मास, वर्ष और युगोंका संबंध बतलाया गया है। इसके अन्तिम २० श्लोकोंमें ग्रहोंकी मध्यम और स्पष्ट गति संबंधी नियम हैं। गोल-पादमें सूर्यका ग्रहोंसे अन्तर और उनका सूर्यके प्रकाशसे आधे भागका प्रकाशित होना तथा शेष आधे भागका अपनी ही छायासे अप्रकाशित रहना, और भूगोल एवं खगोल संबंधी कुछ बातोंका विवेचन मिलता है। आर्यभटके शिष्य भास्कर (प्रथम)के लिखे हुये दो ग्रंथ महाभास्करीय और लघुभास्करीय मिले हैं। इन ग्रंथोंमें आर्यभटकी खोजोंका समावेश है।

आर्यभटके समकालीन वराहमिहिरने पंचसिद्धान्तिका, बृहत्संहिता और बृहज्जातक नामके तीन ग्रंथोंको रचा। पंचसिद्धान्तिकामें पौलिश, रोमक, वसिष्ठ, सौर और पैतामह—इन पाँच सिद्धान्तोंका संग्रह है। इसमें ग्रहणकी गणना करनेके नियमोंका सविस्तर उल्लेख मिलता है। रोमक सिद्धान्त तत्का-लीन यूनानी ज्योतिषके आधारपर बनाया गया था। बृहत्संहितामें आकाश और अन्तरिक्षमें होनेवाली घटनाओं, ग्रहोंकी चाल, उनके संयोग, धूमकेतु, उल्का-पात आदिका विवरण दिया गया है। बृहज्जातकमें जातक (जन्म और जीवन-पर नक्षत्रोंके प्रभावकी गणना) दी हुई है। वराहमिहिरका सूर्यसिद्धान्त भार-तीय ज्योतिषका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसके प्रथम ११ अध्यायोंमें क्रमशः मध्यम, स्पष्ट, त्रिप्रश्न, चन्द्रग्रहण, सूर्यग्रहण, परिलेखा, ग्रहयुति, नक्षत्रग्रहयुति, उदयास्त, श्रृंगोन्नति और पात अधिकारोंका वर्णन है। अन्तिम तीन अध्याय क्रमशः भूगोल, ज्योतिषोपनिषद् और मानसंबंधी हैं।

सातवीं शताब्दीमें ब्रह्मगुप्त गणित और ज्योतिषके महान् विद्वान् हुए। उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंकी खोजोंकी आलोचना की है और उनको यथा-संभव शुद्ध करनेका सफल प्रयास किया है। इनकी दो पुस्तकें ब्राह्मस्फुट सिद्धान्त और खंडखाद्यक मिलती हैं। इन दोनोंके अनुवाद अरबी भाषामें हुए थे।

ब्राह्मस्फुट सिद्धान्तके मध्यमाधिकारमें ग्रहोंके मध्यम गतिकी गणना, स्पष्टाधिकारमें स्पष्टगति जाननेकी रीति; त्रिप्रश्नाधिकारमें दिशा, देश और काल जाननेकी रीति, चन्द्र और सूर्य ग्रहणाधिकारमें चन्द्र और सूर्य ग्रहणका विवेचन; उदयास्ताधिकारमें ग्रहोंके उदय और अस्त होनेकी दिशा; चन्द्रशृंगोन्नति-अधिकारमें द्वितीयाके चन्द्रकी शृंगकी तुलनात्मक ऊँचाई; चन्द्रच्छायाधिकारमें उदय और अस्त होते हुए चन्द्रमाके वेधसे छाया, शंकु आदिके ज्ञान करानेकी रीति; ग्रहयुति अधिकारमें ग्रहोंका एक दूसरेके सन्निकट होना; भग्रहयुति अधिकारमें नक्षत्रों और तारोंके साथ ग्रहोंकी युति; तन्त्रपरीक्षाध्यायमें पूर्ववर्ती आचार्योंका मत-संशोधन आदि मिलते हैं।

ब्राह्मस्फुटका गणिताध्याय अंकगणित संबंधी है। इसमें जोड़, घटाव, गुणा, भाग, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, भिन्नोंका प्रयोग, त्रैराशिक, श्रेढी-व्यवहार, क्षेत्र-व्यवहार, खेत-व्यवहार (खाई आदिका घनफल जाननेकी रीति), चिति-व्यवहार (ढालू खाईका धनफल जाननेकी रीति), क्राकचिक व्यवहार (आरा चलानेवालेके कामका गणित), राशि-व्यवहार (अन्नराशिका परिमाण जाननेकी रीति), छाया-व्यवहार (दीप-स्तम्भ और उसकी छाया संबंधी प्रश्न करनेकी रीति) आदि मिलते हैं।

मध्यगति-उत्तराध्यायसे लेकर शृंगोन्नति-उत्तराध्याय तक पुनः ज्योतिष-की बातें मिलती हैं। इनमें ग्रहोंकी गति और ग्रहण और चन्द्रमाकी शृंगोन्नति संबंधी विषयोंका विवेचन है। कुट्टकाध्यायमें ग्रहोंके भगण कालके विषयमें बतलाकर आगे अंकगणित और बीजगणितके नियमोंका विवेचन है। शंकुच्छायादि ज्ञानाध्यायमें छायासे समय या किसी वस्तुकी ऊँचाई आदि जाननेका नियम दिया हुआ है। इसके छन्दश्चिति उत्तराध्यायमें कुल १९ श्लोक हैं किन्तु अभी तक इनका अर्थ नहीं समझा जा सका है। गोलाध्यायमें भूगोल और खगोल संबंधी गणितकी चर्चा है और ग्रहोंके बिम्बोंके व्यास आदि जाननेकी रीतियाँ दी हुई हैं।

ब्राह्मस्फुटका यंत्राध्याय सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके ५७ श्लोकोंमें तत्कालीन ज्योतिष संबंधी यंत्रोंका वर्णन किया गया है जिनसे समयका ज्ञान होता था और ग्रहोंके उन्नतांश और नतांश आदि जाने जाते थे। स्वयं वह यंत्र पारेकी सहायतासे अपने आप चलता था। मानाध्यायमें सौरचान्द्र आदि नवमानोंका विवरण है। संज्ञा-अध्याय इस ग्रंथकी भूमिका, विषय-

सूची और प्रस्तावनाकी भाँति है। इसके २४ अध्यायोंमें कुल १००८ आर्या छन्द हैं।

खंडखाद्यमें तिथि, नक्षत्र और ग्रहोंकी गणनाके सरल नियम बताये गये हैं। इसमें कुल दस अध्याय हैं। इसकी रचनामें ब्रह्मगुप्तने आर्यभटीयकी पूरी सहायता ली है।

भारतवर्षसे गणित और ज्योतिषके विद्वान् विदेशोंमें गये और वहांपर भारतीय विज्ञानोंका प्रचार किया। आठवीं शताब्दीके मध्य भागमें कुछ विद्वान् गणित और ज्योतिषकी पुस्तकें लेकर बगदाद पहुँचे। इसके पहले ही अरबी भाषामें आर्यभटीय आदि ग्रंथोंका अनुवाद हो चुका था। उस समय भारतीय गणितके सहारे अरबी गणितका विकास हो रहा था। बगदाद विद्याका महान् केन्द्र था, वहांपर ज्ञान प्राप्त करनेके लिये चारों ओरसे विद्यार्थी आते थे। यहीसे भारतीय गणित योरप और एशियाके अन्य देशोंमें पहुँचा। पहले तो भारतीय गणना पद्धतिका योरपमें घोर विरोध हुआ, फिर यह सर्वमान्य हुई। सबसे पहले सिसलीमें ११३४ ई०में इसका प्रयोग मिलता है। ब्रिटेनने १४९० ई०में भारतीय गणनापद्धतिको अपनाया।[1]

आयुर्वेद

सिन्धु-सभ्यताके लोग रोगोंकी चिकित्सा करनेके लिये औषधोंका प्रयोग करते थे। वे संभवतः हरिणकी सींगोंका चूर्ण बनाकर कुछ रोगोंका निदान करते थे। मोहेंजोदड़ोमें काश्मीरी बारहसिंगा, चीतल, साँभर तथा पारेकी सींगें मिली हैं। इस नगरमें शिलाजीत भी मिली है। इसका उपयोग आज भी बल बढ़ानेके लिये होता है। रोगोंकी चिकित्साके लिये औषधोंके अतिरिक्त ताबीजोंका प्रयोग भी उस समय होता था।

वैदिक कालमें आयुर्वेद विज्ञानकी विशेष प्रगति हो चुकी थी। उस समय चिकित्साके लिये प्रायः जड़ी-बूटियों(औषधि)से औषध बनाये जाते थे। धीरे-धीरे औषध शब्दका प्रयोग सभी प्रकारके रोग-नाशक द्रव्योंके लिये होने लगा।

---

[1] ज्योतिषका ऐतिहासिक परिचय श्री महावीर प्रसाद श्रीवास्तवके लेख 'भारतीय ज्योतिष' के आधारपर लिखा गया है जो 'विज्ञान' पत्रमें नवम्बर १९४४ में प्रकाशित है।

ऋग्वेद-कालके आयुर्वेदका सबसे अद्भुत चमत्कार वैज्ञानिक साधनोंके द्वारा अंगोंका जोड़ देना अथवा वृद्ध मनुष्यको युवा बना देना रहा है। युद्ध-भूमिमें यदि किसी योद्धाके पाँव कट जाते थे तो उसे लोहेके पाँव लगाकर पुनः लड़नेके योग्य बनाया जा सकता था। जिन योद्धाओंकी आँखमें तीर लग जाते थे अथवा जिनके दाँत टूट जाते थे उनको बनावटी आँख या दाँतसे सुसज्जित किया जाता था। बूढ़े च्यवनको अश्विद्वयने एक बार और युवा बना दिया था।

ऋग्वेदके अनुसार तत्कालीन वैज्ञानिकोंने भोजन और पेयका स्वास्थ्यकी दृष्टिसे विश्लेषण करके जान लिया था कि कौन-कौनसी वस्तुयें हितकर हैं अथवा उनको किस प्रकार तैयार किया जाय कि अधिकसे अधिक स्वादिष्ट और स्वास्थ्य-प्रद सिद्ध हों। उन्होंने शरीरके सभी अंगोंका अध्ययन किया था और इस ज्ञान-की सहायतासे राजयक्ष्मा या क्षयकी सफल चिकित्सा कर सकते थे। ऋग्वेदमें मानसिक चिकित्साका भी उल्लेख मिलता है। इसके द्वारा भय, क्रोध आदि मनोविकारोंका नियंत्रण करके रोगीके चित्तकी शान्तिके उपाय किये जाते थे और स्तुतियों या मन्त्रोंके पाठसे रोगोंको दूर किया जाता था।

ऋग्वेद-कालमें रोग-निवारणके लिये आयुर्वेदके आचार्य इधर-उधर भ्रमण करते थे। वे आयुर्वेद संबंधी खोज करनेके लिये अपने घरके चारों ओर औष-धियाँ रोपते थे जैसा कि ऋग्वेदके नीचे लिखे मन्त्रसे ज्ञात होता है—

यत्रोषधीः समग्मत राजानः समिताविव
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः।

(वही ब्राह्मण वैद्य है जिसके चारों ओर औषधियाँ उसी प्रकार रहती हैं जैसे राजाके आसपास उसकी समिति।)

यों तो यजुर्वेद और सामवेदमें भी ऋग्वेदकी भाँति औषधियोंकी उपयोगिताके उल्लेख मिलतें हैं, किंतु अथर्ववेदमें प्रधान रूपसे रोगोंकी चिकित्साका वर्णन मिलता है। अथर्ववेदके प्रधान ऋषि अथर्वा स्वयं वैद्य थे। इस वेदमें ज्वर, क्षय, खाँसी, पाण्डु, शूल, क्षत, नेत्र-दोष, बालोंका गिरना, छातीकी पीड़ा, पक्षाघात, उन्माद आदि रोगोंका उपचार मंत्रों और औषधोंके द्वारा बताया गया है। जल-मिश्रित जौ सभी रोगोंमें लाभप्रद कहा गया है।[1] रोग और रोगाणुओंका

---

[1] आजकल भी रोगियोंके लिये प्रायः यह पदार्थ दिया जाता है। इसका आधुनिक प्रचलित नाम बार्लीवाटर है जो अंगरेजी का शब्द है।

नाश करनेके लिये गूगुलकी मीठी गंधको उपयोगी बताया गया है। ब्राह्मण, उपनिषद्, और सूत्रसाहित्यके उल्लेखोंसे ज्ञात होता है कि आयुर्वेद-विज्ञानकी यह प्रगति कभी रुकी नहीं। महाभारतमें आयुर्वेदकी अष्टांग-चिकित्सामें निपुण वैद्योंका उल्लेख मिलता है। रामायणमें लक्ष्मणके मूर्च्छित होनेपर पर्वतकी औषधियोंसे उनका उपचार करनेका वर्णन है।

जातकोंके अनुसार घावोंपर तेलका लेप किया जाता था और ऊपरसे कपड़ा बाँध दिया जाता था। अतिसारको दूर करनेके लिये जंगली चावलकी खिचड़ी खिलाई जाती थी। अपचका निदान घी और अन्य औषधियोंके प्रयोगसे किया जाता था। कोढ़पर एक लेप लगाया जाता था और पट्टी बाँध दी जाती थी। वैद्य पहले रोगका कारण जाननेका प्रयत्न करते थे और फिर चिकित्सा बताते थे।

वैद्य औषधि-प्रयोगके अतिरिक्त शल्य (चीर-फाड़)में भी निपुण होते थे। यदि किसीकी नाक कट जाती तो उसे बनावटी नाकसे सज्जित कर दिया जाता था। सीवक नामक एक वैद्यने सिवि राजाकी दोनों आँखें निकालकर उनसे एक अंधे ब्राह्मणको नेत्रवान् बना दिया। इस प्रसंगमें आँख निकालने और लगानेकी पूरी विधि दी गई है। महावग्गमें जीवक नामक वैद्यके अद्‌भुत शल्यके उल्लेख मिलते हैं। एक बार शिरकी पीड़ाका निदान करनेके लिये उसने एक मनुष्यके शिरको चीरकर उसमेंसे दो कीड़ोंको निकाल बाहर किया और फिर घावको सीकर रोगीको चंगा कर दिया। इसी प्रकार उसने किसी मनुष्यके पेटको चीर दिया और अँतड़ियोंको सुधारकर उसे सी दिया।

कौटिल्यके समयकी आयुर्वेद संबंधी खोजोंपर अर्थशास्त्रसे प्रकाश पड़ता है। कौटिल्यने अर्थशास्त्रमें अनेक पौधे, फलों, फूलों और पशु-पक्षियों आदिके गुणोंका विवेचन करके ऐसे द्रव्योंके बनानेकी विधियाँ लिखी हैं, जिनको जलानेसे शत्रु अंधा हो जाय, खानेसे मृत्यु या उन्माद हो जाय, शरीरपर लगानेसे काला हो जाय, और आँखोंमें लगाकर रात्रिमें देखने लगे। कौटिल्यने विषके प्रभाव और उन्मादसे छुड़ानेवाले औषधोंका वर्णन किया है और कोढ़, क्षय और शिरकी पीड़ाको दूर करनेके लिये औषध बनानेकी विधियां लिखी हैं।

आयुर्वेदका सर्वप्रथम ग्रंथ चरककी संहिता है। चरकके समयका ठीक निर्णय नहीं हो सका है, किन्तु इतना तो निश्चय ही है कि वे ईसवी शतीके सैकड़ों वर्ष पहले हो चुके थे। पहली शती ईसवीमें अश्वघोषने चिकित्साशास्त्रके जन्मदाता आत्रेयका उल्लेख किया है। चरक इसी आत्रेयके शिष्य हैं। चरकका

नाम पाणिनिने 'कठचरकाल्लुक'सूत्रमें निर्देश किया है। पाणिनिका समय कमसे कम सातवीं शती ईसवी पूर्व माना गया है। इस प्रकार चरक ईसासे कमसे कम आठ शती पूर्व हुए होंगे। चरकसंहिता केवल चरककी ही कृति नहीं रह गई है बल्कि इसमें कई परवर्ती आचार्योंने अपनी-अपनी खोजें जोड़ दी हैं। इन आचार्योंमें दृढ़बलका नाम प्रसिद्ध है जो आठवीं या नवी शतीमें हुआ था। चरकने भी इस संहितामें अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके ग्रंथोंका समावेश किया है, जिनमें अग्निवेश प्रमुख है। चरकसंहिताका आठ स्थानों (अध्यायों)में विभाजन हुआ है। (१) सूत्र स्थानमें औषध, पथ्य और वैद्योंके कर्तव्यका वर्णन किया गया है। (२) निदान-स्थानमें आठ प्रमुख रोगों—ज्वर, रक्तस्राव, कोढ़, क्षय आदिका वर्णन है। (३) विमान स्थान रोगोंकी पहचान और उनके औषधोंका विधान है। इसमें नये वैद्योंको कर्तव्य परायण होनेकी सीख दी गई है—उन्हें प्राणपणसे चिकित्सा करनी चाहिये, किसी रोगीको कभी हानि नहीं पहुँचानी चाहिये, रोगीके घरकी बातें कही नहीं कहनी चाहिये और न कभी कोई ऐसी बात करनी चाहिये जिससे रोगीके आरोग्यपर बुरा प्रभाव पडे। (४) शरीर-स्थानमें शरीरकी बनावटका अध्ययन है। (५) इन्द्रिय-स्थानमें इन्द्रियोंकी विकृतिका विवेचन और उनके रोगों—चमड़ेका रंग बदलना, वाणीका विकार, शक्तिकी कमी इत्यादिका उल्लेख है। (६) चिकित्सा-स्थानमें रोगोंका निदान, स्वास्थ्य सुधारने, दीर्घायु प्राप्त करनेके उपाय, गठिया, पक्षघात, फोड़े, ज्वर, अतिसार, खाँसी, और विष-प्रभाव आदिकी चिकित्सा बताई गई है। (७) कल्पस्थानमें शरीर-शोधन द्वारा रोग न होने देने और रोगसे बचनेके उपाय कहे गये हैं और (८) सिद्धिस्थानमें विषमरोगीकी चिकित्साके लिये इंजेक्शन आदिकी विधियाँ दी गई हैं।

चरकके पश्चात् ईसवी शतीके कई सौ वर्ष पहले आयुर्वेदके दूसरे महान् आचार्य सुश्रुतका प्रादुर्भाव हुआ। सुश्रुतने भी चरककी भाँति छः स्थानोंमें रोगोंके निदानका वर्णन किया है। चरकने निदानके लिये औषधोंका विशेष रूपसे उल्लेख किया है और सुश्रुतने प्रधानतः शल्य (चीर-फाड़)के द्वारा रोगोंका शमन बताया है। सुश्रुतने वैद्योंका कर्तव्य-पथ निर्धारित करते हुए आदेश दिया है कि 'रोगियोंको अपने बंधु-बान्धव जैसा मानकर चिकित्सा करनी चाहिये, चाहे वे संन्यासी, मित्र, पड़ोसी, विधवा; अनाथ, दीन-हीन या पथिक क्यों न हो। किन्तु शिकारी, व्याधे, जातिसे बहिष्कृत अथवा पापियोंकी चिकित्सा नहीं करनी

चाहिये।' भेलसंहितामें भी चरक और सुश्रुतकी पद्धतिका अनुसरण किया गया है।

१८६० ईसवीमें बावर महोदयने काशगरमें एक आयुर्वेदका ग्रंथ पाया, जिसका नाम बावर ग्रंथ रखा गया है। यह ग्रंथ संभवतः चौथी शती ईसवीमें लिखा गया। इसके प्रथम अध्यायमें लशुनके गुण बताये गये हैं। यह दीर्घायु प्रदान करता है। द्वितीय अध्यायमें एक ऐसा पेय बताया गया है जिससे मनुष्य हजार वर्ष जी सकता है, साथ ही इसमें आँखको धोनेकी और अंजन बनानेकी विधियाँ दी हुई हैं। तीसरे अध्यायमें चौदह प्रकारके औषधोंका वर्णन किया गया है जिनसे शरीरके बाहर और भीतरके रोगोंकी चिकित्सा होती है। इस ग्रंथमें आत्रेय, क्षारपाणि, जातुकर्ण, पराशर, भेल और हारीत आदि आयुर्वेदके आचार्योंके उल्लेख मिलते हैं।

आयुर्वेद विज्ञानका प्रसार एशिया, योरप और अफ्रीकाके विभिन्न देशोंमें हुआ। तक्षशिलाके विश्वविद्यालयमें फारस और सीरिया आदि देशोंसे आकर विद्यार्थी आयुर्वेदका अध्ययन करते थे। भारतीय वैद्य अन्य देशोंमें बुलाये जाते थे और प्रायः राजाओंके असाध्य रोगोंकी चिकित्सा करते थे। अरबी भाषामे आयुर्वेदके ब्रह्मसिद्धान्त, खण्डखाद्य, चरकसंहिता, सुश्रुतसंहिता, अष्टांगहृदय, निदान आदि ग्रंथोंके अनुवाद हुए। अरबीमें चरकका शरक, सुश्रुतका सरसद, अष्टांगहृदयका अशगार और निदानका जेदान नाम मिलता है। अरबसे होकर आयुर्वेद-विज्ञान योरप और अफ्रीकाके देशोंमें पहुँचा। ए० बी० कीथने लिखा है कि 'ग्रीसने भारतसे कई औषधियोंका उपयोग सीखा है।' बनावटी नाक बनानेकी प्रणाली भारतीय तथा अरबदेशीय चिकित्साशास्त्रोंसे पन्द्रहवीं शताब्दी-में सिसली देशमें प्रचलित हुई थी। योरपके आधुनिक चीर-फाड़के यंत्रोंमेंसे कई भारतीय शल्य-यंत्रोंके अनुरूप बने हैं। अशोकने दूसरे शिलालेखमें लिख-वाया है कि 'उसने भारतके राज्योंके अतिरिक्त यूनानी राजा अन्तिओकस तथा अन्य पड़ोसी राजाओंके राज्यमें मनुष्यों और पशुओंके लिये औषधि भेजा। मनुष्य, या पशुओंके लिये उपयोगी औषधियाँ जहां नहीं होती थी, वहां उनको लगवाया।'

एशियाके पूर्वी देशों और द्वीप-समूहोंमें भी भारतीय चिकित्साका प्रसार हुआ। इन देशोंका भारतसे प्राचीन सांस्कृतिक संबंध रहा है। इन सभी देशोंमें चरक और सुश्रुतकी संहिताओंका अनुवाद हो चुका था। चीनकी चिकित्सा-पद्धति प्रधान रूपसे भारतीय पद्धतिके अनुकूल विकसित हुई है।

अन्य विज्ञान

भारतमें उपर्युक्त विज्ञानोंके अतिरिक्त रसायन और भूत-विज्ञान (केमिस्ट्री और फीजिक्स) का अध्ययन 'दर्शन'के अध्ययनके साथ ही साथ हुआ। प्रधानतः वैशेषिक दर्शनमें पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशके विभिन्न रूपोंका अणु और परमाणुओंमें विभाजन करके विश्लेषण किया गया और उनके विशिष्ट गुण निर्धारित किये गये। लोगोंने पशु-पक्षियों और वनस्पति आदिका भी शास्त्रीय दृष्टिसे विवेचन किया था। आयुर्वेदकी पद्धतिमें इन सभी विज्ञानोंकी सहायता ली जाती थी। आयुर्वेदके साथ ही रसायनकी विशेष प्रगति हुई। कृषि-विज्ञान-का परिचय 'उद्योग-धन्धे' नामक अध्यायमें किया जा चुका है। संभवतः खनिज पदार्थोंको निकालनेमें भी वैज्ञानिक पद्धतिका अनुसरण किया जाता था। आयु-र्वेदमें लगभग सभी खनिज पदार्थोंका विश्लेषण करके पौष्टिक तत्त्वोंका अनु-सन्धान किया गया है और रोगोंकी चिकित्साके लिये उनका विविध प्रकारसे उपयोग हुआ है। निदानके लिये धातुओंके भस्म बनानेकी प्रक्रिया ईसाके कई शती पूर्वसे ही प्रचलित रही है।

त्रयोदश अध्याय

भाषा और साहित्य (१)

(वैदिक काल)

भारतवर्षमें आजसे लगभग ५००० वर्ष पहले लिखने और पढ़नेका प्रचलन था। उस समयकी सिन्धु-सभ्यताके लोगोंकी लिपि अभी तक पढ़ी नही जा सकी है, अतः उनकी भाषाके विषयमें कुछ भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। सिन्धु-सभ्यताकी लिपि प्रायः बाईं ओरसे दाईं ओर पढ़ी जाती थी और लिखावटमें अक्षर और चित्र दोनोंका उपयोग होता था। उनकी लिखावट सुदर और दृढ़ होती थी।

भारतीय साहित्य-परम्पराके सर्वप्रथम ग्रंथ वेद मिलते हैं। इनके पहलेका साहित्य नहीं मिलता। वैदिक साहित्य विश्वका प्राचीनतम साहित्य है। केवल भारतवर्ष ही नहीं, अपितु सारा संसार, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे, इसके द्वारा कुछ न कुछ प्रभावित हुआ है। भारतीय संस्कृतिके प्रधान स्रोत वेद ही हैं। इस देशमें साहित्य, दर्शन, धर्म, कला इत्यादिकी प्रगति प्रधानतः वेदोंके आधारपर ही हुई है। वेदका अर्थ 'ज्ञान' है। इनमें वैदिक कालके भारतवासियोंके ज्ञानकी राशि संचित है। वेदोंसे तीन प्रकारके ग्रंथोंका बोध होता है—(१) संहिता, (२) ब्राह्मण और (३) आरण्यक तथा उपनिषद्। संहिताओंमें प्रायः स्तुति, प्रार्थना, मंत्र और यज्ञके रहस्योंके संचय मिलते हैं। ब्राह्मणोंमें यज्ञ-संबंधी कार्य-क्रमकी व्याख्यायें प्रधान रूपसे मिलती हैं। आरण्यक और उपनिषद् वनवासी मुनियोंके ब्रह्म, विश्व और मानव संबंधी चिन्तन है। वैदिक साहित्यकी ये तीनों कोटियाँ आपसमें संबद्ध हैं।

ऋग्वेद

संहिताओंके चार विभाग हैं—ऋग्वेद, अथर्ववेद, सामवेद और यजुर्वेद। इनमेंसे ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। ऋक्का अर्थ है स्तुतियाँ। ऋग्वेदमें प्रायः देवताओंकी स्तुतियाँ भरी पड़ी हैं। ये स्तुतियाँ उस समयके कवियोंकी रचनायें

हैं। कवियोंको असाधारण या अलौकिक प्रेरणाके बलपर ही अपने वर्ण्य विषयके काव्यमय स्वरूपका आभास मिलता है। यह प्रेरणा प्राचीन कालमें ईश्वर-प्रदत्त मानी जाती थी। इसीलिये वेदोंको ईश्वरका बनाया हुआ या अपौरुषेय भी कहते हैं। कवियोंको मंत्रका दर्शक कहा गया है, मानों उनको रचना करते समय वर्ण्य विषयका साक्षात्कार होता हो। कई कुलके कवियोंने ऋग्वेदके मंत्रोंको रचा है, जिनके आदि कवि गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज, वसिष्ठ, कण्व, अङ्गिरा इत्यादि हैं। स्त्रियोंने भी कई मंत्रोंकी रचना की है।

ऋग्वेदकी स्तुतियोंमें कवियोंने जो कुछ अपने चारों ओर देखा उसके प्रति अपने विचार प्रकट किये हैं। प्रकृतिकी प्रायः सभी वस्तुयें उनकी काव्यमयी प्रतिभाका विषय हो सकी है। प्रकृतिकी शक्ति प्रकट करनेवाली वस्तुओंमें सूर्य, चन्द्र, अग्नि, आकाश, मरुत्, वायु, जल, उषा, रात्रि, नदी, वन और पृथ्वीकी स्तुति मंत्रोंके द्वारा की गई है। कवियोंने इनके व्यवहारिक अथवा साधारण रूपका ही वर्णन नहीं किया, बल्कि अपनी प्रतिभाके द्वारा उनके विभूतिमय रूपकी प्रतिष्ठा की और व्यंजनाके द्वारा उनको मानव-जीवनके सन्निकट पाकर शनैः शनैः उनका मानवीकरण किया। इस प्रकार इनको देवी-देवताओंका पद मिला। ऐसी परिस्थितिमें प्रारंभिक मंत्रोंको छोड़कर शेष भागोंमें इनके प्राकृतिक रूपकी छाया-मात्र मिलती है और इनमें मानवोचित व्यक्तित्व आरोपित किया गया है। इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, पूषा, सरस्वती, वाक्, अश्विद्वय, रुद्र और पर्जन्य आदि देवताओंके व्यवहारोंकी परम्परा बहुत कुछ मनुष्यों-जैसी ही दिखाई पड़ती है। ऋग्वेदके अन्तिम भागमें विश्वकर्मा (विश्वके रचयिता) प्रजापति (सृष्टिके स्वामी), श्रद्धा (विश्वास), मन्यु (क्रोध) इत्यादिके दिव्य रूपमें मानवताकी स्पष्ट झलक मिलती है। ऋग्वेदमें ऋभु, अप्सरा, गन्धर्व आदि देवताओंकी अन्य कोटियोंकी कल्पनायें भी मिलती हैं। देवताओंके अति-रिक्त अन्य कोटियाँ असुर, राक्षस, दास इत्यादि हैं, जिनसे देवताओंका प्रायः विरोध दिखाया गया है। ऋग्वेदमें पितरोंकी भी प्रतिष्ठा की गई है। पितर, लोगोंके मरे हुए पूर्वज हैं, जो मरनेके पश्चात् वैदिक विश्वासके अनुसार, दिव्य-कोटिमें सम्मिलित हो जाते हैं और इस प्रकार देवताओंकी भाँति पूज्य और स्तुत्य बन जाते हैं। यम पितरोंके लोकका राजा माना गया है। पितरोंके लोककी स्थिति स्वर्गमें बताई गई है, जहां मर्त्यलोकसे जाकर लोग इकट्ठे होते रहते हैं। ऋग्वेदमें लौकिक विषयोंपर भी मंत्र मिलते हैं। इनमेंसे एक मंत्र विवाहके

विषयमें है। पुरूरवा और उर्वशीका संवाद मर्त्यलोकके राजा पुरूरवा और उर्वशी अप्सराकी प्रेम-कहानी है। कुछ मंत्र शिक्षाप्रद भी हैं, जिनमेंसे एकमें जुआरीकी दुर्गतिका चित्रण किया गया है। ऋग्वेदके छः मंत्रोंमें विश्वकी उत्पत्ति और विकासपर प्रकाश डाला गया है। एक मंत्रमें तो मंडूकोंकी पूरी जीवन-गाथाका विवरण मिलता है। दान-स्तुतियोंमें दान देनेकी प्रशंसा मिलती है। ऋग्वेदके कई सूक्तोंमें मनोरंजक पहेलियाँ भी मिलती हैं।

मंत्रोंमें देवताओंकी प्रशंसा करते हुए उनकी रूप-रेखा, सौन्दर्य, कार्य-व्यापार, शक्ति, समृद्धि और वीरताके कामोंका उल्लेख मिलता है। वैदिक कालमें लोगों-का विश्वास था कि यज्ञमें मंत्रोंके द्वारा स्तुति करनेसे देवता प्रसन्न होते हैं और समृद्धि प्रदान करते हैं, अथवा आवश्यकता पड़नेपर सहायता देते हैं। मंत्रोंके अन्तमें कभी-कभी कवियोंने धन, यश, विजय अथवा वीर पुत्र पानेके लिये देव-ताओंसे प्रार्थनायें की हैं। उन्होंने अग्निके विषयमें कल्पनायें की हैं कि "अग्नि मनुष्योंका मित्र है। वह मनुष्यों और देवताओंके बीच दूतका काम करता है। अग्नि गृहस्थोंका देवता है, उनकी स्त्री और पुत्रोंकी रक्षा करता है। वह प्रत्येक घरका प्रथम अतिथि है। देवता होकर भी वह मर्त्योंके बीच रहता है। घरकी सारी उन्नति अग्निके ही हाथमें है। अग्नि कुमारियोंका पति है और विवाहके अवसरपर वर कुमारीको अग्निसे ही पाता है। अग्नि देवताओंके पास हवि पहुँचाता है और उनको यज्ञके समीप लाता भी है, इसलिये वह पुरोहित, होता, यज्ञका देवता और ऋत्विक है। अग्निकी लपट उसका केश है, उसके दाँत सुनहरे और चमकीले हैं। अग्निकी लपट उसकी जीभ है, अग्निकी चार या सहस्र आँखें हैं।" अग्निकी बैलसे उपमा दी गई है। उठती हुई लपटें सींगें मानी गई हैं। अग्निकी सहस्र सींगें हैं, वह क्रोधवश अपनी सींगोंको हिलाता है या तीक्ष्ण करता है। अग्नि अपनी तीक्ष्ण दाढ़ोंसे वनोंको चबाता है, वह वनोंको कुचल डालता है। जब वायु अग्निको उत्तेजित करता है, तो वह वनमें फैल जाता है और पृथ्वी-का केश कतर देता है। कवि अग्निसे प्रार्थना करता है कि मेरे ऊपर आपका आशीर्वाद उसी प्रकार रहे, जैसे पिताका पुत्रके ऊपर होता है। अग्निके वर्णनके आधारपर ऋग्वेदकी वर्णन-शैलीकी कल्पना की जा सकती है।

जैसा कि हमने अग्निके उपर्युक्त वर्णनमें देखा है, ऋग्वेदमें ऊँची कल्पना, व्यंजना, भावुकता और अलंकारमयी भाषाका प्रयोग हुआ है। ऋग्वेदके मंत्रोंमें प्रायः उच्च कोटिका काव्य मिलता है। ऋग्वेदकी शब्द-योजना प्राकृतिक और

सरल है। काव्यकी दृष्टिसे उषा-विषयक मंत्र सर्वोत्कृष्ट हैं। इन्द्र और वृत्रके युद्धका विशद चित्रण कविकी प्रतिभापूर्ण वर्णनशैलीका द्योतक है। सारा ऋग्वेद छन्दोंमें रचा गया है। इसमें पन्द्रह प्रकारके छन्दोंका प्रयोग हुआ है। त्रिष्टुप्, गायत्री और जगती छन्दोंमें ऋग्वेदका लगभग दो तिहाई भाग रचा गया है। इन्हीं छन्दोंके आधारपर आगे चलकर संस्कृत साहित्यके छन्दोंका विकास हुआ है।

ऋग्वेदमें १०२८ सूक्त हैं, जिनमें सब मिलाकर १०,६०० श्लोक (मंत्र) हैं। सूक्तोंमें एकसे लेकर अट्ठावन तक श्लोक हैं। सामान्यतः प्रत्येक सूक्तमें दश श्लोक हैं। सारा ऋग्वेद दश मंडलोंमें विभक्त है और प्रत्येक मंडलमें कई सूक्त हैं। इसका प्रत्येक सूक्त अपनेमें पूर्ण है। एक सूक्त प्रायः एक ही देवता[1]के विषयमें रचा गया है।

अथर्ववेद

अथर्ववेदका अर्थ अभिचारका ज्ञान है। मंत्रोंके द्वारा कार्य-सिद्धि होती है। भारतीय दृष्टिकोणसे शब्दोंमें अनोखी शक्ति है। जिस प्रकार किसी कार्यको करनेमें भौतिक साधन उपयोगी होते हैं, उसी प्रकार केवल शब्द-मात्र भी कार्योंकी सिद्धिके लिये साधन हो सकते हैं। प्रायः सूक्तोंमें स्तुतिकर्त्ताकी उत्कट कर्तव्य-परायणता और मनोबलका परिचय मिलता है। अथर्ववेदका प्रधान भाग रोगोंके निदानके विषयमें है। इनमें अभिचारकी प्रक्रियाओं द्वारा रोगोंकी चिकित्सा-पद्धतिकी कल्पना की गई है। उस समय लोगोंका विश्वास था, कि राक्षस और पिशाच सतानेके लिये रोगोंकी सृष्टि करते हैं। अथर्ववेदमें रोगों और तत्संबंधी राक्षसोंको संबोधित करके जो मंत्र कहे गये हैं, उनको भैषज्य कहते हैं। प्रायः मंत्रोंमें औषधि और जलकी प्रशंसा की गई है, जो उस समय साधारणतः उपचारके लिये ग्रहण किये जाते थे। कुछ मंत्रोंमें राक्षसोंको डरानेवाली अग्निकी प्रशंसा मिलती है। मंत्रोंमें रोगोंके लक्षणोंका पूरा विवरण भी दिया गया है। ज्वरके राक्षस तक्माके प्रति अनेकों अभिचार मंत्र कहे गये हैं। उसी समयसे ही ज्वर रोगराज माना गया है। एक मंत्रमें ज्वरके प्रति कहा गया है—"तुम सभी लोगोंको पीला बना देते हो, अग्निकी भाँति जलाते हुए तापसे तुम उन्हें सुखा देते हो। ज्वर! अब तुम मन्द पड़ो, तुम निष्फल हो जाओ। यहांसे

---

[1] वेदके सूक्त जिनके विषयमें लिखे गये हैं, उनका नाम देवता है।

तुम अधोलोकमें जाओ, किसी प्रकार अदृश्य हो। ज्वर ! तुम्हारे बाण तीक्ष्ण हैं। हम लोगोंपर उनसे प्रहार न करो। ज्वर ! तुम अपने भाई कफ, अपनी बहिन खाँसी और अपने भतीजे क्षयको साथ लेकर अन्यत्र भाग जाओ।" राक्षसों और पिशाचोंके अतिरिक्त गन्धर्वों और अप्सराओंको भी लोग भय और दुःखका कारण मानते थे। उनको भगानेके लिये लोग अजश्‍ृङ्गी पौधेका प्रयोग तथा मंत्र-पाठ करते थे।

भैषज्य मंत्रोंकी भाँति आयुष्य सूक्तमें दीर्घजीवनकी कामना की गई है। इन मंत्रोंका पाठ जातकर्म, चूडाकर्म, उपनयन इत्यादि घरेलू उत्सवोंके अवसर-पर होता था। इन सूक्तोंमें सभी रोगोंसे मुक्त होकर सौ वर्ष जीनेकी प्रार्थना की गई है। पौष्टिक सूक्तोंका पाठ किसानों, पशुपालकों और व्यापारियोंकी मंगल-कामनाके लिये है। विभिन्न आवश्यकताओं और अवसरोंके लिये अलग-अलग मंत्र निर्धारित किये गये हैं। वर्षाके लिये सूक्त इसी भागमें मिलते हैं। अपराधों और पापोंसे मुक्त होनेके लिये प्रायश्चितके अवसरपर भी सूक्तोंका पाठ होता था।

अथर्ववेदमें मंत्रोंके द्वारा अभीष्ट व्यक्तिपर प्रभाव डालनेके विधान मिलते हैं। इनके द्वारा कौटुम्बिक सौहार्द और शान्तिके अतिरिक्त सभा-समितियों और न्यायालयोंपर प्रभाव डालकर अपने पक्षकी विजयके उपाय किये जाते थे। इन मंत्रोंसे पति और पत्नीकी एकता भी संभव होती थी। कुछ मंत्रोंके द्वारा अभीष्ट वर या वधूकी प्राप्तिके उपाय किये जाते थे। विभिन्न उपायोंसे वशी-करणकी विधियोंके उल्लेख इस भागमें प्रायः मिलते हैं।

अभिचार-सूक्तोंके वहुतसे ऐसे मंत्र भी हैं जिनकी आवश्यकता उस समयके राजाओंको पड़ती थी। शत्रुओंके दमन और अपने मंगलके लिये राजा पुरो-हितोंसे अभिचारकी विधियोंके साथ मंत्र-पाठ कराते थे। इस विधानका नाम राजकर्म था। कुछ मंत्र राजाओंके अभिषेकके अवसरपर पढ़े जाते थे और उनसे राजाओंके मंगल, यश, प्रभुत्व और विजयकी कामना प्रकट की जाती थी। इस भागके कुछ मंत्र तत्कालीन युद्ध-गान हैं, जिनसे योद्धाओंको युद्ध-भूमिमें जाने और विजय पानेके लिये उत्साहित किया गया है।

अथर्ववेदके अन्तिम भागमें यज्ञ और उनकी विधियोंके विषयमें भी कुछ मंत्र पाये जाते हैं। इस वेदके कुन्ताप—सूक्तोंमें यज्ञकी विधियोंके साथ ही राजाओं-की उदारताका वर्णन है। कुछ सूक्तोंमें रहस्यवाद और सृष्टिसंबंधी बातें मिलती

हैं। इनमें कहीं-कहीं दार्शनिकताका पुट भी है। कई सूक्तोंमें स्तुति करने-वालोंके मानसिक अभ्युत्थानकी अभिलाषायें मिलती हैं, जैसे —

वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृश :
मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तर: ॥

(मैं वाणीसे मीठा बोलता हूँ जिससे मैं मधुरताकी मूर्ति बनूँगा। मैं मधुसे अधिक मीठा हूँ; मधुर पदार्थसे अधिक मधुर हूँ।)

अथर्ववेदमें कहीं-कहीं काव्यकी झलक मिलती है। यह वद भाषा, छन्द और सरसताकी दृष्टिसे ऋग्वेदकी समता नहीं कर सकता। इन दोनों वेदोंसे यह तो निस्सन्देह सिद्ध हो जाता है कि ऋग्वैदिक कालसे ही भारतवासियोंके बीच सरस हृदय, भावुकता, प्रतिभा और अलंकारमयी भाषाकी प्रतिष्ठा रही है, जो उच्च कोटिके काव्यके लिये आवश्यक है।

अथर्ववेदमें कुल ७३१ सूक्त हैं, जिनमें सब मिलाकर लगभग ६,००० श्लोक हैं। यह वेद बीस काण्डोंमें विभक्त है। इसका बीसवाँ काण्ड लगभग समूचा ही ऋग्वेदसे लिया गया है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेदका लगभग सातवाँ भाग ऋग्वेदसे लिया गया है। इस वेदका अधिक भाग पद्यमें रचा गया है। पन्द्रहवाँ काण्ड पूरा तथा सोलहवेंका अधिकांश गद्यमें है। शेष भागमें छिट-पुट गद्यके अंश मिलते हैं।

सामवेद

सामका अर्थ राग या ताल है। यज्ञोंके अवसरपर सामवेदका संगीतमय पाठ होता था। वेदोंकी ऋचाओंसे सामकी उत्पत्ति मानी गई है। सामवेद-संहिता आर्चिक और उत्तरार्चिक दो भागोंमें विभक्त है। इन दोनों भागोंमें कुल मिलाकर १८१० श्लोक हैं, जिनमेंसे २६१ श्लोक दोनों भागोंमें समान हैं। इस प्रकार सामवेदमें कुल १५४९ श्लोक शेष रह जाते हैं। इनमें ७५को छोड़-कर शेष सभी ऋग्वेदके आठवें और नवें मंडलसे लिये गये हैं। वैदिक-कालमें उद्गातृ-पुरोहित होनेके लिये आर्चिक भागसे रागोंका अध्ययन किया जाता था और उत्तरार्चिक भागसे यज्ञोंके अवसरपर गाये हुए स्तोत्रोंको कंठाग्र किया जाता था। आर्चिक भागमें ५८५ ऋचायें हैं, जो लगभग इससे दूने विभिन्न रागों-में गाई जा सकती है। प्रत्येक गीतके प्रथम श्लोकके द्वारा तत्संबंधी रागकी ओर संकेत कराया गया है। उत्तरार्चिक भागमें ४०० गीत हैं और प्रत्येक गीतमें

प्रायः तीन श्लोक हैं। इन्हीं श्लोकोंमेंसे कुछ स्तोत्र यज्ञके अवसरपर गाये जाते थे।

सामवेदमें सात स्वरोंका संकेत प्रायः एकसे लेकर सात अंकोंके द्वारा किया गया है। गाते समय पुरोहित हाथ और अँगुलियोंकी विभिन्न गतियोंसे विभिन्न स्वरोंका बोध कराता है। गाँव और वनमें गानेके लिये आर्चिकमें विभिन्न राग नियत किये गये हैं, जिनको क्रमशः ग्रामगेयगान और अरण्यगान कहते हैं।

यजुर्वेद

यजुर्वेद संहितामें अध्वर्यु पुरोहितकी प्रार्थनायें मिलती हैं, जो यज्ञके अवसर-पर गाई जाती थीं। अब तक यजुर्वेदकी पाँच संहितायें मिली हैं—काठक, कपिष्ठल-कठ, मैत्रायणी, तैत्तिरीय और वाजसनेयि-संहिता। ये संहितायें विभिन्न वर्गके जनसमुदायोंकी हैं जिनके यज्ञ-संबंधी विधियोंके मतभेदके कारण पतंजलिके समय तक १०१ विभिन्न शाखायें बन चुकी थीं। ऊपर लिखी हुई पाँच संहिताओंमेंसे प्रथम चार आपसमें संबद्ध हैं और इनको कृष्ण यजुर्वेद कहते हैं। वाजसनेयि-संहिताका नाम शुक्ल यजुर्वेद है। कृष्ण यजुर्वेदमें मंत्रोंके साथ-साथ तत्संबंधी याज्ञिक विधियों और उनकी व्याख्याओंका भी उल्लेख है। शुक्ल यजुर्वेदमें केवल मंत्रोंके पाठ और याज्ञिक सूत्रोंके उल्लेख मात्र हैं।

वाजसनेयि-संहिताकी विषय-सूचीसे यजुर्वेदके वर्ण्य विषयकी कल्पना की जा सकती है। इसमें कुल ४० अध्याय हैं, जिसके प्रथम २५ अध्यायोंमें सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण यज्ञोंकी प्रार्थनायें हैं। प्रथम दो अध्यायोंमें दशपूर्णमास यज्ञ-की प्रार्थनायें हैं। ये यज्ञ पूर्णिमा और शुक्ल पक्षकी द्वितीयाके दिन सम्पन्न किये जाते थे। तीसरे अध्यायमें दैनिक अग्निहोत्र, और चातुर्मास्य (ऋतुओंके यज्ञ) संबंधी प्रार्थनायें हैं। सोम यज्ञकी प्रार्थनायें चौथेसे आठवें अध्याय तक मिलती हैं। नवें और दसवें अध्यायोमें वाजपेय और राजसूय यज्ञोंकी प्रार्थनायें हैं। ग्यारहवेंसे अठारहवें अध्याय तक अग्निचयन (अग्निवेदिकाकी रचना) संबंधी प्रार्थनाओं और याज्ञिक सूत्रोंके विवरण हैं। अग्नि-वेदिकाकी यह क्रिया पूरे वर्षभर चलती थी। वेदिका १०,८०० ईंटोंकी बनती थी और इसका रूप उड़ते हुए पक्षीके समान होता था। उन्नीसवेंसे लेकर इक्कीसवें अध्याय तक सौत्रामणि यज्ञकी प्रार्थनायें हैं। यह यज्ञ अश्विद्वय, सरस्वती और इन्द्रके उपलक्ष्यमें होता था। बाईसवेंसे पचीसवें अध्याय तक अश्वमेधकी प्रार्थनायें हैं। इस यज्ञको

कोई दिग्विजयी या शक्तिशाली राजा कर सकता था। इसके द्वारा किसी राज्यमें विद्वान् ब्राह्मण, वीर क्षत्रिय, दूध देनेवाली गाय, हल जोतनेवाले बैल, वेगवान् घोड़े, वीर और विजयी पुत्र, अभीष्ट वर्षा और मनोवांछित आनन्द तथा समृद्धिकी कामना की जाती थी।

शेष १५ अध्याय पहले २५ अध्यायोंके पूरक मात्र हैं, जो पीछेसे जोड़ दिये गये थे। इन अध्यायोंमेंसे कुछ प्रार्थनाओंके परिशिष्ट और उपनिषद् जैसे प्रतीत होते हैं। बत्तीसवेंसे चौंतीसवें अध्याय तककी प्रार्थनायें सर्वमेधके लिये हैं। इस यज्ञमें यजमान सर्वस्व पुरोहितोंको दे देता था। पैंतीसवें अध्यायमें थोड़ेसे अन्त्यक्रिया संबंधी पद्य है जो प्रायः ऋग्वेदसे लिये गये है। छत्तीसवेंसे उनतालीसवें अध्याय तक प्रवर्ग्य विधिकी प्रार्थनायें है। प्रवर्ग्यमें यज्ञकी अग्निपर एक कड़ाह तपाकर उसमें दूध उबालते हैं और अश्विनोंको समर्पित करते हैं। वाजसनेयि संहिताका अन्तिम अध्याय ईश-उपनिषद् है जो उपनिषदोंकी कोटिमें सर्वप्रथम है।

यजुर्वेदकी रचना गद्य और पद्य दोनोंमें हुई है। इस वेदका महत्त्व भारतीय धर्मोंके विकासके दृष्टिकोणसे ही है। काव्यकी दृष्टिसे यजुर्वेद प्रायः नीरस है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यजुर्वेदसे तत्कालीन धार्मिक विश्वास और सामाजिक जीवनपर बहुत प्रकाश पड़ता है।

ब्राह्मण

ब्राह्मणका अर्थ याज्ञिक व्याख्या है। ब्राह्मण ग्रंथोंमें पुरोहितोंके याज्ञिक विज्ञान-संबंधी तर्क और व्याख्यान हैं। इनमें कहीं-कहींपर सृष्टिका कथारूपमें विवेचन मिलता है। महापुरुषोंकी चरित-गाथायें भी सारे ब्राह्मण साहित्यमें छिट-पुट मिलती हैं। इन सबका किसी न किसी रूपमें यज्ञोंसे संबंध है। इसकी तर्क-पद्धतिका आरंभ यज्ञोंसे ही होता है। जहां कही याज्ञिक विधियोंके संबंधमें दो मत हुए कि तर्कके द्वारा एक स्वीकृत हुआ और दूसरेका निराकरण किया गया। ब्राह्मणोंमें याज्ञिक विधियोंकी इहलौकिक और पारलौकिक उपयोगितापर भी प्रकाश डाला गया है।

प्राचीन कालमें ब्राह्मणोंकी संख्या बहुत अधिक थी। उनमेंसे बहुतोंका धीरे-धीरे लोप हो गया। ऐसा होनेपर भी जो ब्राह्मण प्राप्त हुए है, उनकी संख्या किसी प्रकार कम नहीं कही जा सकती। सभी ब्राह्मण किसी न किसी एक

वेदसे संबद्ध हैं। प्रत्येक वेदके कई ब्राह्मण हैं, जो वेदोंके पंडितोंकी विभिन्न शाखाओंकी कृतियाँ हैं।

ऋग्वेदके दो ब्राह्मण ऐतरेय और कौषीतकि हैं। ये एक दूसरेसे बहुत कुछ मिलते हैं। इन दोनों ब्राह्मणोंमें प्रधानतः सोमयज्ञ और अग्निहोत्रका वर्णन है। सामवेदके तांड्य महाब्राह्मणकी पुरानी कथायें, अद्भुत ब्राह्मणके चमत्कार और जैमिनीय ब्राह्मणके धार्मिक इतिहास और कथायें महत्त्वपूर्ण हैं। कृष्ण-यजुर्वेदके तैत्तिरीय ब्राह्मणमें पुरुषमेधका प्रधान रूपसे वर्णन है। शुक्ल यजुर्वेदके शतपथ ब्राह्मणमें यज्ञोंकी व्याख्यायें हैं। इसमें उपनयन, वेदाध्ययन, अश्वमेध और पुरुषमेध इत्यादिका विवेचन किया गया है। गोपथ-ब्राह्मणका संबंध अथर्व-वेदसे है।

ब्राह्मणका विषय विधि और अर्थवाद दो भागोंमें बाँटा जाता है। विधिमें यज्ञ करनेके नियम दिये गये हैं। और अर्थवादके द्वारा यज्ञकी क्रियाओं और प्रार्थनाओंकी इस प्रकार व्याख्यायें की गई हैं कि उनसे यज्ञकी विधियोंकी पुष्टि हो सके। शतपथ ब्राह्मणमें यज्ञका व्रत लेनेकी विधि इस प्रकार दी गई है :—

"जो व्रत लेना चाहता है, वह जलका स्पर्श करता है। उस समय वह पूर्व दिशाकी ओर मुँह करके आहवनीय और गार्हपत्य अग्निके बीच खड़ा होता है। वह जलका स्पर्श इसलिये करता है कि असत्य भाषणसे अपवित्र रहता है। इस स्पर्शसे उसकी आन्तरिक शुद्धि हो जाती है क्योंकि जल पवित्र है। वह सोचता है कि पवित्र होकर मैं यज्ञका व्रत लूँगा। जल पवित्र कर देता है। पवित्र करने-वाले (जल)से पवित्र होकर मैं व्रत लूँगा। इसीलिये वह जलका स्पर्श करता है।"

अर्थवादका उदाहरण उपवसथकी नीचे लिखी व्याख्यासे ज्ञात हो सकता है :—"देवता मनुष्योंके मनकी बात जान लेते हैं। वे जान जाते हैं कि जब कोई मनुष्य यज्ञका व्रत लेता है तो वह दूसरे दिन प्रातःकाल ही देवताओंके लिये यज्ञ करेगा। इसलिये सभी देवता रात्रिके समय ही उसके घर पहुँच जाते हैं और उसके समीप उसीके घरमें बसते हैं। इसीलिये इस दिनको उपवसथ (उप—समीप वसथ—रहना) कहते हैं।"

अर्थवादके एक महत्त्वपूर्ण अंगका संबंध इतिहास, आख्यान और पुराणोंसे है, जिनकी कथाओंमें यज्ञकी विधियोंकी व्याख्यायें दी हुई हैं। कथायें प्रायः बहुत सरस हैं और इनमें वैदिक कालकी काव्यशैलीका निखरा हुआ रूप मिलता है।

शतपथ ब्राह्मणमें राजा पुरूरवा और उर्वशी अप्सराकी कथा मिलती है। इसकी संक्षिप्त रूप-रेखा नीचे दी जाती है :—

'उर्वशी पुरूरवासे प्रेम करती है और पुरूरवाकी पत्नी बनते समय सहवास-की अवधि नियत करनेके लिये कुछ नियमोंका उल्लेख कर देती है। गन्धर्व स्वयं प्रयत्न करके नियम भंग करा देते हैं और उर्वशी पुरूरवाको छोड़कर चली जाती है। पुरूरवा उसके वियोगमें दुखी होकर कुरुक्षेत्रमें भ्रमण करते हैं। वे किसी पुष्करिणीमें जल-क्रीडा करती हुई उर्वशीको देख लेते हैं। उस समय फिर उन दोनोंका संवाद होता है और उर्वशी पुनर्मिलनके लिये पुरूरवाको गन्धर्व बन जाने-का वर पानेका उपाय बताती है। गन्धर्व स्वयं पुरूरवाको एक यज्ञकी विधि समझा देते हैं, जिसके द्वारा राजा गन्धर्व बनकर उर्वशीको प्राप्त कर लेता है।

मैत्रायणी संहितामें रात्रिकी सृष्टि और पर्वतोंके पंखोंके विषयमें दो मनोहर कहानियाँ मिलती हैं, जो नीचे दी जाती हैं :—

"यमकी मृत्यु हो गई थी। देवता प्रयत्न करते थे कि यमी उसको भूल जाय। जब कभी उससे पूछा जाता था, वह कहा करती थी कि आज ही यम मरा है। देवताओंने कहा कि इस प्रकार वह यमको कभी नहीं भूलेगी। हम लोग रात्रिकी सृष्टि करेंगे। देवताओंने रात्रि बनाई और दूसरा दिन आया। वह यमको भूल गई। इसीलिये लोग कहते हैं कि रात्रि और दिनके साथ ही शोकका विस्मरण हो।"

"प्रजापतिकी सर्वप्रथम सन्तान पर्वत हैं, जिनके पंख थे। वे उड़ते थे और जहां कहीं भी चाहते स्थिर हो जाते थे। उस समय पृथ्वी भी हिलती-डुलती थी। इन्द्रने पर्वतके पंखोंको काट दिया और उनसे पृथ्वीको दृढ़ कर दिया। पंख बादल बन गये। इसीलिये ये सदा ही पर्वतोंकी ओर मँडराया करते हैं।"

इस प्रकारकी सृष्टिविषयक बहुतसी कथायें ब्राह्मणोंमें मिलती हैं। प्रजापति सृष्टि-कर्त्ता है। जब वह सृष्टि करते-करते थक जाता है तब उसके विश्राम और पुनःशक्ति पानेके लिये यज्ञ किये जाते हैं जिनके वर्णन ब्राह्मणोंमें मिलते हैं।

आरण्यक और उपनिषद्

ब्राह्मणोंमें कुछ ऐसे अध्याय भी मिलते हैं जो गाँवों या नगरोंमें नहीं पढ़े जाते थे। उनका अध्ययन और अध्यापन गाँवोंसे दूर अरण्यों (वन)में होता था। इनका नाम आरण्यक है। आरण्यकमें प्रधानतः यज्ञके रहस्य और पुरो-

हितोंके दर्शनका विवेचन मिलता है। गृहस्थाश्रममें यज्ञ करनेके लिये ब्राह्मणोंकी उपयोगिता रहती थी। उसके पश्चात् वानप्रस्थ आश्रममें वनवासी मुनि आरण्यकोंका अध्ययन करते थे। अति प्राचीन उपनिषदोंका भी इन्ही आरण्यकोंमें समन्वय हुआ है। कुछ उपनिषद् आरण्यकोंके साथ जुटे हुए भी मिलते है। उपनिषद् और आरण्यक वैदिक साहित्यके अन्तिम भाग है। इसीलिये इनको वेदान्त भी कहते हैं। वैदिक साहित्यके अध्ययन और अध्यापनमें भी उपनिषदोंका स्थान अन्तमें आता है। इनके गूढ़ रहस्यको समझनेके लिये अध्ययनके द्वारा मस्तिष्कका पूर्ण विकास कर लेना आवश्यक समझा जाता था। दार्शनिकोंने उपनिषदोंके सिद्धान्तोंको वेदोंका केवल अन्त ही नहीं, अपितु चरम उद्देश्य भी माना है। प्रायः सभी आरण्यकों और उपनिषदोंका वेदोसे संबंध है। यह संबंध शृंखला-रूपमें पाया जाता है, जैसे ऋग्वेदके ऐतरेय ब्राह्मणसे ऐतरेय आरण्यकका संबंध है और ऐतरेय उपनिषद् इसी आरण्यकमें सम्मिलित है। ईश-उपनिषद् तो यजुर्वेदकी वाजसनेयि संहिताका अन्तिम अध्याय ही है।

यों तो उपनिषदोंकी संख्या २००से अधिक तक जा पहुँची है, किन्तु इनमेंसे प्राचीनता और प्रामाणिकताकी दृष्टिसे ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, बृहदारण्यक, छान्दोग्य और कौषीतकि प्रधान माने गये हैं।

ईश-उपनिषद्में केवल १८ मंत्र (श्लोक) हैं। इसमें ईश्वरकी सर्वव्यापकताका उपदेश दिया गया है और कर्म करते हुए सौ वर्ष जीनेकी कामना प्रकट की गई है। इसकी शिक्षाओके अनुसार सभी जीवोंको आत्मामें और सभी प्राणियोंमें आत्माको देखना चाहिये। इस प्रकार घृणा अथवा भेद-भावका अन्त हो जाता है। इसके रचयिताने मंत्रोके द्वारा तत्त्व-ज्ञान सीखनेकी अपनी हार्दिक अभिलाषा प्रकट की है।

केन-उपनिषद्के अनुसार आत्मा मनुष्यकी इन्द्रियोंको उनके विषयकी ओर नियोजित करता है। आत्मा अज्ञेय और अनिर्वचनीय है। ब्रह्मका वर्णन वाणीके द्वारा नहीं किया जा सकता, मन उसका मनन नही कर सकता, आँखें उसे देख नहीं सकती, कानसे वह सुना नही जा सकता। ब्रह्मकी परिभाषा नही हो सकती। इस उपनिषद्के अन्तभागमें कथाके रूपमें बताया गया है कि किस प्रकार अग्नि, वायु और इन्द्रने यक्ष-रूपधारी ब्रह्मको जाननेका प्रयत्न किया और उनके असफल

होनेपर उमाने उनको ब्रह्म-ज्ञान दिया। ब्रह्मने देवताओं और असुरोंके संग्राममें देवताओंके लिये विजय प्राप्त की थी।

कठ-उपनिषद्‌में नचिकेता और यमकी कथाके द्वारा आत्मा और ब्रह्मकी व्याख्या की गई है। नचिकेताके पिता वाजश्रवा गौतम सर्वमेधमें अपनी बूढ़ी गायें दान दे रहे थे। पिताके पुण्यके लिये नचिकेताने उनसे प्रार्थना की कि आप मुझे भी किसीको दे दें। पिताने क्रोधवश उससे कहा कि मैं तुम्हें यमको देता हूँ। उसी समय नचिकेता यमके पास गया। यमने नचिकेताको तीन वर दिये। तीसरे वरसे नचिकेताने आत्माकी अमरताके विषयमें व्याख्यान देनेके लिये प्रार्थना की। यमने उदाहरण देते हुए आत्माका विवेचन किया है। नीचे लिखे श्लोकोंसे कठोपनिषद्‌की शैलीका परिचय मिल सकता है :—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु,
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥

(शरीरको रथ और आत्माको रथी (सवार) जानो। बुद्धिको सारथि और मनको बाँधनेकी रस्सी समझो।)

उत्तिष्ठत, जाग्रत प्राप्य वरान् निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति ॥

(उठो, जागो और गुरुजनोंको पाकर सीखो। कवि बतलाते हैं कि (ब्रह्म तक पहुँचनेका) मार्ग छुरेकी तीक्ष्ण धारके समान दुर्गम है।)

प्रश्नोपनिषद्‌में ब्रह्म, आत्मा और जीव विषयक छः प्रश्नोंके उत्तर दिये गये हैं। प्राचीन कालमें छः विद्यार्थी हाथमें समिधा लिये हुए महर्षि पिप्पलादके आश्रमपर गये। ऋषिने उनको एक वर्ष तक ब्रह्मचारियोंके योग्य तप करनेका आदेश दिया और इसके पश्चात् उनकी शंकाओंका समाधान किया।

मुण्डक-उपनिषद् तीन मुण्डकों या अध्यायोंमें विभक्त है। पहले भागमें ब्रह्म और वेदोंकी व्याख्या की गई है। दूसरे भागमें ब्रह्मका स्वभाव और उसका विश्वसे संबंध प्रकट किया गया है। दूसरे भागके अन्तमें और तीसरे भाग में ब्रह्मकी प्राप्तिके साधन बताये गये हैं। इस उपनिषद्‌में ब्रह्म-ज्ञानके विषयमें कहा गया है :—

भिद्यते हृदयग्रंथिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥

(ब्रह्मका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर हृदयकी गाँठ खुल जाती है, सभी संशय दूर हो जाते हैं और कर्मोंका क्षय हो जाता है।)

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥

(जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नाम और रूपको खोकर समुद्रमें अस्त हो जाती हैं उसी प्रकार विद्वान् नाम और रूपसे छुटकारा पाकर दिव्य पुरुष पर-ब्रह्ममें लय हो जाता है।)

मांडूक्य उपनिषद्में ब्रह्म और आत्मा विषयक विवेचन मिलता है। इसमें ब्रह्म या आत्माकी चार अवस्थायें बताई गई हैं। जागरित अवस्थामें आत्मा इन्द्रियोंके विषयोंका भोग करता है। स्वप्नकी अवस्थामें उसे अपनी पूर्व दशाओं-का ज्ञान रहता है। इस अवस्थाका सारा व्यापार मानसिक होता है। सुषुप्त अवस्थामें कोई इच्छा नहीं रह जाती। केवल ज्ञानमात्र रह जाता है। इसी अवस्थामें संसारकी सृष्टि और प्रलयके व्यापार होते हैं। चौथी अवस्थामें ब्रह्म विकारहीन होता है। उस समय उसकी अद्वैतावस्था होती है और वह असीम रहता है। ओम्के अ, उ और म् क्रमशः ब्रह्मकी प्रथम तीन अवस्थाओंके द्योतक हैं और पूरा ओम् शब्द उसकी चौथी अवस्थाकी ओर संकेत करता है।

तैत्तिरीय उपनिषद्के दो भाग हैं—शिक्षा वल्ली और ब्रह्मानन्द वल्ली। शिक्षा वल्लीमें शिक्षा—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल इत्यादिके विषयमें बताया गया है और वेदोंके अध्ययन, ओम्के चिन्तन और पवित्र जीवनका चित्रण करके उप-निषद्की शिक्षाओंको सीखनेकी योग्यता निर्धारित की गई है। ब्रह्मानन्द वल्लीमें ब्रह्मके व्यक्त रूपका दिग्दर्शन कराया गया है, जिससे विश्वकी उत्पत्ति हुई है। ब्रह्मसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथ्वी, पृथ्वीसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे अन्न, और अन्नसे पुरुष उत्पन्न हुआ है। सभी जीवधारी अन्नसे ही उत्पन्न होते हैं और अन्नमें मिल जाते हैं। यही ब्रह्म अन्न, प्राणवायु, आत्मा, मन, विज्ञान और आनन्द है जो व्यक्तिगत रूपसे परिस्फुटित हुआ है। इस प्रकार व्यक्तिगत आत्मा और परमात्माका अन्तर मिट जाता है। ब्रह्मने संसारकी सृष्टि की है और साथ ही सृष्टिसे उसकी एकता भी है। ब्रह्मके इस रूपको जान लेनेपर मनुष्य निर्भय हो जाता है क्योंकि उसको अपनेसे भिन्न कुछ भी नहीं दिखाई देता। सारा भेद-भाव मिट जाता है। जब अपनेसे भिन्न कोई है ही नहीं, तो वह डरे किससे? मनुष्यके व्यक्तित्वका यही सार्वभौम विकास

उपनिषदोंका एक मात्र उद्देश्य है। इस उपनिषद्की तीसरी वल्लीमें धीरे-धीरे तप और ज्ञानके पथसे ब्रह्मके स्वरूपको जान लेनेकी रीति एक कथा द्वारा समझाई गई है।

ऐतरेय और तैत्तिरीय उपनिषद्की शिक्षायें बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। दोनों उपनिषदोंमें ब्रह्मज्ञान मुक्तिका साधन बताया गया है। ऐतरेय उपनिषद्की शैली अधिक स्पष्ट है। इसके प्रथम अध्यायमें विश्वकी उत्पत्तिका वर्णन किया गया है। सृष्टिके पहले केवल आत्मा था। उसने लोकोंकी सृष्टि करनेकी बात सोची। लोकोंको उत्पन्न करनेके पश्चात् लोकपालोंकी सृष्टि की और लोकपालोंके लिये पुरुषको रचा। दूसरे अध्यायमें जन्म, जीवन और मृत्यु—मनुष्यकी इन तीन अवस्थाओंका वर्णन किया गया है और तीसरे अध्यायमें आत्माको प्रज्ञानरूप बताया गया है। प्रज्ञान ही ब्रह्म है। इससे सबकी उत्पत्ति हुई है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्में सांख्य और वेदान्त दर्शनोंकी अभिन्नता दिखानेका प्रयत्न किया गया है। इस उपनिषद्में ब्रह्म और आत्माके रहस्यका स्पष्ट विवेचन है और अधिकसे अधिक उदाहरणोंके द्वारा विषयको सुबोध बनाया गया है। नीचेके श्लोकसे इसकी शैलीकी कल्पना की जा सकती है—

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वंचसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

(तुम स्त्री, पुरुष, कुमार अथवा कुमारी हो, दंडकी सहायतासे चलनेवाले वृद्ध भी तुम्हीं हो। तुम उत्पन्न होते हो। तुम्हारी चारों ओर प्रवृत्ति है।)

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

(अकेले वह देव (ब्रह्म) सभी भूतोंमें गूढ रूपसे है, वह सर्वव्यापी है, सभी प्राणियोंकी अन्तरात्मा है, वह सबके कर्मोंका निरीक्षण करता है, सभी प्राणियोंमें निवास करता है, वह साक्षी, चिन्तनशील, पूर्ण और निर्गुण है।)

बृहदारण्यक उपनिषद्के प्रारंभमें अश्वमेधकी व्याख्या की गई है। अश्वमें विश्वरूपको आरोपित करते हुए उषाको उसका शिर, सूर्यको आंख, वायुको प्राण, अग्निको मुख और संवत्सरको आत्मा माना गया है। इस प्रकार उसके अंग प्रत्यंगके निरूपणमें विश्वरूपका संतुलन किया गया है। आगे चलकर ब्रह्म, सृष्टि और व्यक्तिगत आत्माकी एकता दिखाई गई है। और ब्रह्मसे पुरुष और

प्राणकी अभिव्यक्ति बताई गई है। विश्वमें चराचर जो कुछ दिखाई देता है सबकी सृष्टि ब्रह्मने अपनेमेंसे ही की है, अतः सब कुछ ब्रह्ममय है।

इस उपनिषद्‌में ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा प्रायः वाद-विवादके माध्यम द्वारा दी गई है। गार्ग्यने काशीके अजातशत्रु राजासे कहा, कि मैं ब्रह्मकी व्याख्या करूँगा। उसने सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, आकाश, वायु, अग्नि, जल, आदर्श (दर्पण), छाया, आत्मा इत्यादिमें समन्वित पुरुषको ब्रह्म बताया। अजातशत्रुने कहा कि ब्रह्ममें ये सब पाये तो जाते हैं किन्तु ब्रह्मकी परिभाषा इनसे नहीं हो सकती। जिस प्रकार मकड़ेसे तन्तु निकलते हैं या अग्निसे चिनगारियाँ छिटकती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मसे सभी प्राण, सभी लोक, सभी देवता और सभी प्राणिमात्र निकलते हैं। ब्रह्म सर्वोच्च और एकमात्र सत्य है। ब्रह्मके नश्वर और अमर, मूर्त और अमूर्त, ससीम और असीम ये दो रूप हैं। दूसरा संवाद महर्षि याज्ञवल्क्य और उनकी स्त्री मैत्रेयीका है। याज्ञवल्क्यके वानप्रस्थके समय मैत्रेयी पतिके धनकी इच्छा नहीं करती बल्कि उनसे अमर होनेका उपाय पूछती है। महर्षिने मैत्रेयीको अनेकों उदाहरण देकर ब्रह्मकी सर्वमयताका निदर्शन किया है। तीसरा संवाद राजा जनककी सभामें प्रारंभ होता है। जनकने सहस्र गायोंके सींगोंमें दश-दश स्वर्णमुद्रायें बँधवा दी और घोषित किया कि सबसे बड़ा ब्रह्मज्ञानी इन गायों-को ले जाय। उस समय केवल याज्ञवल्क्यने ही उन गायोंको लेनेकी इच्छा प्रकट की। ब्राह्मणोंने याज्ञवल्क्यसे उनके सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञानकी परीक्षा लेनेके लिये अनेकों प्रश्न पूछे। याज्ञवल्क्यने उनकी शंकाओंका उचित समाधान किया। प्रश्नकर्ताओंमें वचक्नुकी कन्या गार्गी भी थी। उसने विभिन्न लोकों और कालोंके आधारोंके विषयमें अनेक प्रश्न पूछे। ऐसा प्रतीत होता है कि गार्गीका ब्रह्म-ज्ञान सभाके अन्य पंडितोंसे बढ़ चढकर था। चौथे और पाँचवें संवाद जनक और याज्ञवल्क्यमें हुए हैं। याज्ञवल्क्यने राजाको ब्रह्मका स्वरूप समझाया है। पाँचवें अध्यायमें प्रजापतिने अपनी तीन सन्तानों—देवों, मनुष्यों और असुरोंको शिक्षा देनेके पश्चात् अन्तमें उनको कर्तव्यज्ञानका उपदेश देते हुए 'द' कहा। देवोंने 'द'से 'दाम्यत' समझा और अपनी इच्छाओंका दमन किया। मनुष्योंने 'द'से 'दत्त' समझा और उदारताको अपनाया। असुरोंने दयध्वम् समझकर दयालु होनेकी शिक्षा ग्रहण की। इसके अतिरिक्त इस अध्यायमें छन्दोंकी महिमा समझाई गई है। छठे अध्यायमें प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मनकी उपयोगिता-पर प्रकाश डाला गया है। इस अध्यायमें प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मनकी

पारस्परिक स्पर्धामें प्रजापतिके न्याय करनेका विवरण मिलता है। वाक्, चक्षु, श्रोत्र इत्यादिने बारी-बारी शरीरको छोड़कर देखा कि काम चल जाता है किन्तु ज्योंही प्राण शरीर छोड़नेको उद्यत हुआ कि सभीके छक्के छूट गये और सबने उससे सविनय प्रार्थना की कि न जाओ। सबने प्राणकी श्रेष्ठता स्वीकार कर ली। आगे चलकर इसमें श्वेतकेतु और राजा प्रवाहणके संवादकी कथा है। श्वेतकेतु प्रवाहणके मरणोत्तर-अस्तित्व संबंधी प्रश्नोंके उत्तर न दे सका। वह लज्जित होकर अपने पिताके समीप गया जिन्होंने उसे शिक्षा दी थी। पिता भी प्रश्नोंका उत्तर न दे सके। फिर तो शीघ्र ही पिता-पुत्र दोनोंने आकर प्रवाहणसे शिक्षा ग्रहण की। अन्तमें महत्त्व प्राप्त करनेके लिये आवश्यक हवनका विवरण दिया गया है और विद्वान्, सच्चरित्र एवं वीर पुत्र पानेके लिये यथोचित भोजनकी उपयोगिता बताई गई है।

छान्दोग्य उपनिषद्के प्रथम दो अध्यायोंमें साम और उद्गीथ (सामगान)के रहस्यकी व्याख्या की गई है। दूसरे अध्यायमें ओम्की उत्पत्ति बताई गई है। तीसरे अध्यायमें ब्रह्मको विश्वका सूर्य कहा गया है। जिस सूर्यको हम देखते हैं, वह ब्रह्मकी अभिव्यक्ति मात्र है। इसके पश्चात् पूर्ण ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन मिलता है और उसे प्राप्त करनेके उपाय बताये गये हैं। चौथे अध्यायके प्रारंभमें जनश्रुति और रैक्व (गाड़ीवान)की कथा दी हुई है। जनश्रुतिने रैक्वको पर्याप्त दक्षिणा देकर गुरु बनाया। आगे चलकर इसमें सत्यकामकी कथा मिलती है जिसने ब्रह्मचर्याश्रममें हारिद्रुमत गौतमकी गायें चराईं। सत्यकामको बैल, अग्नि, सूर्य और वायुने ब्रह्म-ज्ञान सिखाया। इसी प्रकार सत्यकामके शिष्य उपकोशलको विभिन्न प्रकारकी अग्नियोंने शिक्षा दी। इस अध्यायमें ब्रह्मको प्राप्त करनेके साधन बताये गये हैं। पाँचवें अध्यायमें बृहदारण्यकके छठे अध्यायकी दोनों कथाओंकी आवृत्ति मिलती है। अन्तिम भागमें प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन, और बुडिलकी ब्रह्म और आत्मा विषयक चिन्तनाओंका विवरण है। जब एक साथ बैठकर ब्रह्म-विषयक विवाद करते समय ये किसी परिणाम-पर नहीं पहुँच सके, तो इन्होंने निश्चित किया कि उद्दालकसे पूछा जाय। उद्दालकने अपनी असमर्थताका विचार करके उनसे राजा अश्वपतिके पास जानेको कहा। अश्वपतिको उन्होंने बताया कि हम लोग क्रमशः स्वर्ग, सूर्य, वायु, आकाश, जल, और पृथिवीको आत्मा मानते हैं। अश्वपतिने कहा कि तुम लोग ब्रह्मकी अनेकताको असत्य समझो। एक ब्रह्म ही सर्वत्र व्याप्त है। उससे भिन्न कुछ

भी नहीं है। छठे अध्यायमें श्वेतकेतुकी कथा दी हुई है। उसने वेदोंका अध्ययन तो किया था, किन्तु ब्रह्म-ज्ञान नहीं सीखा था। उसके पिता आरुणिने उससे पूछा कि क्या तुम उसे जानते हो जिसके जाननेसे न सुना हुआ, न सोचा हुआ और न जाना हुआ भी ज्ञात हो जाता है ? श्वेतकेतुके 'नहीं' कहनेपर पिताने उसे ब्रह्मसे सारे चराचर जगत्की उत्पत्तिका वृत्तान्त सुनाया। आरुणिने विविध उदाहरणोंको लेकर मन, प्राण और वाक्की उत्पत्ति क्रमशः अन्न, जल और तेजसे बताई है। इस संबंधमें मनकी उपमा सूत्रमें बँधे हुए पक्षीसे दी गई है। जिस प्रकार वह पक्षी इधर-उधर फड़फड़ाकर कहीं शरण नहीं पाता है, और अन्तमें बंधनका ही आश्रय ग्रहण करता है, उसी प्रकार मन विभिन्न दिशाओंमें चक्कर काटकर अन्यत्र कहीं आश्रय न पाकर प्राण (आत्मा)का ही आश्रय लेता है। मनका बंधन आत्मा ही है। आरुणिने अपने पुत्रसे वटवृक्षके फलको फोड़नेके लिये कहा। उसमेंसे अनेक नन्हें-नन्हें बीज निकले। पिताने उनमेंसे एक बीजको फोड़नेकी आज्ञा दी और उसके फोड़े जानेपर पुत्रसे पूछा कि तुम इसमें क्या देखते हो ? पुत्रने कहा कि मुझे कुछ भी नहीं दिखाई देता। पिताने अपने पुत्रको समझाया कि जिस बीजके भीतर तुम्हें कुछ भी नहीं दिखाई देता है उसीमें वटका महान् वृक्ष है। इसी प्रकार ब्रह्ममें सारा चराचर विश्व निहित है यद्यपि प्रत्यक्ष रूपसे ब्रह्म दिखाई नहीं देता। सातवें अध्यायमें नारदने सनत्कुमारसे ब्रह्म-ज्ञानकी शिक्षा ली है। सनत्कुमारने बताया है कि लौकिक विद्यायें नाम मात्र हैं। उनसे वाक् बड़ा है। वाक्से मन, मनसे संकल्प, संकल्पसे चित्त, चित्तसे ध्यान, ध्यानसे विज्ञान, विज्ञानसे बल, बलसे अन्न, अन्नसे जल, जलसे तेज, तेजसे आकाश, आकाशसे स्मर (स्मरणशक्ति), स्मरसे आशा और आशासे प्राण बढ़कर है। इनमेंसे प्रत्येक अपने उत्तरोत्तर कोटिमें समन्वित हैं। सब कुछ प्राणमें समर्पित है। प्राण न होनेपर मनुष्यका इहलौकिक जीवन नहीं रह जाता। सनत्कुमारने समझाया है कि सत्य बोलनेके लिये सत्यका ज्ञान अपेक्षित है। न जानते हुए कोई सत्य नहीं बोल सकता। इस उपनिषद्की शिक्षाओंका सार नीचे लिखे गद्य भागमें मिलता है—

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।

(जो भूमा है वह सुख है, अल्पमें सुख नहीं है। केवल भूमा ही सुख है। भूमाको ही जानना चाहिये।)

भूमा क्या है ? जिसे कोई देख नहीं सकता, कोई सुनता नहीं, जानता नहीं वही भूमा है। जो देखने, सुनने और जानने योग्य है, वह अल्प है। भूमा ही अमृत है, अल्प ही मर्त्य है। यही भूमा वह आत्मा है जो हम सबमें विराजमान् है। अन्तिम अध्यायमें व्यक्तिगत आत्मा और परमात्मा (ब्रह्म)का विवेचन किया गया है, और परमात्माको पानेका उपाय बताया गया है। ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये आत्मा सेतुकी भाँति उपयोगी है। ब्रह्मचर्यसे ही ब्रह्मलोककी प्राप्ति संभव है। इस अध्यायके अन्तमें इन्द्र और विरोचनकी कथा है। दोनों शिष्य-भावसे हाथमें समिधा लेकर प्रजापतिके पास गये। उन्होंने ३२ वर्ष तक प्रजापतिकी आज्ञाके अनुसार ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया। विरोचन प्रजापतिके प्रथम व्याख्यानमें ब्रह्मको छाया-मात्र मानकर लौट आया किन्तु इन्द्रने १०१ वर्ष वहां रहकर आत्मा और ब्रह्मके वास्तविक रूपका ज्ञान प्राप्त किया।

कौषीतकि-ब्राह्मण-उपनिषद्का आरंभ मनोरंजक कथाके रूपमें हुआ है। चित्रने यज्ञ करानेके लिये आरुणिको पुरोहित चुना। आरुणिने अपने पुत्र श्वेत-केतुको अपने स्थानपर भेज दिया। वहां जानेपर श्वेतकेतुकी परीक्षा होने लगी। चित्रने पूछा कि लोकमें क्या कोई ऐसा गूढ स्थान है जहां तुम मुझे रख सकोगे ? क्या लोकमें दो मार्ग हैं जिनमेंसे एकमें तुम मुझे लगा दोगे ? श्वेतकेतुने कहा 'मुझे नहीं ज्ञात है। आचार्यसे पूछूँगा।' यह कहकर वह लौटकर घर पहुँचा और उसने पितासे प्रश्नोंके उत्तर पूछे। पिताने कहा कि मुझे भी उत्तर ज्ञात नहीं हैं। चलकर चित्रसे ही इनके उत्तर सीखने चाहिये। तत्काल ही पिता और पुत्र हाथमें समिधा लेकर चित्रके पास पहुँचे और उसे गुरु बनाया। चित्रने उनको समझाया कि मरनेके पश्चात् कुछ लोग अपने अच्छे कर्मोंके बलसे ब्रह्मलोक चले जाते हैं और ब्रह्ममय हो जाते हैं; कुछ लोग स्वर्ग या नरकमें जा पड़ते हैं और शेष पुनः मर्त्यलोकमें कर्मानुसार जन्म लेते हैं। दूसरे अध्यायमें ब्रह्मको प्राणरूप बताया गया है। इस प्राणरूपी ब्रह्मका मन दूत है, चक्षु रक्षक हैं, श्रोत्र द्वारपाल हैं, वाक् दासी है। जो मनुष्य मन, चक्षु, श्रोत्र इत्यादिके इन रूपोंको जानता है वह इन्द्रियोंपर अधिकार रखता है। तीसरे अध्यायमें प्रज्ञाको प्राण-रूप बताया गया है। प्रज्ञासे ही सत्य-संकल्प संभव है। प्रज्ञासे मन और मनसे इन्द्रियाँ अपने विषयमें नियोजित होती हैं। प्रज्ञाके बिना न तो मनन हो सकता है और न अन्य कोई काम। चौथे अध्यायमें काशीके राजा अजातशत्रुके समक्ष गार्ग्य ब्रह्मका विवेचन करते हुए मिलते हैं। ऐसी कथा बृहदारण्यक

उपनिषद्में भी आ चुकी है। गार्ग्यके असफल होनेपर अजातशत्रुने स्वयं उसको ब्रह्मज्ञानकी शिक्षा दी।

वेदांग

वेदोंके अध्ययनके लिये छः वेदांगोंकी रचना सूत्र-शैली[1]में हुई। इनके नाम शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष हैं। शिक्षाके द्वारा वदोंके सस्वर पाठ और शुद्ध उच्चारणकी शिक्षा दी जाती थी। इसके छः अध्यायों—वर्ण, स्वर, मात्रा, बल, साम और सन्तान (पाठ करते समय शब्दों-की क्रम-बद्ध योजना)का उल्लेख तैत्तिरीयोपनिषद्में मिलता है। शिक्षाके सर्वप्रथम ग्रंथ प्रातिशाख्य मिलते हैं, जो प्रत्येक संहिताकी विविध शाखाओंके लिये अलग-अलग हैं। व्याकरण-विज्ञानका अध्ययन प्रातिशाख्योंसे ही प्रारंभ होताहै। प्रातिशाख्योंके रचयिता शौनक और कात्यायन कहे जाते हैं।

कल्पमें याज्ञिक विधानोंका वर्णन मिलता है। कल्पके श्रौत सूत्रोंमें श्रौत यज्ञोंकी विधियोंका उल्लेख है। गृह्यसूत्रोंमें संस्कार विधियोंके विषयमें बताया गया है, जिनका उल्लेख संस्कारके अध्यायमें हो चुका है। इन सूत्रोंसे तत्कालीन भारतीय जीवनपर पूरा प्रकाश पड़ता है। धर्म-सूत्रोंमें न्याय तथा धार्मिक रीतियों, आचारों और कार्य-परम्पराओंका वर्णन मिलता है। शुल्व-सूत्रोंका श्रौतसूत्रोंसे निकट संबंध है। इनमें यज्ञ-मंडप और वेदिकाओंका माप दिया हुआ है। भारत-वर्षमें ज्यामिति-विज्ञानकी बातें भी इन सूत्रोंमें मिलती हैं। श्रौत, गृह्य तथा धर्म-सूत्रोंका पूरा विकास हुआ है और इनकी विभिन्न शाखायें आगे चलकर भी प्रस्फु-टित होती रहीं।

व्याकरण संबंधी वेदांगके सूत्रोंका सर्वथा लोप हो चुका है। सबसे पहले व्याकरणके सूत्र पाणिनिने रचे हैं, किन्तु इनका संबंध वैदिक साहित्य-परम्परासे नहीं है।

---

[1] कमसे कम शब्दोंकी क्रमिक योजना द्वारा अधिकसे अधिक बातोंको कहनेकी पद्धति सूत्र-शैली है। सूत्रोंकी परिभाषा नीचेके श्लोकमें कही गई है—

स्वल्पाक्षरमसंदिग्धंसारवद्विश्वतोमुखम्
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः

निरुक्तमें निघंटुके शब्दोंकी व्याख्यायें मिलती हैं। इसके रचयिता यास्क हैं। वेदांगके निरुक्तका अन्य कोई ग्रंथ नहीं मिलता। यास्कने लिखा है कि निघण्टुकी रचना प्राचीन ऋषियोंने की है, जिसकी सहायतासे लोग वेदकी संहिताओंको समझ सकें। निघण्टुमें वैदिक साहित्यके शब्दोंकी सूचियाँ हैं। निरुक्तमें इन्हीं शब्दोंकी व्याख्यायें करके अर्थ निकाले गये हैं और उन अर्थोंके द्वारा तत्संबंधी वैदिक मंत्रोंकी व्याख्यायें की गई हैं। यह निश्चित प्रतीत होता है कि यास्कके पहले भी कई निरुक्तकार हुए हैं जिनकी रचनायें अब उपलब्ध नहीं हैं।

वेदांगके-छन्द भागका पूर्व साहित्य लुप्त हो गया है। छन्दका कुछ विवेचन श्रौतसूत्रमें मिलता है। निदानसूत्रमें सामवेदके छन्दोंका पर्यालोचन किया गया है। पिंगलके छन्दःसूत्रमें वैदिक छन्दोंका विवेचन किया गया है, किन्तु यह संभवतः वैदिककालके पश्चात् लिखा गया।

ज्योतिष-वेदांग ज्योतिषकी पद्यबद्ध एक छोटीसी पुस्तिका है, जिसमें ऋग्वेदकी संहिताके अनुसार ३६ और यजुर्वेदकी संहिताके अनुसार ४३ श्लोक हैं। इसमें प्रधानतः संक्रान्तिके समय सूर्य और चन्द्रकी अवस्थिति और २७ नक्षत्रोंके मध्य नये और पूर्ण चन्द्रकी दशा बताई गई है।

वैदिक भाषा

वेदोंकी रचना उच्च कोटिके ऋषियोंने की थी। उनकी भाषा वैदिककालकी साधारण जनताकी भाषा है, किन्तु उसमें उच्च वर्गकी भाषाकी विशेषतायें मिलती हैं। वेदोंके रचनेवाले ऋषियोंकी भाषा सतत अभ्याससे मँजी हुई प्रतीत होती है। इस भाषामें प्राचीनताकी दी हुई दृढ़ता और सम्पन्नता सर्वत्र झलकती है।

वेदोंकी भाषाका विकास होता रहा। साथ ही वह व्याकरणके नियमोंसे धीरे-धीरे सुव्यवस्थित होती रही। उपनिषदों तक आते-आते यह भाषा संस्कृतके अति निकट आ जाती है। पाणिनिने व्याकरणके सूत्रोंके द्वारा अपने समयकी भाषाको जो रूप दिया, उसका नाम संस्कृत पड़ा। संस्कृतका अर्थ 'संस्कार किया हुआ' है। संस्कृत-भाषाका संस्कार पाणिनिके हाथों ही हुआ है। वैदिक भाषामें

संस्कृतकी अपेक्षा अधिक रूप मिलते हैं। इसमें संज्ञा और सर्वनामके रूपोंकी विविधता संस्कृतसे अधिक है। वैदिक भाषामें संस्कृतकी अपेक्षा कृदन्तोंकी संख्या अधिक है। इसमें क्रियाके रूपोंका भी अतिशय बाहुल्य है। ऋग्वेदके आकांक्षा-द्योतक लकारका संस्कृतमें सर्वथा लोप हो गया। वेदोंमें 'लिये'का अर्थ बतानेके लिये बारह प्रत्यय मिलते हैं जिसका केवल एक रूप 'तुमुन्' संस्कृतमें चल रहा है।

वैदिक साहित्यकी भाषा संगीतमयी रही है। इसके उदात्त, अनुदात्त और स्वरित उच्चारण संस्कृत भाषामें नहीं चल सके।

वैदिक काल

वेदोंके रचना-कालके संबंधमें प्रायः मत-भेद रहा है क्योंकि अब तक कोई ऐसा प्रामाणिक आधार नही मिल सका है, जिसके बलपर ठीक निश्चय किया जा सके। प्रायः योरपके विद्वान् यह सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं कि वेद बहुत पुराने नही हैं। मैक्समूलरने वैदिक साहित्य-की रचनाका आरंभ-काल ई० पू० १२००से लेकर १०००के मध्य तक माना है। यह तिथि बहुत दिनों तक प्रामाणिक मानी जाती थी और आज भी बहुत-से योरपके विद्वान् इसकी प्रामाणिकताका विरोध स्वान्तःसुखाय नहीं करते हैं।

भारतमें वेदोंका रचना-काल निश्चित करनेका सफल प्रयत्न लोकमान्य तिलकने किया। उन्होंने ग्रहों और नक्षत्रोंकी चालके आधारपर 'ओरायन' ग्रंथमें वैदिक काल ऋग्वेदसे उपनिषदों तक ई० पू० ४५००से ई० पू० १६०० निश्चित किया। जर्मन विद्वान् याकोबीने भी ज्योतिष-गणितके आधारपर निश्चित किया कि वैदिक साहित्यकी रचना ई० पू० ४५००से २५००के बीचमें हुई। जर्मनीके अन्य प्रसिद्ध विद्वान् विन्तरनित्जने वैदिक साहित्यके आरंभ होनेका समय ई० पू० २५००से २००० तक माना है और इसका अन्तकाल महात्मा गौतमबुद्धके पहले ई० पू० ७५०से ५००के बीच निर्णय किया है। विन्तरनित्जने तिथि-निर्णय संबंधी कठिनाइयोंकी ओर संकेत करते हुए लिखा है कि सबसे अधिक बुद्धिमानीका मार्ग तो यह है कि किसी निश्चित की हुई तिथिके चक्करमें न पड़ें और अत्यन्त प्राचीन या जान-बूझकर कही हुई नवीन तिथियोंको न मानें।

चतुर्दश अध्याय

भाषा और साहित्य (२)

(संस्कृत और प्राकृत)

महाभारत

महाभारतका अर्थ भारतोंके युद्धकी कथा है। इसमें प्रधान रूपसे कौरवों और पाण्डवोंका इतिहास मिलता है। कौरव और पाण्डव भरत कुलमें हुए थे। इस कुलका प्रथम परिचय ऋग्वेदसे मिलता है। ऋग्वेदमें भरतोंको रण-वीर जाति बताया गया है। कौरवों और पाण्डवोंका युद्ध कुरुक्षेत्रमें हुआ था। इस युद्धमें भारतवर्षके प्रायः सभी राजाओंने भाग लिया। उस समय महाभारत-की कथा इस देशके कोने-कोनेमें पहुँची। प्रारंभमें महाभारतका आकार-प्रकार इतना विशाल नहीं था। धीरे-धीरे इसमें नये अध्याय जोड़े गये और पुराने अध्यायोंका विस्तार होता रहा। परिणाम यह हुआ कि महाभारतमें, साधारण ग्रंथोंकी भाँति, केवल कुछ परिमित वृत्तान्त ही नहीं मिलते, अपितु इसका वर्ण्य विषय महासागरकी भाँति विपुल हो गया है जिसमें अगणित विषयोंपर कुछ न कुछ लिखा हुआ मिलता है। महाभारतमें इसकी विश्वतोमुखी प्रवृत्तिके सबंधमें लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके विषयमें जो कुछ इस ग्रंथमें कहा गया है, वही अन्यत्र है। जो इसमें नहीं है, वह कहीं नहीं है।[1]

महाभारतमें कौरवों और पाण्डवोंकी कथाके अतिरिक्त सृष्टिकी उत्पत्ति, विभिन्न राजवंशोंके इतिहास, देवताओं, महर्षियों और युद्ध-वीरोंके चरित, तीर्थोंके वृत्तान्त, वर्णाश्रम धर्मका वर्णन, राजनीति और सदाचारकी शिक्षा, कर्मोंके फल तथा स्वर्ग और नरकके विवरण मिलते हैं। महाभारतकी इस रूप-रेखापर विचार करनेसे विश्वास होता है कि भारतीय संस्कृतिके इतिहासमें इस ग्रंथका

---

[1] धर्मे चार्थे चकामे च मोक्षे च भरतर्षभ
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

महत्त्व अद्वितीय है। इसमें भारतीय जीवनके प्रत्येक क्षेत्रका विशद चित्रण है। महाभारतका सारा साहित्य मानव समाजको पद-पदपर प्रगतिशील होनेका सन्देश देता है। जिन वीरों, विद्वानों, दार्शनिकों और राजाओंका उल्लेख इसमें मिलता है, वे प्रायः सभी उच्च व्यक्तित्वके महापुरुष थे। इस ग्रंथसे यह निस्सन्देह सिद्ध होता है कि हमारे महाभारत-कालीन पूर्वज महान् थे।

महाभारतका जो आधुनिक रूप मिलता है, उसमें एक लाखसे अधिक श्लोक मिलते हैं। यह संसारका सबसे बड़ा ग्रंथ है। सारा ग्रंथ १८ पर्वोंमें विभक्त है। इसके बारहवें पर्वमें १४००० श्लोक हैं। यही पर्व सबसे बड़ा है। सत्रहवाँ पर्व सबसे छोटा है जिसमें केवल ३१२ श्लोक हैं। प्रत्येक पर्व कई अध्यायोंमें बँटा हुआ है। इसके भीष्मपर्वसे श्रीमद्भगवद्गीता ली गई है, जिसमें १८ अध्याय हैं।

महाभारत इतिहासके साथ ही मनोरम काव्य भी है। इसमें वन, पर्वत, उपवन, नदी, सरोवर, नगर इत्यादिके वर्णन काव्यमय शैलीमें मिलते हैं। इस ग्रंथमें काव्यके नव रसोंका समावेश हुआ है। शान्तरसकी प्रधानता है। हमारे देशके सारे परवर्ती साहित्यपर महाभारतका प्रभाव दिखाई पड़ता है। महाकाव्यों और नाटकोंकी कथा-वस्तुकी रूप-रेखा निर्माण करनेमें महाभारतकी सहायता प्रायः सभी कवियोंने ली है।

रामायण

रामायणकी रचना महर्षि वाल्मीकिने की। यह संस्कृत साहित्यका सर्वप्रथम काव्य-ग्रंथ है। इसीलिये इसे आदिकाव्य और इसके रचयिताको आदिकवि कहते हैं। रामायणके चरितनायक राम विष्णुके अवतार हैं। रामका चरित बहुत प्राचीन कालसे लेकर आज तक भारतवासियोंके लिये आदर्श माना गया है। उनके आदर्शकी प्रतिष्ठा वाल्मीकिके पश्चात् कालिदास, कुमारदास, भवभूति इत्यादि महाकवियोंने संस्कृतमें की। इसके अतिरिक्त प्राकृत और हिन्दी साहित्यमें रामकी चरितगाथा कई कवियोंकी कृतियोंके रूपमें मिलती है। भारतीय साहित्यमें रामचरितका अवलम्ब लेकर जो कुछ लिखा गया, उसपर प्रायः रामायणका प्रभाव पड़ा है। केवल कथा-वस्तु ही नहीं, वल्कि परवर्ती काव्य-रचनाकी शैली भी रामायणके द्वारा प्रभावित हुई है। काव्य-जगत्के कल्पनात्मक निदर्शनपर सर्वत्र वाल्मीकिकी शैलीकी छाया दृष्टिगोचर होती है। मानव-जीवनकी जो रूप-रेखा आदि-काव्यमें चित्रित की गई, उसे अन्य

कवियोंने प्रायः ज्योंका त्यों अपनाया। काव्य-साहित्यमें ऋतु, नदी, पर्वत, वन और नगर इत्यादिके वर्णनका आधार रामायणमें मिलता है।

रामायणकी कथा-वस्तु अति परिचित है। वाल्मीकिकी वर्णनात्मक काव्य-शैलीका परिचय देनेका प्रयास नीचेके श्लोकोंमें किया गया है —

पश्य रूपाणि सौमित्रे वनानां पुष्पशालिनाम्।
सृजतां पुष्पवर्षाणि वर्षं तोयमुचामिव॥
प्रस्तरेषु च रम्येषु विविधाः काननद्रुमाः।
वायुवेगप्रचलिताः पुष्पैरवकिरन्ति गाम्॥

(राम लक्ष्मणसे पम्पाके सौन्दर्यका वर्णन करते हैं—फूलोंसे शोभायमान वनोंको देखो। ये बादलोंकी भाँति फूलोंकी वर्षा कर रहे हैं। वनके विभिन्न प्रकारके वृक्ष वायुवेगसे चंचल होकर मनोहर पथरीली भूमिपर फूल बिखेर रहे हैं।)

हंसो यथा राजतपंजरस्थः सिंहो यथा मन्दरकन्दरस्थः।
वीरो यथा गर्वित कुंजरस्थश्चन्द्रोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः॥
शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो महारणं प्राप्य यथा गजेन्द्रः।
राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्रस्तथा प्रकाशो विरराज चन्द्रः॥

(आकाशमें चन्द्रमा वैसे ही चमक रहा था जैसे चाँदीके पंजरमें हंस, मन्दर पर्वत-की कन्दरामें पड़ा हुआ सिंह या मत्त हाथीपर बैठा हुआ वीर सुशोभित होता है। जैसे मृगराज शिलातलपर जाकर, गजराज युद्ध-भूमिमें जाकर और सम्राट् राज्य पाकर सुशोभित होते हैं वैसे ही चन्द्रमा लंकापुरीमें सुशोभित हो रहा था।)

विच्छिन्नाश्च विकीर्णाश्च रामरावणयोः शराः।
अन्तरिक्षात्प्रदीप्ताग्रा निपेतुर्धरणीतले॥
तयोर्ज्यातलनिर्घोषो रामरावणयोर्महान्
त्रासनं सर्वभूतानां बभूवाद्भुतदर्शनः॥

(राम और रावणके बाण कट पिटकर बिखर जाते थे। आकाशसे पृथिवीपर गिरते समय उनकी नोकसे आगकी लपटें निकलती रहती थीं। राम और रावणके धनुष-की डोरीके घोर शब्दसे प्राणिमात्रको भय हो रहा था। सारा दृश्य अद्भुत था।)

ऊपर लिखे हुए श्लोकोंसे प्रकट होता है कि वाल्मीकिकी शैली स्पष्ट और सरल है, उनकी रचनामें कल्पनाओंकी प्रचुरता है और कल्पनायें स्वाभाविक हैं।

वाल्मीकि रामायणमें कथावस्तुका विन्यास बहुत विस्तारपूर्वक किया गया

है। सारा रामायण सात कांडोंमें समाप्त हुआ है। प्रत्येक कांडमें कई सर्ग हैं। सबसे अधिक सर्गोंकी संख्या युद्ध-कांडमें १२८ है। इसग्रंथमें लगभग २५००० श्लोक हैं।

रामायण और महाभारत काल

रामायण और महाभारतकी रचनाके संबंधमें विद्वानोंके विभिन्न मत मिलते हैं। इन मतोंपर विचार करते हुए यही कहा जा सकता है कि इनका आरंभ-काल संभवतः ई० पू० आठवीं शताब्दी है। उस समयसे धीरे-धीरे रामायण और महाभारत-साहित्यका विकास हुआ है। इनमें परिवर्त्तन और संशोधन होते रहे। ई० पू० दूसरी शताब्दीमें इनका वर्त्तमान रूप बन गया था। जर्मनीके प्रसिद्ध विद्वान् विन्तरनित्ज महाभारत और रामायणके रचनाकाल क्रमशः ई० पू० ४००से ४०० ई० तथा ई० पू० ३००से २०० ई० मानते हैं।

पुराण

पुराणका अर्थ प्राचीन है। धीरे-धीरे पुराण शब्दका प्रयोग प्राचीन कथाओं-के लिये होने लगा और इन कथाओंके साहित्य और ग्रंथोंको भी पुराण कहा जाने लगा। पुराणोंका ग्रंथरूपमें सर्वप्रथम उल्लेख अथर्ववेदमें मिलता है। सूत्र-कालमें पुराण-साहित्य महत्त्वपूर्ण माना जाता था। धर्मसूत्रमें लिखा है कि राजाको न्यायकी व्यवस्था वेद, वेदांग और पुराणोंके आधारपर करनी चाहिये। अथर्ववेद, उपनिषद् और सूत्र-साहित्य में जिन पुराणोंके उल्लेख मिलते हैं उनकी भाषा वैदिक होनी चाहिए। किन्तु आजकल जो पुराण प्राप्त हो सके हैं, उनकी भाषा वैदिक नहीं है। अभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उन पुराणोंका क्या हुआ। संभवतः उनकी भाषा और कथा-वस्तुका विकास होकर आधुनिक पुराणोंका रूप बना हो।

पुराणोंके अनुसार उनके पांच वर्ण्य विषय माने गये हैं—सर्ग (सृष्टि), प्रतिसर्ग (प्रलय और नई सृष्टि), वंश (देवताओं और ऋषियोंकी वंश-परंपरा-का वर्णन), मन्वन्तर (मनुके युग), और वंशानुरचित (राजवंशोंके इतिहास)। आजकल जो पुराण मिलते हैं, उनमें कुछके वर्ण्य विषय तो इस प्रकारके हैं परन्तु कई पुराणोंमें इन विषयोंका उल्लेख भी नहीं मिलता। ऊपर दिये हुए वर्ण्य-विषयसे ज्ञात होता है कि मौलिक पुराण प्रायः इतिहासकी भाँति थे। इनमें धार्मिकताका अंश बहुत कम था, किन्तु जो पुराण इस समय प्राप्त हैं उनकी प्रवृत्ति

प्राय: धार्मिक है। वे शैव या वैष्णव सम्प्रदायोंका प्रतिपादन करते हैं और उनमें वर्णाश्रम धर्म, श्राद्ध, कर्म, व्रत, उपवास और दर्शनोंके विषयकी चर्चाकी गई है।

पुराणोंमें भारतीय संस्कृति अबतक सुरक्षित है। इनमें भारतवासियोंकी धार्मिक, दार्शनिक और आचार-संबंधी प्रवृत्तिका इतिहास मिलता है। ऐतिहासिक अनुसन्धान करते समय पुराणोंमें दिये हुए राजवंशोंके वृत्तान्त सहायक हुए हैं। महाभारतकी भाँति पुराणमें भी अगणित विषयोंपर सामग्री मिलती है। इस सामग्रीका सदुपयोग केवल वैज्ञानिक दृष्टिसे ही किया जा सकता है। भूगर्भमें पड़े हुए रत्नोंकी भाँति पुराणोंमें अनुपम ज्ञानराशि संचित है। इसको काट-छाँटकर तथा प्रामाणिक बनाकर सर्वसाधारणके लिये उपयोगी बनाना विद्वानोंका काम है। बहुत प्राचीनकालसे लेकर आजतक पुराणोंका प्रचार भारतवर्षके कोने-कोनेमें रहा है। पुराणोंकी कथायें आज भी गाँवों और नगरोंमें सुनाई जाती हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल भी भारतीय संस्कृति और विशेषत: साहित्यकी रूप-रेखा निर्माण करते समय पुराण उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं।

प्राय: सभी पुराणोंमें १८ पुराणोंके नाम इस प्रकार मिलते हैं—ब्रह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कंडेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्ड। पुराणोंकी कथा-वस्तुकी कुछ-कुछ कल्पना ब्रह्मपुराणकी नीचे दी हुई कथा-वस्तुसे हो सकती है। नैमिष वनके ऋषियोंके पास लोमहर्षण सूत आते हैं। ऋषि उनसे सृष्टि और प्रलयका वृत्तान्त सुनानेकी प्रार्थना करते हैं। लोमहर्षण विश्वकी उत्पत्ति; मनु और उनकी सन्तानके जन्म; देवताओं, गन्धर्वों और अन्य जीवकोटियोंकी उत्पत्ति; सूर्य और चन्द्र वंशोंके इतिहास; पृथ्वी, स्वर्ग और नरकके विभागोंके वर्णन सुनाते हैं। इस पुराणमें तीर्थोंके वर्णनकी अधिकता है। उत्कल (उड़ीसा) प्रान्त और वहांके मन्दिरोंका विशद विवरण दिया गया है। उत्कलमें सूर्यकी पूजा प्रधान रूपसे होती थी। इस संबंधमें सूर्यकी उत्पत्तिकी कथा दी हुई है। उत्कलके शिव-वनका वर्णन करते समय शिव और उमाकी पूरी कथा दी गई है। इसके पश्चात् कंडुकी कथा मिलती है। कंडुने अप्सराओंके सहवासमें कई सौ वर्ष बिताये, किन्तु उनको यही प्रतीत होता था कि अभी कुछ घंटे ही बीते हैं। कृष्णके वर्णनमें उनके बालकपनकी कथायें और साहसपूर्ण कामोंका चित्र खींचा गया है। उनको विष्णुका अवतार माना गया है। अन्तमें श्राद्धके नियम, सदाचार, वर्णा-

श्रम-धर्म, स्वर्ग और नरककी प्राप्ति तथा विष्णुपूजाके महत्त्वका वर्णन किया गया है। युगों और प्रलयके वर्णन तथा सांख्य और योगदर्शन एवं मुक्तिके मार्ग-का विवेचन करके यह पुराण समाप्त किया गया है।

इन पुराणोंके अतिरिक्त जैनियोंके भी पुराण मिलते हैं। जैनियोंके महा-पुराणमें जैनधर्मके ६३ महापुरुषोंके जीवन-चरितका वर्णन मिलता है। सातवीं शताब्दीमें रविषेणने पद्मपुराणकी रचना की जिसमें पद्म (राम) का जीवनचरित लिखा गया है। जैनियोंने रामके चरितका वर्णन हिन्दुओंके पद्मपुराण या रामा-यणके अनुसार नहीं किया है, अपितु रामको नायक बनाकर एक नई कथाका विन्यास किया है। जैनियोंके अनेकों पुराण संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओंमें मिलते हैं।

महाकाव्य

भारतीय साहित्यमें काव्य-रचनाका प्राधान्य है। वैदिक कालसे ही साहित्य-में काव्यकी परम्पराका आरंभ हुआ और महाभारत, रामायण तथा पुराणोंमें इसका विकास हुआ है। रामायण संस्कृत काव्यका आदि ग्रंथ है। आदि काव्यसे ही महाकाव्यकी शैलीका प्रारंभ हुआ है। रामायणके पश्चात् सर्वप्रथम महाकाव्य पहली शताब्दीमें अश्वघोषके लिखे हुए सौन्दरनन्द और बुद्धचरित मिले हैं। बुद्धचरितमें गौतमबुद्धका सम्पूर्ण जीवनवृत्त और बौद्धदर्शनका संक्षिप्त विवरण मिलता है। इसकी कथा-वस्तु अति परिचित है। सौन्दरनन्दमें नन्दके बौद्ध भिक्षु बननेकी कथाका वर्णन है। गौतमबुद्धने अपने भाई नन्दको भिक्षु बनाकर संघमें सम्मिलित किया था। इसी कथाको अश्वघोषने रोचक ढंगसे महाकाव्य रूपमें ढाला है। प्रथम सर्गमें शाक्योंकी राजधानी कपिलवस्तुका इतिहास है। इसके पश्चात् राजा शुद्धोदन और उनके दो पुत्र सवार्थसिद्ध और नन्दका वर्णन आता है। तीसरे सर्गमें सर्वार्थसिद्धके बोधि प्राप्त करके गौतमबुद्ध होनेका विवरण है। एक बार गौतमबुद्ध कपिलवस्तुमें आते हैं। इधर नन्द गृहस्थाश्रममें सुन्दरी नामकी रानीके साथ अन्तःपुरमें पड़े हुए भोग-विलासका जीवन बिता रहे हैं। गौतमबुद्धने भिक्षाचर्याके समय नन्दके घरपर भोजन माँगा। नन्दके विलासमय जीवनमें भिक्षुओंकी पुकारके लिये कहाँ स्थान था? उन्होंने नहीं सुना। शीघ्र ही उन्हें गौतमबुद्धकी भिक्षाचर्याका वृत्तान्त ज्ञात हुआ। पत्नीसे थोड़ी देरकी छुट्टी माँगकर वे बुद्धसे मिलने गये, पर वे वहांसे लौट न सके। इच्छा

न होनेपर भी उन्होंने भिक्षु होनेकी स्वीकृति दे दी। चटपट उनके सँवारे हुए केश काट दिये गये। उस समय उनके आँसू गिर रहे थे। कुछ दिन बीतनेपर उन्होंने संघ छोड़कर भाग जानेका निश्चय किया, किन्तु गौतमबुद्धने उन्हें अप्सराओंको दिखलाकर उनकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेकी सुझा दी। फिर तो वे अपनी सुन्दरीको भूलकर अप्सराओंके लिये कठिन तप करने लगे। अन्तमें मुक्तिके लिये अप्सराओंका ध्यान भी नन्दने छोड़ दिया और बौद्धधर्मके प्रचारक हो गये। नीचेके उदाहरणोंसे अश्वघोषकी शैलीकी कल्पना की जा सकती है—

नन्दस्ततः तरुकषायविविक्तवासा
श्चिन्तावशो नवगृहीत इवद्विपेन्द्रः।
पूर्णः शशी बहुलपक्षगतः क्षपान्ते
बालातपेन परिषिक्त इवाबभासे॥

(नन्दने कषाय वस्त्र धारण किया, उस समय वे चिन्तित थे जैसे कोई गजराज अभी-अभी पकड़ा गया हो। उस समय नन्दका दृश्य वैसा ही था जैसा पूर्णिमाके चन्द्रका, जब वह रात्रिका अन्त होनेपर बालसूर्यकी किरणोंसे नहलाया जाता है।)

अथ मेरुगुरुर्गुरुं बभाषे यदि नास्ति क्रम एष नास्मि वार्यः।
शरणाज्ज्वलनेन दह्यमानान्न हि निश्चिक्रमिषुः क्षमं ग्रहीतुम्॥

(तब मेरु पर्वतके समान गौरवपूर्ण सिद्धार्थने कहा कि यदि यह क्रम नहीं है तो मुझे रोकना ठीक नहीं है। अग्निसे जलते हुए घरसे निकलनेकी इच्छा करनेवालेको पकड़ रखना उचित नहीं है।)

मुच कंथक मा वाष्पं दर्शितेयं सदश्वता।
मृष्यतां सफलः शीघ्रं श्रमस्तेऽयं भविष्यति॥

(सिद्धार्थ अपने घोड़ेसे कहते हैं, "कंथक आँसू न गिराओ। तुमने अच्छे घोड़ोंके समान काम किया है। मुझे क्षमा करो। तुम्हारा श्रम शीघ्र ही सफल होगा।")

सौन्दरनन्दमें कविने तत्कालीन काव्यके लक्ष्यकी ओर संकेत करते हुए कहा है—

इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भाकृतिः।
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात् कृता॥

(मुक्तिकी चर्चा करनेवाली यह रचना शान्तिके लिये है, विलासके लिये नहीं। काव्य-रूपमें यह इसीलिये लिखी गई है कि वे श्रोता, जिनका मन अन्य विषयोंकी ओर दौड़ता है, इसको पढ़ें।)

अश्वघोषके महाकाव्योंके पश्चात् कालिदासके दो महाकाव्यों—रघुवंश और कुमारसंभवका नाम आता है। कालिदासका अभ्युदय गुप्तकालमें ४०० ई०के लगभग हुआ। 'रघुवंश'में कालिदासने रघुवंशके राजाओंका वर्णन किया है। आरंभमें महाराज दिलीपकी कथा कही गई है। दिलीपने कामधेनुकी पुत्री नन्दिनी गायकी सेवा करके उससे पुत्र पानेका वर पाया। पुत्रका नाम रघु पड़ा। रघुने दिग्विजय करके विश्वजित् यज्ञ किया। रघुके पुत्रका नाम अज था। कालिदासने अजके विवाहके अवसरपर इन्दुमतीके स्वयंवरका विशद चित्रण किया है। अजके पुत्र महाराज दशरथ हुए। दशरथको मृगयाका बड़ा चाव था। उन्होंने रात्रिके समय घड़ा भरते हुए श्रवणको मार डाला था। इस घटनाका पूरा विवरण नवें सर्गमें मिलता है। यहींसे रामकी कथाका वर्णन प्रारंभ होता है। इस कथाका आधार वाल्मीकि-रामायण है। कथा बहुत संक्षेपमें कही गई है। केवल चार सर्गोंमें राम-जन्मसे लेकर रावणकी मृत्यु तककी घटनाओंका वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् रामके लंकासे लौटने और सीताके वनवासका वर्णन आता है। रामकी आज्ञाके अनुसार लक्ष्मण सीताको वाल्मीकिके आश्रममें छोड़ आते हैं। वहां उसे लव और कुश, दो पुत्र उत्पन्न होते हैं। रामके अश्वमेध यज्ञमें वाल्मीकि लव और कुशके साथ आते हैं और रामसे सीताको पुनः ग्रहण करनेके लिये कहते है। राम प्रजाके सामने सतीत्वका प्रमाण देनेके पश्चात् सीताको ग्रहण करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं। सीता आती है, किन्तु आत्मशुद्धिकी परीक्षा देते समय पृथिवी उसे सदाके लिये अपने गर्भमें ले लेती है। अन्तमें पुत्रोंको राज्य देकर राम भी विमानसे स्वर्ग चले जाते हैं। उस समय कुश कुशावतीमें राज्य करते थे। अयोध्या नगरी-की दुर्दशाका समाचार जानकर वे पुनः आते हैं और एक बार पुनः नगरीका अभ्युदय होता है। कुशके पश्चात् कोई योग्य राजा रघुवंशमें नहीं हुआ। अन्तिम राजा अग्निवर्ण क्षय-रोगसे मर गया और उसकी रानीने, जो गर्भवती थी, शासन भार अपने हाथोंमें लिया।

कुमारसंभवमें कालिदासने शिव और पार्वतीके विवाह और उनके पुत्र कार्तिकेयके द्वारा तारकासुरके वधकी कथा लिखी है। पार्वती हिमालय पर्वत-की कन्या थी। नारदने हिमालयसे कहा कि इसका विवाह शिवसे होगा। तभीसे पार्वती शिवकी सेवा करने लगी। इधर देवताओंको ब्रह्माने बताया कि उनके शत्रु तारकको शिव और पार्वतीका पुत्र ही युद्धमें मार सकता है।

देवताओंके राजा इन्द्रने कामको शिवकी तपस्या भंग करके पार्वतीके प्रति प्रेम उत्पन्न करनेके लिये भेजा। इस प्रयासमें कामको प्राणसे हाथ धोने पड़े। शिवने उसे जला दिया। पार्वतीको छोड़कर शिव अन्यत्र चले गये। ऐसी परिस्थितिमें पार्वतीने शिवके लिये तप करना आरंभ किया। उसकी घोर तपस्यामे शिव प्रसन्न हुए। उन्होंने पार्वतीकी तपोमयी निष्ठा देखकर उसको अपनी पत्नी बना लिया। कुछ समय बीतनेपर कुमार कार्तिकेयका जन्म हुआ और उन्होंने घोर संग्राममें तारकका वध किया।

संस्कृत साहित्यमें कालिदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं। वे मूर्त्तिमान् विनय थे, जैसा कि उनके नीचे लिखे श्लोकसे ज्ञात होता है—

मन्दः कवियशः प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्वाहुरिव वामनः॥

(मैं मन्द हूँ। कवियशकी इच्छा करनेपर मेरा उपहास उसी प्रकार होगा जैसे किसी वामनका होता है जब वह लोभवश अपनी वाहोंको उठाकर ऐसे फलकी कामना करता है जिसको ऊँचा पुरुष ही पा सकता हो।)

ऐसे विनयी कविने उच्चकोटिके पात्रोंकी सृष्टि करके अपनी रचनाओंको आदरणीय वनाया है। कालिदासके महाराज दिलीप सिंहसे कहते हैं—

सेयं स्वदेहार्पणनिष्क्रयेण न्याय्या मया मोचयितुं भवत्तः
न पारणा स्याद्विहता तवैवं भवेदलुप्तश्च मुनेः क्रियार्थः॥

(अपने शरीरको देकर इस गौको आपसे छुड़ा लेना ही उचित है। ऐसा करनेसे आपका भोजन भी हो सकेगा और गुरुकी होमादि क्रियायें भी चल सकेंगी।)

राजा रघु और स्नातक कौत्सके विषयमें कविने लिखा है—

जनस्य साकेतनिवासिनस्तौ द्वावप्यभूतामभिनन्द्यसत्त्वौ।
गुरुप्रदेयाधिकनिःस्पृहोऽर्थी नृपोऽर्थिकामादधिकप्रदश्च॥

(साकेतकी जनताके लिये उन दोनोंका आचरण स्तुत्य प्रतीत हुआ। राजा प्रार्थीको आवश्यक धनसे अधिक देनेपर तुला हुआ था और प्रार्थी गुरुदक्षिणासे अधिक लेनेके लिये उद्यत नही था।)

महाकवि कालिदासने अपनी रचनाओंके द्वारा संस्कृत काव्यके लिये ऊँचा आदर्श उपस्थित किया है। उनकी पात्र-कल्पना मानवताको उन्नत करनेके लिये है। उनकी शैली सरल और सुरुचिपूर्ण है जिसका आनन्द संस्कृतका साधा-

रण ज्ञान रखनेवाले भी उठा सकते हैं। कालिदासकी रचनामें रहस्य और आडम्बरको स्थान नहीं मिला है।

कालिदासके पश्चात् महाकाव्यके रचयिताओंमें सर्वप्रथम नाम भारविका आता है। भारविका प्रादुर्भाव छठी शताब्दीमें हुआ। भारविके रचे हुए महा-काव्य किरातार्जुनीयमें किरात वेशधारी शिव और अर्जुनकी कथा है। अर्जुन हिमालय पर्वतपर शिवको प्रसन्न करनेके लिये तपस्या कर रहा है। उसी समय मूक नामी असुर सूअरका रूप धारण करके अर्जुनको मारनेके लिये आता है। शिवने देखा कि अर्जुन तपस्याके कारण निर्बल हो गया है। कहीं मूक उसे मार न डाले। शीघ्र ही किरातका वेश धारणकर घटनास्थलपर आ पहुँचते हैं। अर्जुन भी धनुष-बाण उठा लेता है और मूअरका सामना करता है। संयोगवश किरात और अर्जुनके बाणोंका प्रहार एक साथ ही सूअरपर होता है। सूअर-को किसने मारा—बस इसी बातपर अर्जुन और किरातका युद्ध प्रारंभ होता है। अन्तमें शिव अर्जुनकी वीरतासे प्रसन्न होकर उसे वर देते हैं।

भारविने महाभारतसे इस महाकाव्यकी कथा ली है, परन्तु इसकी रूप-रेखा-का विन्यास उन्होंने कलापूर्ण ढंगसे स्वयं किया है। कविने अपनी रचनामें लग-भग सर्वत्र उच्चकोटिकी कल्पनायुक्त शैली निभानेका प्रयास किया है। उदा-हरणके लिये नीचे लिखा श्लोक हिमालय-वर्णनके संबंधमें उल्लेखनीय है—

तपनमंडलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा॥

(हिमालय पर्वत एक ओर सूर्यमंडलसे दीपित है, उसकी दूसरी ओर रात्रिका घोर अन्धकार छाया हुआ है। ऐसी परिस्थितिमें वह शिवकी भाँति दिखाई देता है जब कि उनके पीछे गजचर्मके कारण कालिमा हो और सामने उनके हास्यसे अन्धकार दूर हो गया हो।)

भारविकी कल्पनायें प्रायः स्वाभाविक हैं, किन्तु हैं बड़ी ऊँची। ऐसी कल्प-नाओंके अतिशय बाहुल्यके कारण काव्यकी स्वाभाविकता नष्ट हो गई है। कविका काव्य-जगत् भूतलसे बहुत अधिक ऊँचा है। संभव है, यह युगका प्रभाव हो क्योंकि कालिदासके पश्चात् प्रायः सदाके लिये काव्यका भाव-गांभीर्य और शैलीकी सरलताका लोप सा हो जाता है। भारवि और उनके अनुगामियोंमें कौशलका अति प्रदर्शन साधारण-सी वस्तु हो गई है। भारविके समयसे निम्ना-ङ्कित कोटिकी बनावटको काव्य-क्षेत्रमें स्थान मिला—

स सासिः साससुः सासो येयायेयाययायया ।
ललौ लीलां ललोऽलोलः शशी शशि शुशीः शशन् ।।

भट्टिने सातवीं शताब्दीमें रावणवध महाकाव्य लिखा । इसमें रामायणकी कथा संक्षेपमें कही गई है । 'रावणवध' महाकाव्यके साथ ही अलंकार-शास्त्र और व्याकरणका भी ग्रंथ है । काव्यकी सरस पद्धतिमें इन नीरस भारोंको लेकर चलनेवाले कवियोंकी अपने युगमें बड़ी प्रतिष्ठा थी । भट्टिको महाकविकी उपाधि मिली है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि भट्टि यदि स्वतंत्र रूपसे केवल काव्य-रचना करता और व्याकरण और अलंकारोंके चक्करमें न पड़ता, तो उसकी कविता अधिक रमणीय हो पाती ।

कुमारदासने सातवीं शताब्दीमें 'जानकीहरण' महाकाव्यकी रचना की । इस महाकाव्यका उद्धार सबसे पहले इसके सिंहली भाषामें अनुवादसे हो सका था । फिर तो दक्षिण भारतमें इसकी एक हस्तलिखित प्रति भी मिली । इस महाकाव्यमें लगभग सम्पूर्ण रामायणकी कथा मिलती है । कुमारदासने कथाके काव्योचित स्थलोंको ही प्रधान रूपसे अपनाकर मनोहर वर्णनोंसे महाकाव्यको भरा है । कविकी काव्य-शैली प्रायः सरल है । बालक रामका स्वाभाविक वर्णन इन शब्दोंमें मिलता है—

न स राम इहक्व यात इत्यनुयुक्तो वनिताभिरग्रतः ।
निजहस्तपुटावृताननो विदधेऽलीकनिलीनमर्भकः ।।

('यहां राम नहीं हैं, कहां गये' इस प्रकार स्त्रियोंने रामको खोजते हुए कहा । इधर राम अपने दोनों हाथोंसे मुँह ढककर आँखमिचौनी खेलते थे ।)

सातवीं शताब्दीके उत्तरार्द्धमें माघने 'शिशुपालवध' महाकाव्य लिखा । इसमें कृष्णके द्वारा शिशुपालके वधका वर्णन है । नारद द्वारकामें कृष्णकी राज-सभामें आकर शिशुपालके अत्याचारोंका वर्णन करते हैं और उसे मारनेके लिये कृष्णको उत्साहित करते हैं । उसी समय कृष्णको युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञके-लिये निमंत्रण मिलता है । उद्धव, बलराम और कृष्ण मंत्रणा करते हैं कि ऐसी परिस्थितिमें क्या किया जाय । अन्तमें राजसूय यज्ञमें जानेका निश्चय करके कृष्ण इन्द्रप्रस्थके लिये सेनासहित प्रस्थान करते हैं । मार्गमें रैवतक पर्वतपर सभी लोग पुष्पावचय, जलक्रीड़ा और पानगोष्ठी इत्यादिका आनन्द लेते हैं । अन्तमें कृष्ण यज्ञभूमिमें पहुँचते हैं । वहां उन्हें अर्घ्य दिया जाता है । शिशुपाल कृष्णको इस प्रतिष्ठाका पात्र नहीं समझता है । कृष्ण और शिशुपालका युद्ध

होता है, जिसमें शिशुपाल मारा जाता है। इस कथाका आधार माघने महाभारतके सभापर्वसे लिया है। महाकाव्यमें कृष्ण और नारदका सम्मेलन सभापर्वके युधिष्ठिर और नारदके सम्मेलनसे मिलता-जुलता है। शेष भाग सभापर्वके राजसूय-यज्ञके वर्णनके अनुसार हैं। कथा-वस्तुको यह रूप देकर कविने इसमें नारदके स्वागत, उद्धव, बलदेव और कृष्णकी मंत्रणा, द्वारका नगरी, सेनाके प्रस्थान, रैवतक पर्वत, सेनाके संनिवेश, छः ऋतु, पुष्पावचय, जलक्रीडा, सायंकाल, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी, रात्रिक्रीडा, प्रभात, यमुना, मार्गकी ग्रामीण प्रकृति और युद्ध इत्यादिका वर्णन गूँथनेमें सफलता पाई है।

शिशुपालवधकी काव्य-शैली वहुत कुछ किरातार्जुनीयसे मिलती-जुलती है। माघका कल्पना-क्षेत्र असीम था। नीचे लिखे श्लोकमें कविने प्रातःकालीन सूर्यको शिशु मानकर कहा है—

उदयशिखरिशृंगप्रांगणेष्वेष रिंगन् सकमलमुखहासं वीक्षितः पद्मिनीभिः
विततमृदुकराग्रः शब्दयन्त्या वयोभिः परिपतति दिवोऽङ्केहेलया बालसूर्यः॥

(आँगनके समान उदयाचलकी चोटीपर यह सूर्य शिशुकी भाँति रेंगता है। जिस प्रकार दासियाँ प्रसन्नमुख होकर आँगनमें रेंगते हुए बच्चेको देखती हैं, उसी प्रकार कमलिनियाँ कमलोंको विकसित करके सूर्यका निरीक्षण करती हैं। जैसे शिशु माताके पुकारनेपर अपने हाथोंको फैलाकर उसकी गोदमें चला जाता है, उसी प्रकार चिड़ियोंके चहचहानेपर प्रातःकालीन सूर्य भी किरणोंका प्रसार करके आकाशकी गोदमें जा पड़ता है।)

माघने इस काव्यमें प्रायः सर्वत्र अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य और पर्यवेक्षणका परिचय दिया है।

नाटक

भारतीय साहित्यमें नाटकोंका उल्लेख सबसे पहले रामायण और महाभारतमें मिलता है। पाणिनिके सूत्रोंमें नटसूत्रोंका नाम आया है। और पतंजलिने महाभाष्यमें कंसवध और बलिवध दो नाटकोंका उल्लेख किया है। इस प्रकार नाटकोंकी उत्पत्ति ईसाके कई शताब्दी पहले हो चुकी थी, किन्तु अभी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि नाटयसाहित्य ठीक-ठीक कितना पुराना है। ईसाकी पहली शताब्दीमें लिखे हुए अश्वघोषके तीन नाटक मिले हैं। इनमेंसे शारिपुत्रप्रकरण नाटक तो पूरा मिला है और अन्य दो नाटक खंडित अवस्थामें

मिले हैं। शारिपुत्रप्रकरणमें शारिपुत्र और मौद्गल्यायनके बुद्धके उपदेश सुनकर भिक्षु बननेका वर्णन है। इसमें ९ अंक हैं। खंडित नाटकोंमेंसे एकमें धृति, कीर्ति आदि को पात्र बनाया गया है और दूसरे में एक वेश्या और विदूषक पात्र मिलते हैं। इन अधूरे नाटकोंके नाम या अन्य विशेषताओंका ज्ञान अभी तक नहीं हो सका है।

अश्वघोषके पश्चात् नाटककारोंमें भासका नाम आता है। भासकी तिथिके विषयमें बहुत मतभेद है। इनको ई० पू० दूसरी शताब्दीसे लेकर ईसाके पश्चात् तीसरी शताब्दीके बीच रखा गया है। संभवतः भास कालिदासके पहले तीसरी शताब्दीमें हुए थे। भासके लिखे हुए तेरह नाटक अबतक मिले हैं। इनमेंसे छः नाटकोंकी कथा महाभारतसे ली गई है और दो नाटक रामायणकी कथाके आधारपर लिखे गये हैं। अन्य नाटकोंकी कथायें प्रायः कल्पित हैं। नाटकोंकी कथाओंकी सूची नीचे दी जाती है—

(१) पंचरात्र—दुर्योधन द्रोणसे प्रतिज्ञा करता है कि यदि पाँच रातके बीच ही पांडव मुझसे मिलें तो उन्हें आधा राज्य दे दूंगा। द्रोणके प्रयत्नसे पाण्डवों-को प्रतिज्ञानुसार आधा राज्य मिल गया। (२) 'प्रतिमा'में रामके वनवाससे लेकर रावणवध तक की कथा का वर्णन है। (३) 'अभिषेक' नाटक में बालिके वधसे रामके राज्याभिषेक तककी कथा है। (४) 'बालचरित'में कृष्णजन्मसे लेकर कंसवध तककी कथा कही गई है। (५) 'चारुदत्त' नाटकमें 'चारुदत्त' नामी ब्राह्मणका वसन्तसेना नामकी वेश्यासे प्रेमका वर्णन है। (६) 'अविमारक'में राजकन्या कुरंगीका अविमारक नामके राजकुमारसे विवाह करनेका वर्णन है। (७) 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण'में यौगन्धरायण नामके मंत्रीके प्रयत्नसे वत्सराज उदयन और अवन्तिदेशकी राजकन्या वासवदत्ताके विवाहकी कथा है। (८) 'स्वप्नवासवदत्ता'में प्रतिज्ञा-यौगन्धरायणकी कथाका विस्तार मिलता है। इसकी कथाके अनुसार उदयनका विवाह मगध देशकी राजकन्या पद्मावतीसे करानेके लिये झूठमूठ यह समाचार फैला दिया जाता है कि वासवदत्ता जल गई। (९) 'मध्यमव्यायोग'में भीमने एक ब्राह्मण परिवारकी रक्षा करनेके लिये राक्षससे युद्ध किया था। (१०) 'दूत-घटोत्कच'के अनुसार अभिमन्युकी मृत्यु हो जानेपर पाण्डव हतोत्साह हो गये। उन्होंने घटोत्कचको दूत बनाकर दुर्योधनके पास सन्धि करानेके लिये भेजा। दुर्योधनके न माननेपर पुनः युद्ध हुआ। (११) 'कर्णभार'की कथामें कर्णने इन्द्रको अपना कवचकुंडल दे दिया है। (१२) 'दूत-

वाक्य'के अनुसार श्रीकृष्ण दुर्योधनके पास संधिका प्रस्ताव लेकर गये किन्तु असफल होकर लौट आये। (१३) 'ऊरुभंग'में दुर्योधन और भीमके युद्धका वर्णन है जिसमें दुर्योधनकी पराजय हुई।

भासके नाटकोंकी विषय-सूचीसे संस्कृत नाटकोंकी कथा-वस्तुकी विविधताकी कल्पना की जा सकती है। भासकी भाषा सरल है और भाव स्वाभाविक हैं, जैसा कि नीचेके उदाहरणसे प्रतीत होता है—

खगा वासोपेताः सलिलमवगाढो मुनिजनः
प्रदीप्तोऽग्निर्भाति प्रविचरति धूमो मुनिवनम्
परिभ्रष्टो दूराद्रविरपि च संक्षिप्तकिरणो
रथं व्यावर्त्यासौ प्रविशति शनैरस्त-शिखरम्॥

(पक्षी घोंसलोंमें आ पहुँचे, ऋषियोंने स्नान कर लिया, जलती हुई अग्नि सुशोभित हो रही है, वनमें धुआँ फैल रहा है, सूर्य ऊँचे आकाशसे उतर चुका है, उसने किरणोंको समेट लिया है। सूर्य अपने रथको मोड़कर अब धीरे-धीरे अस्ताचलके शिखरमें प्रवेश कर रहा है।)

भासके नाटकोंके पश्चात् शूद्रकका 'मृच्छकटिक' नाटक मिलता है। मृच्छकटिककी रचना संभवतः भासके चारुदत्त नाटकके आधारपर हुई है। इसका रचना-काल भासके नाटकोंके पश्चात् और कालिदासके समयके पहले तीसरी या चौथी शताब्दी हो सकता है। इस नाटकमें उज्जयिनीकी एक वेश्या वसन्तसेना और चारुदत्त नामक ब्राह्मणकी प्रेम-कथा मिलती है। राजाका साला भी वसंतसेनासे प्रेम करता है। वह वसन्तसेनाको पानेके प्रयत्नमें असफल होकर उसका गला घोंट देता है और न्यायालयमें चारुदत्तपर उसकी हत्याका अभियोग चलाता है। चारुदत्तको फाँसीका दंड मिलता है। इसी बीच चारुदत्ताका मित्र आर्यक राजाको मारकर स्वयं शासक बन बैठता है। चारुदत्त मुक्त हो जाता है। अन्तमें वसन्तसेनासे उसका विवाह हो जाता है।

'मृच्छकटिक' नाटकमें तत्कालीन भारतीय जीवनका सर्वाङ्गीण चित्रण मिलता है। इसमें जीवनकी विभिन्न परिस्थितियोंसे चुनकर पात्रोंका समावेश किया गया है। चारुदत्त ब्राह्मण व्यापारी है, उसकी नायिका वसन्तसेना वेश्या है। इनके अतिरिक्त चोर, जुआरी, धूर्त्त, कुट्टनी, राजा इत्यादि अन्य पात्र हैं जिनके विविध व्यवसायोंका सजीव वर्णन इस नाटकमें मिलता है। नाटककी भाषामें सर्वत्र प्रवाह है। इस नाटकका वस्तु-विन्यास कलापूर्ण है।

नाट्य साहित्यमें मृच्छकटिकके पश्चात् कालिदासके तीन नाटक 'मालविकाग्निमित्र,' 'विक्रमोर्वशीय' और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मिलते हैं। मालविकाग्निमित्रमें शुगवंशके राजा अग्निमित्र और उसकी रानीकी दासी मालविकाकी प्रेम-कथाका वर्णन है। मालविकाका मनोहर सौन्दर्य राजाको उसकी ओर आकृष्ट करता है, किन्तु रानी मालविकाको दासी जानकर उसे राजाके सामने नहीं जाने देती। अन्तमें प्रकट होता है कि मालविका जन्मसे राजकुमारी है और डाकुओंके हाथमें पड़कर उसे दासी होना पड़ा है। ऐसी परिस्थितिमें उसका अग्निमित्रसे विवाह हो जाता है।

विक्रमोर्वशीयकी कथाका सर्वप्रथम उल्लेख ऋग्वेदकी पुरूरवा और उर्वशीके संवादमें मिलता है। इस नाटकमें कालिदासने पुरूरवा तथा उर्वशीकी प्राचीन कथाको नाटककी कथा-वस्तु बनाया है। 'राजा पुरूरवाको अप्सराओंसे ज्ञात होता है कि उनकी सखी उर्वशीको केशी नामक दैत्य हर ले गया है। राजा उर्वशीका उद्धार करते हैं। इसी समय वे एक दूसरेके प्रति प्रेम प्रकट करते हैं। संयोगवश भरत मुनिके शापसे उर्वशीको मर्त्यलोकमें आना पड़ता है और इन्द्रके आशीर्वादसे वह पुरूरवाके पुत्र-दर्शनके समय तक उसके साथ रहती है। इसी बीच कुमार कार्तिकेयके आश्रममें जानेपर वह शापके कारण लता हो जाती है। पुरूरवा उसके वियोगमें विह्वल होकर संयोगवश उसी लताका आलिंगन करते हैं। उसी समय संगमनीय मणिके प्रभावसे वह लता उर्वशी बन जाती है। एक बार पुरूरवा अपने पुत्रको, जिसका पालन-पोषण उर्वशी एक आश्रममें गुप्त रूपसे कराती थी, देख लेते हैं। उर्वशी फिर इन्द्रलोककी यात्रा करती है। इन्द्र पुरूरवाकी सहायता और विक्रमका ध्यान करके उसे उर्वशीके सहवासका पुनः अवसर देते हैं।'

'अभिज्ञानशाकुन्तल'की कथा कालिदासने महाभारतसे ली है। 'राजा दुष्यन्त मृगया करते समय कण्व ऋषिके आश्रममें शकुन्तलाको देखते हैं और उसके अनुपम सौन्दर्यसे मुग्ध होकर कुछ दिनोंतक आश्रममें ठहर जाते हैं। इस बीच दुष्यन्त और शकुन्तलाका प्रणय गन्धर्व-विवाहमें परिणत हो जाता है। राजा वहांसे लौटकर दुर्वासाके शापके कारण शकुन्तलाको भूल जाते हैं। और उसको कण्वके आश्रममें ही छोड़ देते है। कुछ दिनोंके पश्चात् ऋषि अपने दो शिष्योंके साथ शकुन्तलाको दुष्यन्तके पास भेजते हैं, किन्तु दुष्यन्त उसे पहिचान नहीं सकते। शकुन्तलाको उसी समय एक ज्योति हेमकूट पर्वतपर मारीचके

आश्रममें पहुँचा देती है। वहां उसे पुत्र उत्पन्न होता है जिसका नाम सर्वदमन रखा जाता है। इसी समय राजाको एक अँगूठी मछुओंसे प्राप्त होती है जो उन्होंने शकुन्तलाको दी थी। उसे देखते ही उन्हें शकुन्तलाका स्मरण हो जाता है। संयोगवश इसी समय उन्हें इन्द्रकी सहायता करनेके लिये स्वर्गमें जाना पड़ता है। वहांसे लौटती बार मारीचके आश्रमसे हो कर आते हैं। वहीं उनका अपने पुत्र सर्वदमन और शकुन्तलासे मिलन होता है।'

नाटककारोंमें कालिदासका नाम सर्वप्रथम आता है। उनका अन्तिम नाटक अभिज्ञानशकुन्तला संस्कृत साहित्यमें सर्वोत्कृष्ट काव्य है। विश्वसाहित्यमें इस नाटकको अनुपम स्थान मिल सका है। इसमें कालिदासने भारतीय जीवनके विभिन्न क्षेत्रोंका आदर्श चित्रित किया है और प्रधान रूपसे शृंगाररसके सुरुचि-पूर्ण प्रवाहको काव्य-जगत्की गौरवशालिनी मर्यादासे सीमित करके लोकोत्तर आनन्दकी सृष्टि की है। इस नाटकमें कालिदासकी कल्पनाका निदर्शन नीचे लिखे श्लोकसे हो सकता है—

अनुमतगमना शकुन्तला तरुभिरियं वनवासबन्धुभिः।
परभृतविरुतं कलं यथा प्रतिवचनीकृतमेभिरीदृशम्॥

(वनमें एक साथ रहनेके नाते जो वृक्ष भाई बन गये थे, उन्होंने कोयलके मीठे स्वरसे ही मानो शकुन्तलाको (दुष्यन्तके पास) जानेकी अनुमति दी।)

इन वृक्षोंने शकुन्तलाके प्रस्थानके समय अलंकारोंका दान भी किया था। किसीने गोरोचन-चित्रित-क्षौम वस्त्र दिये जो चन्द्रमाकी भाँति श्वेत थे। एक वृक्षने चरणोंको रँगनेके लिये लाक्षाराग दिया और कई वृक्षोंने वनदेवताके हाथोंसे शकुन्तलाके लिये विविध प्रकारके आभरण दिये।

सातवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें लिखे हुए श्रीहर्षके तीन नाटक 'रत्नावली,', प्रिय-दर्शिका' और 'नागानन्द' मिले हैं। 'रत्नावलीकी' कथा 'मालविकाग्निमित्र'की कथासे मिलती है। इसमें वत्स देशके राजा उदयन अपनी रानी वासवदत्ताकी दासी सागरिकासे प्रेम करते हैं। सागरिका वस्तुतः सिंहलदेशकी राजकन्या थी, जो समुद्रयात्राके समय नावकी दुर्घटनासे बचकर उदयनके यहां आ पहुँची थी। सागरिकाका वंशपरिचय प्रकट होनेपर राजासे उसका विवाह हो जाता है। प्रियदर्शिकाकी कथा भी रत्नावलीसे मिलती-जुलती है। राजा दृढवर्मा-की पराजय होनेपर उनकी कन्या प्रियदर्शिका राजा वत्सकी रानीकी दासी बन जाती है। उसका नाम आरण्यका रखा जाता है। वत्स उसके सौन्दर्यसे मुग्ध

हो जाते हैं। एक बार अन्तःपुरकी नाट्यशालामें वत्स और वासवदत्ताके विवाह-का नाटक खेला जाता है जिसके नायक स्वयं राजा वत्स होते हैं और आरण्यका वासवदत्ता बनती है। नाट्यमें ही दोनोंका प्रेमसूत्र दृढ़ होता है और आरण्यका रानीकी आज्ञानुसार कारागारमें डाल दी जाती है। अन्तमें उसका वंशपरिचय प्रकट होता है और रानी स्वयं प्रियदर्शिकासे राजाके विवाहकी अनुमति देती है।

'नागानन्द' नाटकका नायक जीमूतवाहन विद्याधर-राजकुमार है। एक दिन उसे ज्ञात होता है कि गरुड़की तृप्तिके लिये प्रतिदिन साँपोंकी हत्या होती है। वह इस सर्पबलिको रोकनेका प्रयत्न करता है और शंखचूड़ सर्पके स्थानपर स्वयं बलिदानके लिये जाता है। बलिदानके समय उसे अपनी कर्तव्य-परायणता-से हर्ष होता है। अन्तमें गौरी उसे पुनर्जीवन दान करती हैं और अमृतकी वर्षासे सभी सर्प जी उठते हैं। गरुड़ भी भविष्यमें सर्पोंकी हत्या न करनेकी प्रतिज्ञा करता है। इस नाटकमें उदात्त नायककी कल्पना अत्यन्त सफल है। श्रीहर्षके सभी नाटकोंकी भाषा सरल है।

संभवतः सातवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें भवभूतिके रचे हुए तीन नाटक 'महावीरचरित,' 'मालतीमाधव' और 'उत्तररामचरित' मिलते हैं। इनमेंसे उत्तर-रामचरितका संस्कृत साहित्यमें अभिज्ञान-शाकुन्तलके समान ही महत्त्व है। महावीरचरित भवभूतिकी प्रथम रचना है। इसके सात अंकोंमें रामायणकी कथा प्रारंभसे लेकर युद्धकाण्डमें रामके अभिषेक तक दी हुई है। इस नाटकमें आदिसे अन्ततक रावणका रामसे विरोध दिखाया गया है। सीताके विवाहके अवसर-पर वह असफल होकर परशुरामको रामसे लड़नेके लिये उत्तेजित करता है। रावणका मंत्री माल्यवान् शूर्पणखाको मन्थरा बनाकर भेजता है और रामका वनवास कराता है। माल्यवान्‌के कहनेसे बालि रामसे युद्ध करता है। इस नाटकमें रामायणकी कथाका मनमाना रूप दिया गया है। भवभूतिको इसकी रचनामें सफलता नहीं मिली है। भाव और भाषाकी दृष्टिसे भी यह उच्च-कोटिका नाटक नहीं है। इसका एकमात्र कारण यही है कि भवभूतिकी शैली इस नाटककी रचना करते समय अभी परिपक्व नहीं हो पाई थी।

मालतीमाधवमें मालती और माधवकी प्रेमकथा कही गई है। 'मालतीका पिता भूरिवसु राजाका मंत्री है। वह चाहता है कि मेरी कन्या मालतीका विवाह मेरे मित्र देवरातके पुत्र माधवसे हो जाय। किन्तु राजा चाहता है कि मालतीका विवाह मेरे प्रिय नन्दनसे हो जाय। राजाके आदेशानुसार मालती और नन्दनके

विवाह-संस्कारकी योजना रची जाती है। उस समय माधवका मित्र मकरन्द मालतीके वेशमें नन्दनसे अपना विवाह सम्पन्न कराता है और विवाह होनेके पश्चात् वह नन्दनको दुत्कार देता है। इस बीच मालती और माधव भाग जाते हैं। अन्तमें अनेक कठिनाइयोंके पश्चात् मालती और माधवका विवाह राजाकी अनुमतिके अनुसार हो जाता है।' भवभूतिका यह नाटक महावीरचरितसे अधिक सफल है।

भवभूतिको सबसे अधिक सफलता उत्तररामचरित नाटक लिखनेमें मिली है। इसमें रामायणकी महावीरचरितसे आगेकी कथा मिलती है। 'अपने अभिषेकके पश्चात् एक दिन राम सीताके साथ मनोरंजनके लिये चित्रशालामें अपने जीवनचरित-संबंधी चित्र देख रहे हैं। उस समय सीता गंगाका चित्र देखकर नदीमें स्नान करनेकी इच्छा प्रकट करती हैं। सीता चित्र देखनेके पश्चात् रामकी गोदमें सो जाती है। उसी समय एक गुप्तचर आकर रामके कानमें सीतासंबंधी लोकापवाद कहता है। राम शोकमग्न हो जाते हैं। प्रजाके परितोषके लिये रामकी आज्ञाके अनुसार शीघ्र ही लक्ष्मण सीताको रथपर लेकर वनकी ओर चले जाते हैं। सीताके वनमें रहते बारह वर्ष बीत गये हैं। उनके जुड़वे पुत्र लव और कुश वाल्मीकिके संरक्षणमें शिक्षा पा रहे हैं। इसी समय राम अयोध्यामें अश्वमेधका उपक्रम करते हैं। यज्ञके घोड़ेकी रक्षा करनेके लिये लक्ष्मणका पुत्र चन्द्रकेतु जाता है और शम्बूक नामक वृषलका वध करनेके लिये राम दंडकारण्यमें आते हैं। वहां सीता छाया-रूपमें प्रकट होती है। राम पूर्वपरिचित पंचवटीकी वनभूमिको देखकर सीताकी स्मृति करके बारबार मूर्छित हो जाते हैं। सीताके स्पर्शसे उन्हें पुनः चेतनता प्राप्त होती है। राम सीताके स्पर्शकी अनुभूति करते तो हैं, पर उन्हें देख नहीं पाते। सीताके वियोगमें देर तक विलाप करके राम वहांसे प्रस्थान करते हैं।

वाल्मीकिके आश्रममें जनक, वशिष्ठ, अरुन्धती और दशरथकी स्त्रियाँ ऋषिका दर्शन करनेके लिये आती हैं। अरुन्धती, कौशल्या और जनकके बातचीत करते समय लव उधरसे निकलता है और उनको लवका परिचय प्राप्त करनेकी उत्सुकता होती है। इसी समय रामके अश्वमेधका घोड़ा दिखाई पड़ता है। लव उसको पकड़कर आश्रमके हरिणोंके बीच रखना चाहता है। उसी समय चन्द्रकेतु वहां आ जाता है। लव और चन्द्रकेतु एक दूसरेकी ओर आकृष्ट होते हैं। क्षत्रियोचित उत्साहके अनुरूप उन दोनोंमें घोर युद्ध होता है। वहां

पंचवटीसे लौटते हुए गम विमानसे उतरते हैं। उनके व्यक्तित्वके प्रभावसे युद्ध समाप्त हो जाता है। राम लव और कुशको प्यार करते हैं।

अन्तिम अंकमें वाल्मीकि एक नाटक रचते हैं, जिसमें वनवास होनेपर सीताके गंगामें कूद पड़नेका अभिनय है। उस समय सीताके साथ भागीरथी और पृथिवी उसके एक-एक पुत्रको लिये हुए प्रकट होती हैं। वे सीताको आदेश देती हैं कि तुम वाल्मीकिके आश्रममें रहकर इन पुत्रोंका शैशवावस्थामें पालन-पोषण करो। राम यह देखकर मूर्छित हो जाते हैं। उसी समय अरुन्धती सीताको लिये हुए आती है और सीता अपने प्रिय स्पर्शसे रामको स्वस्थ कर देती हैं। एक बार और गम और सीताका वियोगके पश्चात् मिलन होता है।'

भवभूतिने उत्तरगमचरितमें रामके उस उदात्तचरितकी कल्पना की है जिसके आधारपर आज भी राम-राज्यकी कामना की जाती है। प्रजा-पालनको रामने सर्वोच्च कर्तव्य माना और इसी कर्तव्य-पथका अनुसरण करनेमें उन्हें सीताको वनवास की आज्ञा देनी पड़ी। भवभूतिके राम कहते हैं—

स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि
आराधनाय लोकस्य मुंचतो नास्ति मे व्यथा।

(स्नेह, दया, सुख अथवा सीताको भी प्रजाके परितोषके लिये छोड़ते हुए मुझे व्यथा न होगी।)

नाटककारने इस नाटकमें भारतीय संस्कृतिके अमूल्य रत्न—विश्वप्रेम, स्नेह, आदर, त्याग और सेवाभावका अभ्यास रूपमें निदर्शन किया है। सर्वत्र रमणीयताका निर्बाध प्रवाह है। कथा-वस्तुकी रूप-रेखामें कविने अधिकसे अधिक मार्मिक स्थलोंका संयोजन किया है और भावोंकी अभिव्यक्तिके लिये आनुषंगिक वातावरणका चित्रण किया है। कविने इसी अभिप्रायसे नीचेके श्लोकमें मानव-सुलभ स्थायी प्रेमकी प्रतिष्ठा सीताके पालित मयूरमें की है—

कतिपयकुसुमोद्गमः कदम्बः प्रियतमया परिवर्धितोऽयमासीत्।
स्मरति गिरिमयूर एष देव्याः स्वजन इवात्र यतः प्रमोदमेति॥

(यह पहाड़ी मोर देवी सीताका स्मरण करता है, कदम्बके वृक्षपर बैठे हुए प्रमोद पाता है मानो बन्धु-बान्धवोंके बीच बैठा हो। इस कदम्बको जो अब कुछ-कुछ कुसुमित हो चला है, मेरी प्रियतमाने बढ़ाया था।)

कथा

भारतीय साहित्यमें कथाओंको स्थान वैदिक कालसे ही मिला है। ऋग्वेदमें छोटी-छोटी कथायें और उनके उल्लेख प्रायः मिलते हैं। ब्राह्मणों और उपनिषदोंमें कथायें प्रायः किसी गूढ़ विषयको समझानेके लिये मिलती हैं। ब्राह्मणोंमें अनेक कथायें ऐसी मिलती हैं जिनमें सृष्टि-विषयक इतिहासकी चर्चा की गई है। वैदिक साहित्यके पश्चात् संस्कृत साहित्यमें कथाओंका अधिक प्रसार दिखाई पड़ता है। रामायण, महाभारत और पुराणोंमें अगणित छोटी-बड़ी कथायें मिलती हैं। इसी समयके बौद्ध साहित्यका असीम कथाभांडार मिलता है, जिसमें जातक-कथायें अतिप्रसिद्ध हैं।

संस्कृतकी छोटी कथाओंका सर्वप्रथम ग्रंथ 'पंचतंत्र' ही मिला है, जिसका अनुवाद ५७० ई०के पहले कभी पह्लवी भाषामें हुआ था। पंचतंत्रकी रचना संभवतः ईसाकी दूसरी या तीसरी शताब्दीमें हुई थी। पंचतंत्रमें कथाओंकी पाँच स्वतंत्र शृंखलायें मिलती है—मित्रभेद, मित्रसंप्राप्ति, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश (पाई हुई वस्तुका नष्ट हो जाना), और अपरीक्षित कारक (विना परीक्षा किये काम करनेवाला)। पहले तंत्र 'मित्रभेद'का प्रारंभ राजा अमरशक्ति और उसके मूर्ख पुत्रोंकी कथासे होता है। विष्णुशर्मा उनको छः महीनेमें अर्थशास्त्रकी शिक्षा देनेकी प्रतिज्ञा करके पंचतंत्रकी कथायें उनसे कहते हैं। मित्रभेद तंत्रमें एक दुष्ट सियारके पिंगलक नामी सिंहकी संजीवक नामी बैलसे शत्रुता करानेकी कथा दी हुई है। इस कहानीके कहनेमें बीच-बीचमें २२ कथायें और कही गई हैं जो प्रायः एक दूसरेसे स्वतंत्र हैं। कथाओंकी रूप-रेखा भासुरक सिंहकी कथासे समझी जा सकती है। पशुओंकी सभा भासुरक सिंहको प्रतिदिन एक पशु भेज देनेका नियम बनाकर उसके शिकार करनेके भयसे मुक्त हो गई। एक दिन उसको एक शशकने कुयेंमें उसीकी छाया दिखाकर कहा, कि वही तुम्हारा प्रतिद्वन्द्वी है, जिसने मुझे रोक रखा था। सिंह कुएँमें कूद पड़ा और मर गया। इस प्रकार बुद्धि ही बलवती है। बुद्धिहीनके पास बल कैसा? पंचतंत्रमें आदिसे अन्ततक ऐसी ही शिक्षाप्रद कथाएँ दी हुई हैं। इसकी भाषा बहुत सरल है। कथाएँ प्रायः गद्यमें लिखी गई हैं और बीच-बीचमें नीतिके श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

सातवीं शताब्दीकी लिखी हुई दंडी, सुबंधु और बाणकी कथाएँ मिलती

है। ये बड़ी कथायें हैं। दंडीके दशकुमार-चरितमें दस कुमारोंके भ्रमणकी कथायें दी हुई हैं। कथाका नायक राजवाहन मगधके राजा राजहंसका पुत्र है। राजहंस मालवाके राजासे पराजित होकर विन्ध्याचलके वनमें अपने आश्रित लोगोंके साथ रहता है। वहींपर 'राजवाहन'का जन्म होता है। युवावस्थामें राजवाहन मातंग नामक वनवासी ब्राह्मणके निर्देशानुसार, बिना किसीसे कहे हुए, पाताल-लोकमें जाकर भ्रमण करता है। इसी बीच मंत्रियोंके पुत्र जो उसके साथ थे, उसे ढूँढ़नेके लिये इधर-उधर भ्रमण करते हैं। अन्तमें सभी एक-एक करके राजवाहनसे मिलकर अपनी-अपनी साहसकी कहानी सुनाते हैं। कहानियाँ हास्य और अद्भुत रससे पूर्ण हैं। उनमें प्रायः निम्नकोटिके उपायोंके द्वारा कामुकताकी तुष्टिका वर्णन किया गया है। भाषाकी दृष्टिसे दशकुमार-चरित संस्कृतके गद्य-साहित्यके सर्वोत्तम ग्रंथोंमेंसे है। दंडीकी पदावली मधुर है और शब्दोंका प्रयोग असाधारण रूपसे यथोचित है।

सुबंधुकी एकमात्र रचना वासवदत्ता मिलती है। इसमें राजा चिन्तामणिके पुत्र कन्दर्पकेतु और वासवदत्ताकी प्रेमकथा दी गई है। 'कन्दर्पकेतु स्वप्नमें एक मनोहर कुमारीको देखकर उसके प्रेममें विह्वल हो जाता है। उसकी खोजमें घूमता हुआ विन्ध्य पर्वतपर वह मैना पक्षीकी अपनी स्त्रीसे कही हुई कहानीमें अपनी प्रियतमा वासवदत्ताका विवरण जानकर उसे विमानसे उड़ाकर उसी पर्वतपर लाता है। रात्रिमें सोकर उठनेपर कन्दर्पकेतु देखता है कि वासवदत्ता नहीं है। उसी समय आकाशवाणी होती है कि वासवदत्ता फिर मिलेगी। बहुत दिन भ्रमण करनेके पश्चात् उसे एक मूर्ति मिलती है जो उसके स्पर्श करते ही वासवदत्ता बन जाती है।' सुबंधुने वासवदत्ताकी रचनामें घोर पांडित्यका प्रदर्शन किया है। इसमें लंबे-लंबे समासों और वाक्योंकी प्रचुरता है और श्लेष पदोंकी अधिकतासे भाव समझनेकी कठिनाई सर्वत्र समान रूपसे होती है। सुबंधुने स्वयं लिखा है कि इसके प्रत्येक अक्षरमें श्लेष है। शैली, भाषा और भावमें स्वाभाविकताका अभाव प्रायः खटकता है।

बाणने 'हर्षचरित' और 'कादम्बरी' दो गद्य काव्योंकी रचना की है जो संस्कृत साहित्यमें अमर हैं। 'हर्षचरितके' प्रारंभिक भागमें बाणने अपने वंशका परिचय दिया है और हर्षसे प्रथम मिलनका वर्णन किया है। बाण जब हर्षके यहांसे लौटता है, तो उसके परिजन राजाकी कथा कहनेकी प्रार्थना करते हैं। बाण कथा प्रारंभ करता है। 'राजा प्रभाकरवर्धनके दो पुत्र—राज्यवर्धन और

हर्षवर्धन और एक कन्या राज्यश्री हैं। राज्यश्रीका विवाह ग्रहवर्मासे कर दिया जाता है। राज्यवर्धन हूणोंपर आक्रमण करनेके लिये जाता है। हर्ष भी कुछ दूर तक उसके साथ जाता है और फिर मृगया करनेमें लग जाता है। पिताकी बीमारीका समाचार पाकर वह लौट आता है। प्रभाकरवर्धनकी मृत्यु हो जाती है, रानी सती हो जाती है। कुछ दिनोंके पश्चात् राज्यवर्धन भी लौटकर आ जाता है। शोकसागरमें निमग्न हर्ष और राज्यवर्धनको मालवाके राजा द्वारा ग्रहवर्माके मारे जाने और राज्यश्रीके बन्दी बनाये जानेका समाचार मिलता है। राज्यवर्धन उसी समय चढ़ाई करके मालवाके राजाको पराजित करता है किन्तु गौड़-राजा विश्वासघातसे उसकी हत्या कर देता है। राज्यश्री कारागारसे निकलकर विन्ध्याचलके वनोंमें भ्रमण करती है। हर्ष गौड-राजाको दंड देनेके साथ ही राज्यश्रीको ढूँढ़नेका आयोजन करता है। वनमें एक संन्यासीके पथ-प्रदर्शनसे हर्ष राज्यश्रीके समीप उस समय पहुँच जाता है जब वह धधकती हुई अग्निमें कूदकर प्राण-विसर्जन करनेके लिये उद्यत है। बहुत कहने-सुननेसे राज्यश्री संन्यासिनीकी भाँति जीवन बितानेके लिये स्वीकृति दे देती है और मरनेका संकल्प छोड़ देती है।' हर्ष-चरित यहीं समाप्त हो जाता है, अतएव अधूरा ही रह जाता है।

'कादम्बरी'में कादम्बरी और चन्द्रापीड़ तथा महाश्वेता और पुंडरीककी प्रेम-कथायें हैं। 'विदिशाके राजा शूद्रकके यहां कोई चंडाल-कुमारी एक शुक लाती है, जो अपनी कथा सुनाता है कि मेरी माँ जन्मते ही मर गई और शैशवावस्थामें एक शबरके हाथ मेरे पिताकी भी मृत्यु हो गई। उनके डैनोंमें किसी प्रकार मैं लुक-छिपकर बचा और उड़ भागा। ग्रीष्म ऋतुके तापसे जब मैं मर रहा था, उस समय हारीत मुझे अपने पिता महर्षि जावालिके आश्रमपर ले गये। महर्षिने मेरी पूर्वजन्मकी यह कथा कह सुनाई—उज्जयिनीके राजा तारापीड़ और उसके मंत्रीके पुत्र क्रमशः चन्द्रापीड़ और वैशम्पायन हुए। चन्द्रापीड़ कुमारावस्थामें वैशम्पायनके साथ दिग्विजयके लिये निकला। तीसरे वर्ष एक दिन संयोगवश वह एक झीलके किनारे आ पहुँचा जहां उसे महाश्वेता नामकी तपस्विनी मिली। तपस्विनीने अपनी कथा सुनाई कि मैं अप्सरा हूँ और मुझे एक ऋषिपुत्र पुंडरीकसे प्रेम करनेका अवसर मिला, किन्तु मिलनके पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गई। मैंने भी जीवनकी अभिलाषा छोड़ दी, किन्तु प्रियतमके मिलनके संबंधमें एक दिव्य पुरुषके आश्वासन देनेपर उसकी प्रतीक्षा कर रही हूँ। महा-

श्वेता चन्द्रापीड़को अपनी कुमारी सखी कादम्बरीके पास ले गई। उन दोनोंमें तत्काल ही प्रेम-भाव उत्पन्न हुआ, किन्तु उसी समय चन्द्रापीड़को पिताके सन्देशानुसार राजधानीमें लौट आना पड़ा। वैशम्पायन बहुत दिनों तक नहीं लौटा। चन्द्रापीड़ उसको खोजनेके लिये चल पड़ा। वह महाश्वेताके पास पहुँचा। महाश्वेताने वैशम्पायनका वृत्तान्त यों सुनाया—वैशम्पायन मुझसे प्रेम करने लगा था। वह शुककी भाँति प्रेमकी रट लगाये रहता था, किन्तु मुझे तो पुंडरीकके मिलनकी प्रतीक्षा है। मैंने व्याकुल होकर उसे शुक होनेका शाप दिया। वह उसी क्षण मर गया। यह सुनकर मित्र-वियोगमें चन्द्रापीड़ भी मर गया। कादम्बरी भी उस वियोगमें चितापर जलने जा रही थी, किन्तु उसी समय आकाशवाणी हुई कि चन्द्रापीड़से पुनर्मिलन होगा। कादम्वरी चन्द्रापीड़के मृत शरीरकी रक्षा करे। पुंडरीकका शरीर स्वर्गमें सुरक्षित है। तारापीड़ और उसका मंत्री भी शरीरकी रक्षा करनेके लिये वहीं आ गये। महर्षिकी कथा यहीं समाप्त हो गई। मुझे ज्ञात हुआ कि मैं वैशम्पायन हूँ। मैं अधीर होकर वहांसे उड़ा। उसी समय मुझे चंडाल-कुमारीने पकड़ लिया। इसी समय शापका अन्त होता है। शूद्रक और शुक उसी क्षण मरकर चन्द्रापीड और पुंडरीकको जीवित कर देते हैं। सभी एक दूसरेसे मिलते हैं।'

संस्कृत साहित्यमें बाणकी गद्यशैली सर्वोत्कृष्ट मानी गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संस्कृत भाषाके साधारण जानकारोंके लिये बाणकी रचना दुर्बोध है, किन्तु भारतीय दृष्टिकोणसे काव्यमर्मज्ञोंके लिये कादम्बरी और हर्षचरित रसकी अतिशय सृष्टि करते है। बाणको शब्दोंकी अभिव्यक्तिका पूरा परिचय था। यही कारण है कि उसके लम्बे वर्णनोंके प्रत्येक शब्दका औचित्य प्रतीत होता है। बाणको साधारणतः अल्पतासे विरोध रहा है। उसके वाक्य, और सामासिक पद प्रायः लम्बे हैं। वर्णनोंमें सूक्ष्म निरीक्षण एवं अनुभूतियोंके परिचायक विशेषणोंका बाहुल्य है।

गीति-काव्य

गीति-काव्य छोटे होते है या किसी विषयपर फुटकल श्लोकोंके संग्रह होते हैं। इस कोटिमें सबसे पहले कालिदासके ऋतु-संहार और मेघदूत मिले हैं। ऋतु-संहार कालिदासकी पहली रचना ज्ञात होती है, क्योंकि भाषा, भाव और अलंकारकी दृष्टिसे यह महाकविकी अन्य रचनाओंसे घटकर है। इसमें छः

ऋतुओंके वर्णनके साथ प्रधान रूपसे नायक और नायिकाओंपर उनके प्रभावका चित्रण किया गया है। उदाहरणके लिये वर्षा-ऋतुके वर्णनके प्रसंगमें कविने लिखा है कि 'वह राजाकी भाँति आता है, बादल हाथी है जो उसे लाते हैं, बिजली ध्वजायें हैं और बादलोंका गर्जन ढोलकी ध्वनि है। बादलोंको देखनेसे शृंगार रसकी उत्पत्ति होती है जब वे पर्वतशिखरोंको चूमनेके लिये झुकते हैं।'

ऋतु-संहार यदि कालिदासकी सबसे हीन रचना है तो मेघदूत उनकी सबसे परिपक्व कृति है। इसमें एक यक्षकी प्रेम-विरहकी कथाका वर्णन है। उसके स्वामी कुबेरने उसे एक वर्षके लिये निर्वासनका दंड दिया है। वह रामगिरि पर्वतपर रहता है। वर्षाऋतुके आनेपर उसके हृदयमें विरहकी प्रखर अग्नि जल उठती है। उसी समय यक्ष पर्वत-शिखरपर हाथीके समान एक मेघ देखता है। वह सामने खिलते हुए कुटजके फूलोसे अर्घ बनाकर मेघका स्वागत करता है और उसकी प्रशंसाके पश्चात् अलकापुरीमें प्रियतमाके लिये सन्देश लेकर जानेकी प्रार्थना करता है। यक्षने मेघको यात्राका मार्ग इस प्रकारसे बताया है—'अनुकूल वायु तुमको कोमलतापूर्वक आगे बढ़ायेगी, दाहिनी ओर चातक पक्षी मधुर गान करते हुए मिलेंगे और कैलास तक तो हंस अपनी चोंचोंमें मृणालदंडका पाथेय लिये हुए मानसरोवर जानेके लिये तुम्हारे साथी रहेंगे। मार्गमें जब कभी थक जाना तो पर्वतशिखरोंपर विश्राम कर लेना और क्षीण हो जानेपर नदियोंका पानी पी लेना। आम्रकूट पर्वत कृतज्ञ होकर तुमको सिरपर धारण कर लेगा क्योंकि तुमने उसकी दावाग्नि बुझाई है। प्रत्येक पर्वतपर मयूर तुम्हारा स्वागत मधुर गानसे करेंगे, किन्तु तुम जानेकी शीघ्रता करना। विदिशाकी राजधानीमें जाकर वेत्रवती नदीका जल पी लेना। उत्तर की ओर जानेमें पथ कुछ टेढ़ा अवश्य पड़ेगा, किन्तु तुम उज्जयिनीके प्रासादोंकी गोदका आनन्द अवश्य लेना। उज्जयिनीमें महाकाल शिवकी पूजाके समय अपने गर्जनसे ढोलका स्वर निकालना। एक रात तुम उस नगरीकी किसी ऊँची छतपर बिता लेना। मार्गमें गंभीरा नदीका जल पीकर वहीं देर न करने लगना। वहां से देवगिरि जाते समय तुम्हारे नीचे ठंढी वायु बहती हुई मिलेगी। वहां अपने गर्जनसे कार्तिकेयके मोरको नचा लेना। आगे उड़नेपर रंतिदेवके यशका रूप धारण करनेवाली (चर्मण्वती) नदीका जल पीते समय तुम मुक्ताके हारमें इन्द्रनील मणिकी भाँति प्रतीत होगे। वहांसे दशपुर होते हुए तुम ब्रह्मावर्त देशमें कुरुक्षेत्र पहुँचोगे। वहां सरस्वतीका जल पी लेनेपर तुम्हारी आन्तरिक शुद्धि हो जायेगी, केवल

शरीर मात्र काला रहेगा। वहांसे चलनेपर तुम्हें गंगा मिलेगी। गंगामें जब तुम्हारी छाया पड़ेगी तो ऐसा ज्ञात होगा मानो प्रयागके अतिरिक्त वहीं यमुनाका संगम हो गया हो। वहांसे हिमालय पर्वतकी शोभाका निरीक्षण करके तुम क्रौञ्च पर्वतके छेदसे होकर कैलासका अतिथि बनना। वहां यदि पार्वतीको पैदल चलते हुए देखना तो सीढ़ी बनकर शिखरपर चढ़नेमें सहायक होना। मानसका जल पी लेनेपर जब तुम आगे बढ़ोगे तो अलका दिखाई देगी।' यात्राका वर्णन करनेके पश्चात् यक्षने अलकापुरीका विशद चित्रण किया है। उसने नगरीमें अपने घरकी पहचान बताई है और अपनी प्रियतमाको पहचाननेके लिये उसका स्वरूप वर्णन किया है। अन्तमें उसने यक्षिणीको आश्वासन देनेके लिये अपना कुशल और वियोगके दुःखोंका समाचार मेघको बताया है और प्रार्थना की है कि सन्देशका उत्तर लेकर मेरे पास आना।

संभवतः कालिदासके किसी समकालीन कविने २२ पद्योंके 'घटकर्पर' काव्यके द्वारा अपना घटकर्पर नाम अमर किया है। इस कविको यमक-प्रयोगका अभिमान था। उसने प्रतिज्ञा की थी कि यमकके प्रयोगमें जो मुझसे बढ़कर होगा उसके यहां घटकर्पर (घड़ेके टूटे हुए टुकड़े)से पानी लाऊँगा। घटकर्परमें मेघ-दूतकी कथाका प्रतिरूप मिलता है। इसमें कोई स्त्री अपने प्रियतमके पास मेघसे सन्देश भेजती है।

गीतिकाव्यके साहित्यमें भर्तृहरिके तीन शतक—नीति, शृंगार और वैराग्य बहुप्रचलित रहे हैं। संभवतः भर्तृहरिने सातवी शताब्दीके उत्तर भागमें इनकी रचना की थी। कविने प्रत्येक शतकमें अपने विषयका सफलतापूर्वक प्रतिपादन किया है। भर्तृहरिकी शैली सरल होनेपर भी प्रभावशालिनी है। छोटे-छोटे तथा एक दूसरेसे स्वतंत्र छंदोंमें नीति, शृंगार और वैराग्यका प्रत्यक्ष चित्रसा खिंचा हुआ मिलता है। उदाहरणके लिये नीचेके श्लोकमें मानसिक दुर्बलताका वर्णन किया गया है —

भिक्षाशन तदपि नीरसमेकवारं शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम्।
वस्त्रं विशीर्णशतखण्डमयी च कन्था हा हा तथापि विषया न परित्यजन्ति ॥

(भिक्षा माँगकर एक बार नीरस भोजन करता हूं, धरती पर सोता हूं, देहमात्र ही परिवार है, फटे-पुराने चिथड़े पहनता हूं, तो भी विषय-वासनायें मुझे छोड़ती नहीं। हाय! हाय!)

संभवतः भर्तृहरि के समकालीन अमरु या अमरुक नाम के कवि ने अमरु-

शतककी रचना की है। यह शृंगार-रसका काव्य है। इसमें नायक और नायिकाओंके विलासोंका वर्णन किया गया है। नायिकाकी प्रत्येक गति-विधिमें कविको शृंगारकी झलक ही दृष्टिगोचर होती है। शतककी भाषा भी विषयके अनुकूल सरल और श्रुतिमधुर है। नीचेके श्लोकमें नायक और नायिकाके व्यवहारोंका यथार्थ चित्रण किया गया है—

बाले नाथ विमुच मानिनि रुषं रोषान्मया किं कृतम्।
खेदोऽस्मासु न मेऽपराध्यति भवान्सर्वेऽपराधा मयि।
तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा कस्याग्रतो रुद्यते
नन्वेतन्मम का तवास्मि दयिता नास्मीत्यतो रुद्यते॥

(प्रिये! नाथ, मानिनि! अपना क्रोध तो छोड़ो। क्रोध करके मैंने बिगाड़ क्या लिया? मुझे खेद जो हो रहा है। आपने मेरा कोई अपराध नहीं किया। सारे अपराध तो मेरे हैं। तो तुम गद्गद स्वरसे रो क्यों रही हो? किसके सामने रो रही हूं? क्यों, मेरे सामने! मैं आपकी कौन होती हूं? प्राण प्रिया। इसीलिये तो रोती हूं कि मै प्राणप्रिया नही हूं।)

प्राकृत

प्राचीनकालमें संस्कृत भारतवर्षकी राष्ट्र-भाषा थी। इसके साथ ही विभिन्न युगोंमें कई भाषायें प्रान्तीय भाषाओंके रूपमें विकसित हुई हैं। इन भाषाओंमें भी उच्च कोटिके साहित्यकी सृष्टि हुई है। संस्कृतकी भाँति प्राकृत भाषाओंकी भी जननी वैदिक भाषा रही है। संस्कृत प्रायः भारतीय समाजके उच्च वर्ग और पंडित समाजकी भाषा थी और प्राकृत भाषाओंका उद्गम साधारण जनताकी भाषायें रही हैं। यही कारण है कि प्राकृतोंमें शब्दोंके रूपोंमें उच्चारणकी सुविधा और मधुरता लानेके लिये विकार हुआ। इन्हीं प्राकृतोंका धीरे-धीरे विकास हुआ और आधुनिक भाषाओंमें उनकी ज्योति आज भी जगती हुई मिलती है।

पालि-साहित्य

प्राकृत भाषाओंमें सबसे पहले पालिका नाम आता है। यह भाषा प्रधान रूपसे बौद्ध धर्मके अनुयायियोंकी है। महात्मा गौतमबुद्धने धर्मोपदेशके लिये जनताकी भाषा अपनाई थी। बुद्धके उपदेशोंका संग्रह पालि-साहित्यमें सर्वप्रथम आता है। इस संग्रहका नाम 'तिपिटक' (संस्कृत त्रिपिटक) है जिसका

अर्थ तीन पिटारी है। तिपिटकके तीन भाग सुत्त, विनय और अभिधम्म हैं। सुत्त पिटकके पाँच निकाय दीघ, मज्झिम, संयुत्त, अंगुत्तर और खुद्दक हैं। खुद्दकनिकायमें पन्द्रह ग्रंथ खुद्दकपाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसंभिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस और चरियापिटक है। सुत्तपिटकमें बुद्धके उपदेशोंका संग्रह है। बुद्ध भ्रमण करते समय विभिन्न परिस्थितियोंके प्रसंगमें प्राय: कथाओंके रूपमें उपदेश देते थे। इन परिस्थितियोंका उल्लेख प्रत्येक उपदेशके प्रारंभमें मिलता है। प्राय: सुत्त गद्यमें है। उनमें बीच-बीचमें महत्त्वपूर्ण विषयों या उपदेशके तत्त्वोंको पद्यमें कहा गया है। भाषा सरल और प्रभावोत्पादक है।

सुत्त-पिटकमें धम्मपद और जातक लोक-प्रसिद्ध है। धम्मपद (धर्मपद)-का अर्थ धार्मिक वाक्य है। बौद्धोमें इसका वैसे ही प्रचार है जैसे हिन्दू-धर्ममें गीताका। इसमें कुल ४२३ पद्य है जो दससे बीस तकके वर्गोमें विषयानुसार बँटे हुए हैं। इसकी शैली और विषय-प्रतिपादनका निदर्शन नीचेके पदोंसे हो सकेगा––

सेलो यथा एकघनो वातेन न समीरति।
एवं निन्दा पसंसासु न समिजन्ति पंडिता ।।

(जिस प्रकार पर्वत वायुके वेगसे चंचल नही हो उठता उसी प्रकार पंडित निन्दा और प्रशंसा होनेपर विचलित नहीं होता।)

परदुक्खूपधानेन अत्तनो सुखमिच्छति।
वेरसंसग्गसंसट्ठो वेरासो न परिमुच्चति ।।

(दूसरेको दुःख देकर सुख नहीं पाया जा सकता, वैरसे वैरकी शान्ति नहीं हो सकती।)

जातकोंमें बुद्धकी पूर्व जन्म-संबंधी कहानियाँ मिलती हैं। बोधि प्राप्त करनेके पहले बुद्धका अनेक मानव और पशु-पक्षीकी कोटियोंमें जन्म हुआ था। इन जन्मोंमें उनको बोधि-सत्त (सत्त्व) कहा जाता था क्योंकि उनमें बोधि-प्राप्त करनेका सत्त्व (उत्साह) था। प्रत्येक जातकके आरंभमें बुद्धके पूर्व जन्मका संकेत इस रूपमें मिलता है––अमुक समय––(जब ब्रह्मदत्त बनारसमें राज्य करता था) इत्यादि। जातकोंमें सम्मिलित करनेके लिये कोई भी कथा उपर्युक्त रूपमें ढाल दी जाती थी। प्राय: कथायें छोटी-छोटी हैं। परन्तु कुछ कथायें बड़ी भी हैं। उनमें सैकड़ों पद्य तक मिलते है। कथायें विविध प्रकारकी हैं। उदा-

हरणके लिये हास्यरसकी एक कथाका सारांश नीचे दिया जा रहा है। 'महापिंगल नामका राजा बड़ा अत्याचारी था। जब वह मर गया तो सारे बनारसमें उत्सव मनाया गया, केवल द्वारपाल रो रहा था। बोधिसत्त्वके पूछनेपर द्वारपालने कहा कि मै इसलिये नहीं रो रहा हूं कि महापिंगल मर गया क्योंकि जब कभी वह कोठेपर चढ़ता या उससे उतरता था तो मुझपर आठ बार तड़ातड़ प्रहार करता था। अब वह परलोकमें गया और वहाँपर वह यमकी मेरी ही भाँति खबर लेगा। तब तो यम उसे फिर पृथिवीपर भेज देगा और मेरे ऊपर पूर्ववत् मार पड़ेगी। बोधिसत्त्वने समझाया कि मरा हुआ व्यक्ति अब नहीं लौट सकता है। वह पूर्णरूपसे जला दिया गया है, चिता जलसे बुझा दी गई है और उसकी चारों ओरकी भूमि चौरस कर दी गई है। जातकोंकी संख्या ५४७ है।

विनयपिटकमें बुद्धकी उन शिक्षाओंका संग्रह है जिनके अनुसार संघका संचालन होता था। यह संघका शासन-ग्रंथ कहा जा सकता है। इसमें भिक्षुओंकी दीक्षा, भिक्षाटन, पारस्परिक आचार-व्यवहार, दंड-व्यवस्था और शिष्य तथा आचार्यके व्यवहारके संबंधमें नियम मिलते है। जिन परिस्थितियोंमें नियम बनाये गये, उनका भी उल्लेख किया गया है। इस पिटकमें पाँच ग्रंथ महावग्ग, चुल्लवग्ग, पाचित्तिय, पाराजिक और परिवार है।

अभिधम्मपिटक बौद्धदर्शनका ग्रंथ है। इसमें चित्त और उसके धर्मोंका विशद वर्णन है और विज्ञान, संस्कार, वेदना, संज्ञा इत्यादि दार्शनिक विषयोंका विवेचन किया गया है। अभिधम्मपिटकके सात ग्रंथ—धम्मसंगणी, विभंग धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावस्तु, यमक और पट्ठान है।

पिटकोंके अतिरिक्त प्राचीन ग्रंथोंमें अट्ठकथा (अर्थकथा)का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें सारे तिपिटकपर विशद भाष्य मिलता है।

मिलिन्दपञ्ह (मिलिन्दप्रश्न) ग्रीक राजा मेनानड्रास (मिलिन्द) और बौद्धदर्शनके पंडित नागसेनके संवादके रूपमें लिखा हुआ है। संभवतः यह ग्रंथ ईसाकी पहली शताब्दीमें लिखा गया। लगभग सारे मिलिन्द-प्रश्नमें उचित उदाहरणोंके द्वारा बौद्धदर्शनके सिद्धान्तोंको सुबोध बनानेका प्रयत्न किया गया है। नीचेकी कथासे इसकी शैलीका परिचय मिल सकेगा।

'कल्पना कीजिये किसी व्यक्तिने आम चुराये। आमोंके वृक्षका स्वामी उसे पकड़ता है और राजाके पास ले जाकर कहता है, 'महाराज! इस व्यक्तिने

मेरे ग्राम चुराये हैं।' ग्रब यदि चोर कहे कि 'महाराज ! मैंने इसके ग्राम नहीं चुराये। जिन फलोंको इसने लगाया ग्रौर जिनको मैंने चुराया वे भिन्न-भिन्न है। मैं निरपराध हूँ।' बताइये क्या उस चोरको दंड मिलना चाहिए ? राजाने कहा 'ग्रौर क्या, उसे दंड मिलेगा।' नागसेनने पूछा, 'क्यों'। राजाने कहा, 'चोर जो कुछ भी कहे, वह ग्रन्तिम ग्रामोंकी चोरीके लिये दंडनीय है क्योंकि यदि पहलेके फल वहां नहीं होते तो ये फल नहीं ग्रा सकते।'

मिलिन्दप्रश्नमें कुछ ग्राश्चर्यजनक उत्तर भी मिलते है। नागसेनने राजासे पूछा कि जो जानकर पाप करता है उसे ग्रधिक पाप लगता है या जो न जानकर पाप करता है ? राजाने कहा—'जो जानकर पाप करता है।' नागसेनने कहा—'ऐसा नहीं, तपे हुए लोहेको जो ऐसा जानकर छूता है वह ग्रधिक नहीं जलता। जो तपा हुग्रा न जानकर छूता है वह ग्रधिक जलता है। इसी प्रकार जो जानकर पाप करता है वह कम दोषी हो पाता है।'

गौतमबुद्धके शिष्य महाकच्चानका लिखा हुग्रा नेत्तिपकरण भी संभवत: ईसाकी पहली शताब्दीकी रचना है। इसमें गौतमबुद्धके सारे उपदेशोंका क्रम-बद्ध विवरण है। धम्मपालने पाँचवीं शताब्दीमें इसकी व्याख्या लिखी।

चौथी ग्रौर पाँचवी शताब्दीके लगभग लंकामें पालि-साहित्यकी रचनाका प्रचलन बढ़ा। उस समय 'दीपवंस' ग्रौर 'महावंस'की रचनायें हुई। ये ऐति-हासिक ग्रंथके रूपमें लिखे गये हैं। 'दीपवंस'की रचना बहुत सुरुचिपूर्ण नहीं है। 'महावंस' महानाम कविकी रचना है। यह ग्रंथ काव्यके रूपमें लिखा गया है। इसमें भाषा ग्रौर छन्द काव्य-शैलीके सर्वथा योग्य है। इन दोनों ग्रंथोंका वर्ण्य-विषय 'लंकाका इतिहास' है।

प्राकृत साहित्य

यों तो प्राकृतमें पालि, शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, ग्रपभ्रंश ग्रादि ग्रनेक भाषाग्रोंका समावेश हो जाता है, किन्तु प्राकृतके सीमित ग्रभिप्रायसे पालि ग्रौर ग्रपभ्रंशके ग्रतिरिक्त शेष प्राकृत भाषाग्रोंका बोध होता है। प्राकृत भाषाग्रोंमें प्राय: जैन धर्मके ग्रनुयायियोंके ग्रंथ मिलते हैं। इन ग्रंथोंकी संख्या हिन्दू या बौद्ध धर्मके ग्रंथोंके समान ही ग्रगणित है। इनकी रचनाका प्रारंभ महावीर तीर्थंकरके समयसे ही माना जा सकता है किन्तु उस समय मूलरूपमें जो ग्रंथ थे उनमें समय-समयपर परिवर्धन ग्रौर संशोधन होते रहे। ईसाकी पाँचवीं शताब्दीमें धार्मिक

ग्रंथोंकी स्थिर रूप-रेखा तैयार हो सकी। जैन धर्मके ग्रंथोंकी भाषा आर्ष या अर्धमागधी है। इन धर्मके ग्रंथोंमें प्राचीनताकी दृष्टिसे बारह अंग, बारह उपांग, दस प्रकीर्ण, छः छेदसूत्र और चार मूलसूत्र हैं। इन ग्रंथोंमें जैन धर्मके सिद्धान्तों और महापुरुषोंकी चरित-गाथाओंका वर्णन है।

धार्मिक ग्रंथोंके अतिरिक्त जैन साहित्यमें जैन महाराष्ट्री और संस्कृत भाषाका प्रयोग हुआ है। ऐसे ग्रंथोंमें विमलसूरिकृत पउमचरिय (पद्मचरित) महत्त्वपूर्ण रचना है। संस्कृत साहित्यमें जो गौरव वाल्मीकि रामायणको प्राप्त है वही जैन साहित्यमें पद्मचरितको मिला है। इस ग्रंथका रचना-काल अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। संभवतः पहली और तीसरी शताब्दीके बीचमें कभी इसकी रचना हुई हो।

पद्मचरितमें ११८ उद्देस या पर्व है। इसमें पद्म (राम)की कथाका वर्णन किया गया है, किन्तु यह वाल्मीकिके रामायणसे बहुत कम मिलती-जुलती है। सारी राम-कथा तोड़-मरोड़कर जैन सिद्धान्तोंके अनुकूल बना दी गई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि विमलसूरिके पद्म वाल्मीकिके रामके सामने तुच्छ और अति साधारण प्रतीत होते हें।

संस्कृतके नाटकोंमें कुछ पात्रोंके कथोपकथन शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृतमें होते आये हैं। यही दोनों भाषायें प्राकृतकी काव्य भाषायें है। इनमें साहित्य प्रायः नही मिलता। प्राकृत काव्यमें गद्य शौरसेनीमें और पद्य महाराष्ट्रीमें लिखे जाते थे। महाराष्ट्री प्राकृतका सर्वोत्तम ग्रंथ प्रवरसेनका लिखा हुआ 'सेतुबंध' नामक महाकाव्य है। इस महाकाव्यकी रचना पाँचवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुई।

सेतुबंधमें रामकी कथा सुग्रीवके अभिषेकसे लेकर रावणवधके पश्चात् रामके अयोध्या लौटने तक १५ सर्गोमें कही गई है। इस कथा-वस्तुमें सबसे अधिक महत्त्व समुद्र पार करनेके लिये सेतु-बंधकी घटनाको दिया गया है। प्रवरसेनने इस काव्यमें पात्रोंकी अलौकिक शक्तिकी कल्पना वाल्मीकिसे भी बढ़कर की है। प्रवरसेनके वानर पर्वतोंको हिलाकर उखाड़ लेते है और उनको वायुमें उड़ाते हुए समुद्र-तट तक लाते हैं। यह महाकाव्य अद्भुत कार्यपरम्पराके वर्णनोंसे भरा हुआ है।

प्रवरसेनकी काव्य-शैलीमें कालिदासकी भाँति ही ऊँची कल्पनायें मिलती हैं। कविने शरत्की दिशाओंका वर्णन करते हुए उनको आकाशरूपी वृक्षकी शाखायें मानकर कहा है—

धुग्रमेहमहुग्रराग्रो घणसमग्राग्रड्ढिग्रोणग्रविमुक्काग्रो ।
णहपाग्रवसाहाग्रो णिग्रग्रट्ठाणं व पडिगग्राग्रो दिसाग्रो ।।

(वृक्षरूपी ग्राकाशकी शाखाग्रोंके समान ये दिशायें ग्रब ग्रपने स्थानपर चली गई। शाखारूपी दिशायें वर्षा ऋतुके द्वारा ग्रवनत करके ग्रब छोड़ दी गई हैं, ग्रतएव मधुकररूपी मेघ उड़ चले हैं।)

प्रवरसेनकी शैली ग्रलंकारमयी है। भाषा प्राय: सर्वत्र सरल है, लम्बे-लम्बे समासोंका ग्रभाव है।

प्राकृतके गीत-काव्यमें सर्वप्रथम रचना हाल कविकी गाथा-सत्तसई (गाथा-सप्तशती) मिलती है। इसका रचना-काल संभवत: प्रथम शताब्दी ईसवी है, यद्यपि कुछ विद्वानोंका मत है कि यह २००से ४५० ई०के बीच कभी लिखी गई होगी। सप्तशती प्रधानत: शृंगाररसका काव्य है। इसमें ७०० गाथाग्रोंका संग्रह है जो एक दूसरेसे स्वतंत्र हैं। इसमें प्राय: तत्कालीन ग्रामीण जनताके सरस जीवनकी झाँकी मिलती है। 'कोई नायिका कामना करती है कि जो चन्द्रमाकी किरण प्रियतमका स्पर्श करती है वही मेरा भी स्पर्श करे ग्रथवा कोई नायिका चाहती है कि रात ही बनी रहे क्योंकि प्रभात होते ही उसका प्रियतम विदेश चला जायेगा।' इस प्रकारके मनोरम ग्रौर स्वाभाविक मनोवृत्तियोंका चित्रण गाथाग्रोंमें मिलता है, साथ ही ऋतुग्रों तथा ग्रन्य प्राकृतिक सौन्दर्यकी विभूतियोंके चित्रणसे काव्यकी सरसता ग्रौर बढ़ जाती है।

इस सतसईका प्रभाव ग्रागेकी इस कोटिकी रचनाग्रोंपर प्रत्यक्ष दिखलाई पड़ता है। संस्कृतमें कई सप्तशतियाँ इसके ग्राधारपर बनीं। हिन्दीकी बिहारी सतसईपर भी इसका प्रभाव पड़ा है।

पंचदश अध्याय

अन्य देशोंसे संबंध

भारतवर्षके अन्य देशोंसे संबंध स्थापित करनेमें प्राकृतिक रुकावटें प्रायः असुविधाजनक सिद्ध हुई है परन्तु बाधाओंके होते हुए भी भारतका अन्य देशोंके साथ संबंध बहुत प्राचीन कालसे रहा है। विशाल समुद्रों और हिमालयकी ऊँची शृंखलाओंको पार कर अन्य देशोंके लोग यहां आते और यहांके लोग अन्य देशोंमें जाते थे। एशियाके विभिन्न देशोंसे आकर लोग यहां बसते गये और यहांसे जाकर दूर देशोंमें राजाओंने राज्य स्थापित किये, व्यापारियोंने व्यापारके केन्द्र खोले तथा व्यापारिक नगर बसाये और धर्म और संस्कृतिके उन्नायकोंने भारतीय ज्ञान और कलाका प्रचार किया। बहुत प्राचीन कालसे एशियाके विभिन्न देशोंके राजाओंका पारस्परिक संबंध रहा है। वे एक दूसरेके यहां राजदूत भेजते थे और विशेष अवसरोंपर उपहार भेंट करते थे। भारतवर्षका अन्य देशोंसे संबंध उनके लिये सदा लाभकारी सिद्ध हुआ। जहां-कहीं भी भारतवासी गये, उन्होंने वहांके लोगोंको आधिभौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रमें प्रगतिशील बनानेका सतत प्रयत्न किया। भारतके संपर्कमें आनेपर किसीको घाटा नहीं उठाना पड़ा। प्रायः भारतवर्षने उदारतासे अपनी संस्कृति और सभ्यताका प्रकाश अन्य देशोंमें फैलाया जो आज भी लंका, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, कोचीन-चीन, हिन्द-चीन, मलाया, इन्डोनेशिया, चीन, जापान और कोरियामें चमक रहा है।

सिन्धु-सभ्यताका संबंध

सिन्धु-सभ्यताका संबंध संभवतः मिसर और एशियाके पश्चिमी देशोंसे था। आजसे लगभग ५००० वर्ष पहले इन देशोंकी अनेक वस्तुओंमें समानता मिलती है। शृंगार, केश-रचना और बाल काटनेके ढंग सुमेर और भारतमें मिलते-जुलते हैं। हड़प्पाकी कुछ कटारें भी सुमेरकी कटारोंके समान हैं। मोहेंजोदड़ो और मेसोपोटामियामें भोजन पकानेके चूल्हों में समानता दिखाई पड़ती है। सिन्ध-प्रान्त और मेसोपोटामियाकी वास्तुकलायें बहुत कुछ मिलती-

जुलती हैं। इन देशोंमें मेहराबों और मिट्टी या पत्थरकी बनी हुई खिड़कियोंकी बनावट एक समान रही है। शौचगृह और पानी बहानेकी नालियोंमें भी समानता प्रतीत होती है। इनके अतिरिक्त अलंकारोंके चित्रणकी कला भी दोनों देशोंमें मिलती-जुलती है। ऐसी ही समानताओंके आधारपर यह निश्चित-सा प्रतीत होता है कि सिन्धु-सभ्यताका संबंध बलूचिस्तान, फारस, अरब, मिस्र इत्यादि देशोंकी सभ्यताओंसे रहा है और इन देशोंके लोग एक दूसरेके देशोंमें आने-जाते थे। यह संबंध उस समयसे लगातार चलता आ रहा है।

ईरान

भारतवर्षका ईरानसे गहरा संबंध रहा है। ईरानी भी प्रधानतः आर्य हैं और उनकी प्राचीन भाषा पहल्वी जो 'अवेस्ता'में पाई जाती है, वैदिक संस्कृतसे बहुत कुछ मिलती-जुलती है। आज भी फारसी भाषामें अधिकांश ऐसे शब्द पाये जाते हैं जिनका मौलिक रूप संस्कृतके ही समान है। फारसके राजा प्राचीन कालसे ही भारतवर्षसे संपर्क स्थापित करनेकी चेष्टा करते आये हैं। फारसके राजाओंके यहां भारतीय सेनायें भी रखी जाती थीं। हेरोडोटसने ईरानकी एक ऐसी सेनाका उल्लेख किया है, जिसमें भारतके पैदल, घुड़सवार और रथी सैनिक थे। फारसकी खाड़ीसे होकर भारतीय व्यापारी बेबीलौन जाते थे। सिकन्दरके आक्रमणके पश्चात् जब ईरानपर ग्रीसवालोंका साम्राज्य स्थापित हो गया, उस समय ईरानमें ही भारतवासियोंको ग्रीसवालोंके निकट संपर्कमें आनेका अवसर मिला। प्राचीन कालमें काबुल, कंधार और शकस्थान भारतीय राज्यमें प्रायः सम्मिलित थे। इन मध्यवर्ती देशोंमें भारत और ईरानके लोग मिलते थे। इन देशोंमें जो भारतीय सभ्यता फैली हुई थी वह मुसलमानोके विजयके पश्चात् मिट गई। दक्षिण भारतके चालुक्य वंश और फारसके सस्सनिद राजा एक दूसरेके यहां राजदूत भेजते थे। संभवतः फारसके राजा खुसरू परविज़का दूत पुलकेसी द्वितीयके पास आया था। इस घटनाका उल्लेख अजन्ताकी प्रथम गुफाके चित्रमें मिलता है।

सातवीं शताब्दीमें जब मुसलमानोंका आक्रमण ईरानपर हुआ, उस समय उस देशके कुछ निवासी भागकर भारतमें आये और पश्चिमी समुद्रतटपर बस गये। यही लोग आजकल 'पारसी' नामसे विख्यात हैं। ये अपने पुराने धर्मको मानते हैं।

ग्रीस

प्राचीन ग्रीस और भारतकी सभ्यतायें बहुत कुछ मिलती-जुलती है। ये दोनों देश एक दूसरेके बहुत निकट संपर्कमें आये। ग्रीसके विद्वानोंने भारतीय विद्वानोंसे दर्शन, गणित, राजनीति और धर्मके क्षेत्रमें बहुत कुछ सीखा। भारतके पंडितोंने भी ज्योतिषके कई सिद्धान्तोंको ग्रीसवालोंसे सीखा और अपनाया। भारतवर्ष और ग्रीसके कथा-साहित्यकी अनेक कहानियाँ मिलती-जुलती हैं। उनका मूल स्थान एक ही रहा है। भारतवर्षसे बहुतसी कहानियाँ मिस्र और योरपीय देशोंमें जा पहुँची। प्राचीन कालमें मिस्र, ग्रीस या भारतमें यदि कोई अच्छी कहानी बन जाती थी तो उसका प्रचार सभी देशोंमें धीरे-धीरे हो जाता था। पंचतंत्रकी कहानियोंका प्रचार इसी भाँति न केवल एशियाके प्रायः सभी देशोंमें हुआ बल्कि वे मिस्र और योरपके भी लगभग सभी देशोंमें जा पहुँचीं। पंचतंत्रका पह्लवी भाषामें ५३३ ई०में बुरजोई नामक हकीमने अनुवाद किया। ५७० ई०में सीरियाई भाषामें बूदने अनुवाद किया। लगभग ७५० ई०में इसका अनुवाद अरबी भाषामें अब्दुल्लाह इब्नुल मोकफ्फने किया। इस अनुवादका योरपके देशोंमें बहुत आदर हुआ और शीघ्र ही इसके विभिन्न भाषाओंमें अनुवाद हो गये।

ग्रीससे भारतका राजनीतिक संबंध भी रहा है। फारसके राजा दाराका राज्य ग्रीससे लेकर भारतके पश्चिमोत्तर प्रदेश तक फैला हुआ था। उस समय भारतवासियोंका ग्रीस देशके लोगोंके साथ मेल-जोल बढ़ा। भारतवासियों की सेनायें फारसके राजाओंके अधीन ग्रीसमें भी जा पहुँचीं। संभवतः थर्मापाइलके युद्धमें इन सेनाओंने भी मोर्चा लिया था। ईसाके ३२७ वर्ष पूर्व ग्रीक राजा सिकन्दरने भारतवर्षको जीतनेका उपक्रम किया। लगभग ढाई वर्षो तक वह भारतवर्षमें रहकर विजय करता रहा। उस समय मगधमें नन्द वंशका राज्य था और महापद्मनन्द भारतका सबसे अधिक शक्तिशाली राजा था। सिकन्दरने पुरु नामक एक छोटेसे पंजाबके राजाको जीतनेके पश्चात् संभवतः नन्दवंशकी ख्याति सुनकर आगे बढ़नेका विचार छोड़ दिया। सिकन्दरकी मृत्युके पश्चात् उसका प्रधान सेनापति सेल्यूकस उसके एशियाके साम्राज्यका अधिपति हुआ। सेल्यूकसने सीरियासे पंजाब तक अपने राज्यकी सीमा बनाई। उसने राज्य-विस्तारके लिये भारतपर आक्रमण किया। मगधके राजा चन्द्रगुप्त

मौर्यने उसको बुरी तरहसे पराजित किया। सेल्यूकसने काबुल, कन्धार और हिरातके प्रान्तोंको चन्द्रगुप्तको समर्पित करके छुटकारा पाया। विजयी चन्द्रगुप्तको सेल्यूकसने अपनी कन्या विवाहमें दी और चन्द्रगुप्तने भी अपने ससुरको ५०० हाथियोंका उपहार दिया। सेल्यूकसके राजदूत मगधकी राजसभामें रहा करते थे। उसके भेजे हुए चन्द्रगुप्तके समयमें मेगस्थनीज और विन्दुसारके शासन कालमें डीमाकास नामके राजदूत भारतमें रहे। विन्दुसार और सेल्यूकसके पुत्र अन्तिओकसमें पत्रव्यवहार होता था।

रोम-साम्राज्य

ग्रीसकी राजकीय सत्ताके समाप्त होनेपर रोमका साम्राज्य स्थापित हुआ। रोमके साथ भारतका व्यापारिक संबंध चलता था। भारतवर्षसे भोग-विलासकी अत्यधिक सामग्रीकी खपत इस साम्राज्यमें होती थी। प्लीनीने लिखा है कि भारतवर्षसे प्रति वर्ष लगभग ५ करोड़ सेस्टर[1]का माल इस साम्राज्यमें बिकता है। प्लीनीके कथनका समर्थन भारतमें पाये गये उन सोनेके सिक्कोंसे होता है जो रोमके साम्राज्यमें चलते थे। नीरोके शासन-कालमें यह व्यापारिक संबंध सबसे अधिक बढ़ा। सम्राट आगस्टसके सिंहासनपर आरूढ होनेके समय भारतवर्षके कई राजाओंने उसके पास बधाइयाँ भेजी। ईसाकी पहली शताब्दीमें योरपसे भारत आनेकी सामुद्रिक यात्रा अधिक सुविधाजनक हो गई। हिप्पालस नामक व्यक्तिने सबसे पहले मानसून हवाओंकी सहायतासे ऐसी यात्रा अरब सागरमें की। यह यात्रा लालसागरमें ओकेलिस-बन्दरगाहसे प्रारंभ होती थी। ओकेलिस तक यात्री एक मासमें आ जाते थे। वहांसे अनुकूल वायु पाकर यात्री केवल चालीस दिनमें बम्बई प्रान्तमें मलाबारके तटपर पहुँच जाते थे। एन्निअस प्लोकैमसकी नाव तो मानसूनके चक्करमें पड़कर सारा अरब सागर पार करके लंकाके तटपर पन्द्रह दिनमें ही आ लगी थी। इसके पहले ग्रीक यात्रियोंको यह यात्रा पूरी करनेमें लगभग ३० महीने लगते थे। सिन्ध नदीके मुहानेसे लेकर दक्षिण भारतके पश्चिमी और पूर्वी तट तक रोमकी नावें व्यापार करती हुई चलती थी। मिस्रमें सिकन्दरियाके बाजारमें भारतवर्षकी वस्तुओंके कई भांडार थे। यह व्यापारिक संबंध लगभग चौथी शताब्दी ईसवी तक उन्नतिशील रहा, इसके पश्चात् धीरे-धीरे इसकी अवनति होने लगी।

---

[1] रोमका चाँदीका सिक्का जो मूल्यमें दीनारका चौथाई होता है।

अफ्रीका

रोम-साम्राज्य अफ्रीकाके उत्तरी भागमें भी फैला था। सिकन्दरिया, जो आजकल मिस्र राज्यमें है, पहले रोम-साम्राज्यका एक प्रधान नगर रहा है। अशोकने मिस्रके राजा टालेमी फिलाडेल्फस (२८५-२४७ ई० पू०) और उत्तरी अफ्रीकामें साइरिन प्रान्तके राजा मग (लगभग २८५-२५८ ई० पू०)से मित्रता-का संबंध स्थापित किया।

चीन

चीन और भारतको हिमालयकी ऊँची चोटियां अलग करती हैं, किन्तु ये दोनों देश हजारों वर्षोंसे एक दूसरेके निकट संपर्कमें रहे हैं। बहुत प्राचीन कालमें चीनसे मंगोल जातिके लोग भारतमें आये और वे इस देशमें घुल-मिल गये। नेपाल, आसाम और बंगालमें कहीं-कहीं अब भी मंगोल जातियोंके सम्मिश्रणका प्रत्यक्ष उदाहरण मिलता है।

भारतवासियोंको प्राय: धर्म-प्रचार करनेके लिये चीन देशमें जानेका अवसर मिला। चीनसे भी धर्म-ज्ञानकी प्यास लेकर अनेकों यात्री भारतवर्षमें आये। चीनसे भारत आनेके दो मार्ग थे—एक उत्तर पश्चिमके दर्रोंसे होकर और दूसरा पूर्वकी ओरसे। उत्तर पश्चिमसे आनेवाले यात्री अनेकों कठिनाइयां झेलकर गोबीके मरुस्थलसे होते हुए मध्य-एशियाके पहाड़ों और हिमालयको पार करते हुए भारतमें पहुँचते थे। पूर्वसे आनेके लिये प्राय: सामुद्रिक यात्रा करनी पड़ती थी, जो हिन्दचीन, जावा, सुमात्रा, मलाया और निकोबार होते हुए पूरी की जाती थी।

६७ ई०में महाराज मिंगतीके शासनकालमें भारतवर्षसे कश्यप मातंग चीनमें गये और वहीं लो नदीके तटपर लोयांग प्रान्तमें बस गये। इसके पश्चात् बुद्धभद्र, जिनभद्र, कुमारजीव, परमार्थ, जिनगुप्त और बोधिधर्म, जो भारतके प्रसिद्ध विद्वान् और दार्शनिक थे, बहुतसे शिष्योंको साथ लेकर चीन पहुँचे। ईसाकी छठी शताब्दीमें ३०००से अधिक बौद्धभिक्षु और १०,०००से अधिक भारतीय कुटुम्ब केवल लोयांग प्रान्तमें जाकर बस गये थे। ये भारतीय विद्वान् अपने साथ बहुतसे ग्रंथ लेते गये थे, जिनका उन्होंने चीनी भाषामें अनुवाद किया। उन्होंने चीनी भाषामें काव्य और दर्शनके कई मौलिक ग्रंथोंकी रचना की। अकेले कुमारजीवने, जो ४०१ ई०में चीन गया था, ४७ पुस्तकें लिखीं जो अबतक

मिलती हैं। जिनगुप्तने, जो छठी शताब्दीमें चीन पहुँचा था, ३७ संस्कृत ग्रंथोंका चीनीमें अनुवाद किया।

चीनसे फाह्यान, सुनयुन, ह्वेनसांग और इत्सिंग भारतवर्षमें आये और अपनी यात्राका विवरण लिखा। फाह्यान चौथी शताब्दीमें आया। वह चीनमें कुमारजीवका शिष्य रह चुका था। कुमारजीवने उसे भारतमें आनेके समय आदेश दिया कि तुम भारतमें जाकर केवल धर्मका ही अध्ययन न करते रहना। तुम्हें भारतीय सभ्यता और संस्कृतिका सर्वाङ्गीण अध्ययन करके चीनको भारतका पूरा परिचय देना है। फाह्यानने पाटलिपुत्रके विश्वविद्यालयमें अध्ययन किया। उसने गुप्त साम्राज्यमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्यके शासन-कालमें भ्रमण किया और विविध विषयोंपर भारतके संबंधमें लिखा। ह्वेनसांग सातवीं शताब्दीमें हर्षवर्धनके शासन-कालमें आया। उसने कई वर्षो तक नालन्दाके प्रसिद्ध विश्वविद्यालयमें अध्ययन किया और धर्मकी सबसे ऊँची उपाधि पाई। अन्तमें वह इस विश्वविद्यालयका उपाध्यक्ष बनाया गया। उसने भारतवर्षमें चारों ओर भ्रमण किया और तत्कालीन परिस्थितियोंका विशद विवरण लिखा। चीन लौटते समय वह अपने साथ बहुतसे ग्रंथ ले गया और उनका चीनी भाषामें अनुवाद किया।

ह्वेनसांगने भारत और चीनको एक दूसरेके बहुत निकट ला दिया। उसीके प्रभावसे हर्षवर्धन और चीनके महाराज तांगने एक दूसरेके यहां राजदूत भेजे। ह्वेनसांगने भारतमें बहुतसे मित्र बना लिये थे और उनसे पत्र-व्यवहार करता रहा। स्थविर प्रज्ञदेवने ह्वेनसांगके लिये अपने पत्रके साथ भेंट देनेके लिये एक जोड़ा वस्त्र भेजा था। ह्वेनसांगने उत्तर देते हुए आचार्य शीलभद्रकी मृत्युपर शोक प्रकट किया और अपने अनुवाद किये हुए ग्रंथोंकी सूचना भेजी। उसने प्रज्ञदेवसे कुछ शास्त्रीय ग्रंथोंकी याचना की और उनके लिये उपहार भेजे।

इत्सिग ६७१ ई०में चीनसे चलकर दो वर्षमें भारत पहुँचा। उसने भी नालन्दा विश्वविद्यालयमें रहकर शिक्षा पाई और बौद्ध धर्मका विशेष अध्ययन किया। इत्सिगने संस्कृतकी प्रशंसा की है। उस समय चीनमें संस्कृतका अध्ययन बढता जा रहा था। चीनकी भाषामें संस्कृतकी ध्वनियोंको लानेका प्रयत्न भी किया गया। चीनी भिक्षु शूवेनने चीनी भाषामें भारतीय वर्णमालाका विकास करनेकी चेष्टा की।

ग्यारहवीं शताब्दीके पश्चात् जब भारतमें राजनीतिक उथल-पुथल मची हुई थी, बहुतसे विद्वान् भारतसे चीन—विशेषतः तिब्बत चले गये। वे अपने

साथ अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ भी लेते गये, जिनका वहां अनुवाद हुआ। अब भी भारतके बहुतसे ग्रंथ, जो इस देशमें नहीं मिलते, मौलिक रूपमें अथवा अनुवादमें चीनमें पाये जाते हैं। ये ग्रंथ विविध विषय—दर्शन, धर्म, ज्योतिष, गणित और आयुर्वेदके हैं। अकेले सिगपाओके पुस्तकालयमें ८,००० ऐसे ग्रंथ रखे हुए हैं। भारत और चीनके विद्वान् समितियाँ बनाकर भी काम करते थे। ऐसी ही एक समितिने नवीं या दसवीं शताब्दीमें संस्कृत, तिब्बती और चीनी भाषाका कोश बनाया जिसका नाम महाव्युत्पत्ति है।

मुसलमानोंके शासन कालमें भी चीनके साथ राजनीतिक संबंध बना रहा। मुहम्मद बिन तुगलकने इब्नबतूताको अपना राजदूत बनाकर भेजा। १४१४ ई०में सैयदुद्दीनने चीनके मिंगवंशी राजाके लिये बहुमूल्य उपहार भेजे जिनमें एक जुर्राफा भी था। यह पशु चीनमें बहुत शुभ माना जाता है और यही समझकर यह बहुमूल्य उपहार भेजा गया होगा। इसको पाकर चीनके बादशाह और जनताने बहुत प्रसन्नता प्रकट की।

बृहत्तर भारत

एशियाके दक्षिण पूर्वी द्वीप-समूहों और प्रायद्वीपोंमें भारतीय सभ्यताका प्रसार आजसे लगभग २००० वर्ष पहले प्रारंभ हुआ। इन द्वीपोंमें भारतीय विद्वान्, विजेता और व्यापारी जाकर बसते गये और वहांके निवासियोंमे हिल-मिलकर उनको सभ्यताके रंगमें रँगा। इस प्रकार लंका, बर्मा, मलाया, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, स्याम, कम्बोडिया और इन्डोचाइनामें भारतीय सभ्यता फैली। कुछ लोग तो फारमूसा, फिलीपाइन द्वीपसमूह और सिलीबीस तक पहुँचे। मेडेगास्कर द्वीपसे भारतवासियोंका संबंध हुआ था। आज भी वहांकी भाषामें संस्कृतकी स्पष्ट छाप दिखाई देती है। पहली शताब्दी ईसवीसे लेकर नवीं शताब्दी तक कई बार विशाल झुंडोंमें भारतके लोग इन द्वीपोंमें गये। आज भी इन द्वीपोंमें कई नगरोंके नाम भारतके नगरोंके नामके आधारपर अयोध्या, हस्तिनापुर, तक्षशिला और गान्धार इत्यादि मिलते हैं। फिलीपाइन द्वीपके एक नये लेजिस्लेटिव भवनके सामने उस देशको संस्कृति प्रदान करनेवाले चार व्यक्तियोंकी उत्कीर्ण मूर्तियाँ मिलती हैं जिनमें से एक मूर्ति मनुकी है।

एशियाके दक्षिणपूर्वी भाग चीन और भारतके बीचमें पड़ते हैं, वहांपर इन देशोंका प्रभाव पड़ा है। बर्मा, स्याम और हिन्दचीनपर चीनका और शेष द्वीपों-पर तथा मलाया प्रायद्वीपपर भारतकी अधिक छाप पड़ी। इन भागोंमें भारतीय

कलाओंकी पहुँच धर्म और दर्शनके साथ-साथ हुई और भारतीय कला और दर्शन-का स्वतंत्र विकास स्थानीय परिस्थितियोंके अनुकूल हुआ। यहांपर वैदिक और बौद्ध धर्म मिल-जुलकर एक होते गये।

बृहत्तर भारतकी सभ्यता ईसाकी पहली और दूसरी शताब्दीसे लेकर पन्द्रहवीं शताब्दी तक विकसित होती रही। आठवीं शताब्दीके आसपास राजनीतिक प्रगति सर्वोच्च शिखरपर पहुँच चुकी थी। इसी समय शैलेन्द्र या श्रीविजयका साम्राज्य स्थापित हुआ था जो सारे मलयेशियामें फैला हुआ था। इसकी नींव मलाया प्रायद्वीपमें पड़ी। इस साम्राज्यमें एक समय मलाया, लंका, सुमात्रा, जावाके कुछ भाग, बोर्नियो, सिलीबीम, फीलिपाइन्स और फारमोसाके कुछ भाग सम्मिलित थे। इसका आधिपत्य संभवतः कम्बोडिया और चम्पा (अनाम)-पर भी था। शैलेन्द्र राजवंश संभवतः उड़ीसासे बृहत्तर भारतमें गया था। ग्यारहवीं शताब्दीमें दक्षिण भारतके चोलोंसे परास्त होनेके पश्चात् इस राजवंश-का पतन हो गया। चोलोंने इन्डोनेशियाको पचास वर्ष तक अपने आधिपत्यमें रखा। चोलोंके लौट आनेके पश्चात् शैलेन्द्रोंने पुनः शक्ति प्राप्त की और ३०० वर्षों तक और शासन किया। चौदहवी शताब्दीके अन्तिम भागमें जावा साम्राज्यकी उन्नति हुई और इसने शैलेन्द्रोंके श्रीविजय साम्राज्यको जीत लिया।

बृहत्तर भारतमें इसी बीचमें मलय, कम्बोडिया और जावा देशोंमें शक्ति-शाली राज्योंकी स्थापना हुई। चंपामें तीसरी शताब्दीमें पांडुरंगम और पाँचवी शताब्दीमें कम्बोज प्रसिद्ध नगर थे। नवीं शताब्दीमें जयवर्माने छोटी-छोटी रियासतोंको मिलाकर कम्बोडिया साम्राज्य स्थापित किया जिसकी राजधानी अंगकोरमें थी। यह साम्राज्य ४०० वर्षों तक जीवित रहा। इसके प्रसिद्ध सम्राट् जयवर्मा, यशोवर्मा, इन्द्रवर्मा और सूर्यवर्मा हुए। अंगकोर एशियाका सर्वप्रसिद्ध नगर हो गया। इस नगरमें कई लाख लोग रहते थे।

बृहत्तर भारतमें भारतीय सभ्यताने बहुत दृढ़तासे जड़ पकड़ी। चंपा, अंगकोर, श्रीविजय इत्यादि स्थानोंमें संस्कृत शिक्षाके कई बड़े केन्द्र थे, जहांपर अन्य देशोंके विद्यार्थी भी आकर शिक्षा ग्रहण करते थे। इन देशोंका पूर्ण रूपसे भारतीयकरण हुआ। राजकीय संस्कारोंका सम्पादन भारतीय विधिसे संस्कृत भाषामें किया जाता था। आज भी राजकर्मचारियोंकी उपाधियाँ संस्कृत भाषाके शब्दोंमें हैं। मलायाके मुसलमानोंने भी इन उपाधियोंको अपनाया है। भार-तीय वीरों और देवी-देवताओंके चरित इन देशोंमें संस्कृत साहित्यके अनुरूप

है। फिलीपाइन द्वीपमें लेखन-कलाका प्रचार भारतसे ही हुआ है। कम्बोडियामें लेखन-कला दक्षिण भारतसे गई है। यहांकी भाषामें संस्कृतके शब्द तद्भव रूपमें पाये जाते हैं। प्राय: इन सभी देशोंके न्यायकी व्यवस्था भारतकी ही भाँति मनुस्मृतिके आधारपर बनी है। बालीद्वीपमें हिन्दू-धर्म और सभ्यता अब भी अपने मौलिक रूपमें अनुप्राणित है।

बाली द्वीपकी आदि संस्कृति वही थी जो सारे इन्डोनेशियाकी थी। भारतीय हिन्दू-धर्मका उस संस्कृतिमे सम्मिश्रण हुआ। इस प्रकार पुराण, रामायण और महाभारतकी कथायें, भारतीय पूजापद्धति, श्राद्ध या अन्य संस्कारकी विधियाँ प्रचलित रही हैं। उन रीतियोंका विकास स्थानीय परिस्थितियोंके अनुकूल हुआ है। बालीकी सभ्यताका बाहरी दिखावा मात्र ही भारतीय नही है वरन् उन्होंने भारतीय ऋषियोंके जीवनके मौलिक तत्त्वको भी अपनाया है। रवीन्द्र-नाथ ठाकुरने बाली द्वीपकी यात्रा करके उस द्वीपके सौन्दर्यसे प्रभावित होकर एक काव्यकी रचना की है जिसमें उन्होंने भारतको एक प्रमी राजकुमार माना है। कविने राजकुमार रूपी भारतका राजकुमारी रूपी बालीसे मिलनका दृश्य चित्रित किया है। इस काव्यमें दोनों देशोंकी आध्यात्मिक एकताका निरूपण किया गया है।

जावा द्वीपमें साहित्यका विकास भारतीय परम्पराके अनुसार हुआ है। रामायण और महाभारत वहांके सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध हुए है। इन ग्रंथोंमें संस्कृतके मौलिक रामायण और महाभारतसे संस्कृतके उद्धरण मिलते हैं जो एक चरणसे लेकर पूरे श्लोक रूपमें हैं। प्राचीन साहित्यमें प्राय: संस्कृत ग्रंथोंके शब्दश: अनुवाद भी मिलते हैं। रामायण और महाभारतके अतरिक्त जावाके कवियोंकी अपनी भी रचनायें है जो महाकाव्य (ककविन् और किडुङ्ग) तथा कथा (पंजी और लुलुङ्गिद) शैलीमें लिखे गये हैं। ककविनोंमें अर्जुन-विवाह, भारत-युद्ध, स्मर-दहन, रामायण, भीम-काव्य, ब्रह्माण्ड-पुराण, सुतसोम, सुमन-सान्तक, कृष्णायन, रामविजय, रत्नविजय इत्यादि हैं। इन महाकाव्योंकी कथा-वस्तु पौराणिक है। पंजी और लुलुङ्गिद गद्य काव्य है। इनमें पंचतंत्रकी शैलीपर नीतिकी कथायें मिलती हैं। जावाका साहित्य उपेक्षित पड़ा है। भारत-वासियोंके लिये इन ग्रंथोंका महत्त्व बहुत अधिक है क्योंकि उनमें भारतीय ज्ञान-सागरके कुछ ऐसे रत्न अवश्य मिलेंगे जो इस देशमें किसी कारणवश अलभ्य हैं।

उपसंहार

भारतकी संस्कृतिकी जो रूप-रेखा हम पिछले अध्यायोंमें देख चुके हैं, उससे सिद्ध होता है कि वह सतत विकासमयी रही है। संस्कृतिकी प्रगतिके दृढ़ आधार अनुभव और ज्ञान रहे हैं। अनुभव और ज्ञानके क्षेत्र असीम हैं। ऐसी परिस्थितिमें संस्कृतिके विकासका अवरोध ही अस्वाभाविक है।

भारतीय दृष्टिकोण संस्कृतिके क्षेत्रमें कभी संकुचित नहीं रहा। इस देशने कभी संस्कृतिका एक गढ़ा नहीं बनाया अपितु संस्कृतिकी विशालधाराकी अनेक शाखायें और प्रशाखायें फूटीं और वे भारतके कोने-कोनेमें फैल गईं। उन सभी धाराओंमें प्रवाह रहा, लहर रही और उथल-पुथल रही। संस्कृतिके रूपमें जो निधि भारतने पाई, उसका वितरण उदारतापूर्वक किया। इस प्रकार भारतीय संस्कृतिका प्रकाश न केवल सारे एशियामें ही, अपितु योरप और अफ्रीकामें भी पहुँचा।

भारतमें आध्यात्मिक चिन्तनको आधिभौतिक सुखसे अधिक महत्त्व दिया गया है। आध्यात्मिक चिन्तनका संबंध केवल व्यक्तिगत शान्तिसे नहीं रहा वर उसका प्रभाव सारे समाजके आचार-व्यवहारपर पड़ा। आध्यात्मिक आधार-पर ही सदाचारकी प्रतिष्ठा हो सकी थी और मानवकी उदार भावना जागरित हुई थी। भारतीय चिन्तन काव्य, कला, शिल्प और धर्म आदिकी विभिन्न दिशाओंमें प्रस्फुटित हुआ। वह आधिभौतिक उन्नतिके मार्गमें कभी बाधक नहीं हुआ। अध्यात्मवाद मनुष्यको अकर्मण्य नहीं बनाता; अध्यात्मवादके अनुसार सदैव कर्म करते रहना ही जीवनका चरम लक्ष्य है। ऐसी परिस्थितिमें भारतकी प्राचीन राष्ट्र निर्माणकी योजना कर्मनिष्ठ महापुरुषोंके हाथ बन सकी थी और यह देश राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रमें उन्नति कर सका था। प्राचीन भारत संसारके अन्य सभी देशोंसे अधिक विभूति-सम्पन्न था।

प्राचीन संस्कृति अब केवल स्मरणकी वस्तु रह गई है। निस्सन्देह हमारा अतीत गौरवशाली था। हमें उसपर गर्व है। किन्तु इतनेसे ही क्यों सन्तोष किया जाय ? अतीतकी स्मृतिसे हमें यह सीख मिलती है कि हम भारतको भविष्यमें कमसे कम उतना उज्ज्वल तो बना ही सकते हैं जितना वह वस्तुतः

पूर्वजोंके प्रयत्नसे रह चुका है। प्रगतिके मार्गमें प्राचीन संस्कृति उत्साह प्रदान करती है और बताती है कि हम कहांसे चले थे और किस ओर जा रहे थे।

असीम विश्वमें निरवधि कालमें उन्नतिका पथ अनन्त है।

सहायक ग्रंथ

1. Radhakumud Mookerji—Hindu Civilisation
2. P. K. Acharya—Elements of Hindu Culture and Sanskrit Civilisation
3. Jawaharlal Nehru—The Discovery of India
4. R. C. Dutt—History of Civilisation in Ancient India
5. Beni Prasad—The State in Ancient India
6. R. N. Saletore—Life in the Gupta Age
7. S. Radhakrishnan—Indian Philasophy
8. A. Vincent Smith—The Early History of India
9. H. C. Ray Chaudhary—Political History of Ancient India
10. J. W. M'Crindle—Ancient India
11. H. G. Rawlinson—Intercourse Between India and the Western World
12. T. W. Rhys Davids—The Story of the Nations
13. P. V. Kane—History of Dharmaśastra
14. A. B. Keith—A History of Sanskrit Literature
15. M. Winternitz—A History of Indian Literature

१६. सतीशचन्द्र काला—मोहेंजोदड़ो तथा सिन्धु-सभ्यता

१७. हजारीप्रसाद द्विवेदी—प्राचीन भारतका कला-विलास

१८. बलदेव उपाध्याय—भारतीय दर्शन

१९. लोकमान्य तिलक—गीता-रहस्य

२०. रायकृष्णदास—भारतीय चित्रकला

२१. „ भारतीय मूर्ति-कला